ध्वनिपूर्व अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्त और ध्वनि
डॉ. विभारानी दुबे

पुस्तक परिचय

समस्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में ध्वनि को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। किन्तु ध्वनि सिद्धान्त का आविर्भाव एक आकस्मिक घटना नहीं है अपितु एक क्रमिक विकास का परिणाम है; ध्वनि सम्प्रदाय के आविर्भाव में ध्वनिपूर्व अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्तों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार सम्प्रदाय, रीति एवं गुण सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और रस सम्प्रदाय का विस्तृत निरूपण और समीक्षा प्रस्तुत है। ध्वनिपूर्व सम्प्रदायों की समीक्षा, ध्वनिपूर्व सम्प्रदायों की देन, ध्वनि तथा ध्वन्युत्तर सम्प्रदायों में ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की परम्परा का इसमें सम्यक् प्रतिपादन हुआ है।

Rs - 350.00

ध्वनिपूर्व अलंकारशास्त्रीय सिद्धान्त और ध्वनि
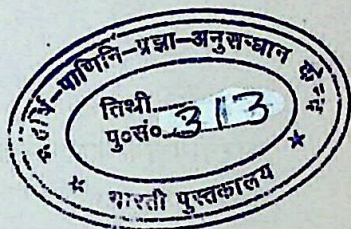
विभा रानी दुबे
प्राध्यापिका
संस्कृत अनुभाग
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रकाशक
भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी दिल्ली

प्रकाशक :
भारतीय विद्या प्रकाशन
१. पो० बा० नं० ११०८, कचौड़ी गली, वाराणसी–२२१००१.
२. १, यू० बी०, जवाहर नगर, बैंग्लो रोड, दिल्ली–११०००७.

अन्य प्राप्ति स्थान :
भारतीय बुक कारपोरेशन
१, यू० बी०, जवाहर नगर, बैंग्लोरोड; दिल्ली–११०००७.

मूल्य रु० ३५०–००

प्रथम संस्करण १९९४

मुद्रक
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
द्वारा
राजेश प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी ।

पूज्य पिता श्री रामदत्त मिश्र
एवं
पूजनीया माता किशोरी देवी
की पुण्य स्मृति में
सादर समर्पित

प्रस्तावना

कविकृतियों के विषय में भारतीय चिन्तन की सामग्रिक आख्या अलंकारशास्त्र है। विकास की दृष्टि से कवि और काव्य पहले आते हैं और तत्सम्वन्धी चिन्तन बाद में। सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्रीय समीक्षा कवि, काव्य और सहृदय इन तीन पक्षों को आधार वनाकर प्रवृत्त हुई है। ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों की समीक्षा वस्तुव.दी दृष्टिकोण पर केन्द्रित थी और उन्होंने कविता के शरीर तथा शिल्प पर सूक्ष्म विचार व्यक्त किया। इस प्रकार प्रमुख स्थान काव्य को प्राप्त हुआ। कवि तथा सहृदय अर्थात् काव्य के निर्माण के पहले की भूमिका और काव्य के निर्माण के वाद का प्रभाव—इन दोनों पक्षों को आनुषंगिक मात्र माना गया। ध्वनिसम्प्रदाय के साथ सहृदय पक्ष अथवा प्रभाव पक्ष को प्रमुखता मिली और कुन्तक ने कवि व्यापार परक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है। अनादिकाल से बिखरे विचारकणों का पहला संहत स्वरूप हमें भरत मुनि के नाटयशास्त्र में उपलब्ध होता है। ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर इसी परम्परा का परिपोषण परवर्ती आलंकारिकों ने लगातार किया है, जिनमें सर्वान्तिम महत्त्वपूर्ण आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हुये।

अलंकारशास्त्र के इतिहास के विभाजन के विभिन्न आधार हैं किन्तु हमने ध्वनि को मुख्य विभाजक कड़ी के रूप में स्वीकार किया है। इसका मुख्य कारण ध्वनि सिद्धान्त की अपनी विशिष्टता है। अलंकारशास्त्र के समस्त सम्प्रदायों में ध्वनि ही एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जो कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। काव्य का काव्यत्व उसकी अभिव्यक्ति प्रक्रिया पर आश्रित है तथा यह अभिव्यक्ति काव्य में व्यञ्जना का कलेवर धारण करके ही सहृदयजनाह्लादक हो सकती है, इस तथ्य का सर्वप्रथम उद्‌घोष ध्वनिसम्प्रदाय में ही हुआ। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदाय हेय हैं। ध्वनि की इस प्रतिष्ठा में ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की वही भूमिका है जो किसी भवन के निर्माण में नींव की होती है। ध्वनि का आविर्भाव अकस्मात् नहीं हो गया अपितु यह क्रमिक विकास का परिणाम है। इस विकास प्रक्रिया को परिलक्षित करने के लिये ही हमने ध्वनिपूर्ववर्ती प्रत्येक आचार्य की अलग-अलग विशेषताओं को न दिखलाकर, उनकी सम्प्रदायगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में छः अध्याय हैं जिसमें प्रथम अध्याय में हमने अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक स्वरूप, उसके विभिन्न अभिधान तथा अलंकारशास्त्र के इतिहास के काल विभाजन की विभिन्न दृष्टियों का उल्लेख करते हुये ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य

में ध्वनि का वीज रूप में उल्लेख हुआ है—इसका निर्देश किया है। साथ ही ध्वनि-पूर्ववर्ती—अलंकार, रीति एवं गुण सम्प्रदाय का सामान्य परिचय देकर—अलंकार-शास्त्र में ध्वनि का आविर्भाव एवं उसका महत्त्व दृष्टिगत कराया है। द्वितीय अध्याय में भरतमुनि द्वारा विवेचित अलंकार शास्त्रीय तत्त्वों पर विचार किया है। तृतीय अध्याय में हमने अलंकार सम्प्रदाय के सन्दर्भ में सर्वप्रथम 'अलंकार' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला है तथा इसी सन्दर्भ में ध्वनिपूर्ववर्तियों एवं ध्वनिवा-दियों की अलंकार धारणा में जो भेद है—उसपर प्रकाश डाला है; शब्दालांरक एवं अर्थालंकार का विभाजक आधार, क्रमौचित्य, अलंकारों का स्वरूप विकास तथा अलंकारों के विभाजन के विभिन्न आधारों को परिलक्षित किया है। चतुर्थ अध्याय में रीति तथा गुण के ऐतिहासिक विकासक्रम को वर्णित करके, ध्वनिपूर्ववर्ती एवं ध्वनिवादियों की रीति-गुण विषयक अवधारणा में अन्तर दिखाकर समीक्षा प्रस्तुत की है तथा इसी सन्दर्भ में रीति, प्रवृत्ति, वृत्ति एवं शैली के प्रयोग भेद को दर्शित किया है। पञ्चम अध्याय में कवि व्यापार एवं सहृदय व्यापार की दृष्टि से विचार किया है। सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करने पर यह तथ्य समझ में आता है कि यह समीक्षा कवि, काव्य एवं सहृदय—तीनों को दृष्टि में रखकर समय-समय पर की गयी है। ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रमुखतया काव्य का परीक्षण काव्य की दृष्टि से किया है। कवि व्यापार एवं सहृदय व्यापार की दृष्टि से भी संस्कृत काव्यशास्त्र में विवेचन हुआ है, जिसका वीज रूप में उल्लेख ध्वनिपूर्ववर्ती काल में भी प्राप्त होता है, यद्यपि इन दोनों पद्धतियों का विकास परवर्ती काल में व्यापक रूप में हुआ है। उपसंहार में हमने सर्वप्रथम ध्ननिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की समीक्षा प्रस्तुत की है अर्थात् उन कारणों का निर्देश किया है जिनके कारण ये सिद्धान्त महत्त्व को न प्राप्त कर सके। तदुपरान्त ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन एवं ध्वनिवादियों में ध्वनिपूर्व सम्प्रदायों की परम्परा का उल्लेख किया है।

उक्त विवेचन के द्वारा हमने इस तथ्य को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों का यद्यपि आज महत्त्व दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु इन सम्प्रदायों ने अलंकारशास्त्रीय परम्परा की आधार भूमि प्रस्तुत की है। ऐति-हासिक दृष्टि से भी इस काल को 'रचना काल' की संज्ञा प्रदान की गयी है, तदुपरान्त 'निर्णय काल' आता है। अतः 'निर्णय' के लिये 'रचना' का होना आवश्यक है—इस दृष्टि से भी ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों का महत्त्व असंदिग्ध है। इसप्रकार प्रकृत प्रबन्ध में हमारा उद्देश्य ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों का अनुशीलन, ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की समीक्षा अर्थात् उन कारणों का निर्देश जिसके फलस्वरूप उन्हें सम्यक् प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी, ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन तथा ध्वनिवादियों पर ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव दृष्टिगत कराना है।

इस ग्रंथ के लेखन का कार्य १९८१ में ही सम्पन्न हो गया था, किन्तु किन्हीं कारणों से इसके प्रकाशन का कार्य टलता रहा। भगवत्कृपा से सम्प्रति इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है। इस अवसर पर मैं अपने गुरुजन प्रो० रामजी उपाध्याय, प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्रो० विश्वनाथ भट्टाचार्य, डॉ० रामायण प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० सुदर्शनलाल जैन के प्रति कृतज्ञता से अवनत हूँ, जिनके परामर्श और प्रेरणा के फलस्वरूप यह कृति सम्मुख आ सकी। मैं अपने कीर्तिशेष माता-पिता के चरणों को सादर प्रणाम करती हूँ जिनके आशीर्वाद का प्रकाश मेरे जीवन पथ को सतत आलोकित कर रहा है।

अन्त में मैं भारतीय विद्या प्रकाशन के स्वामी श्री राकेश जैन तथा राजेश प्रिंटिंग वर्क्स के कर्मचारियों को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझती हूँ, जिन्होंने विशेष रुचि लेकर इस ग्रंथ का प्रकाशन किया है। इसके साथ ही मैं उन सब के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अनन्त शुभकामनायें इस ग्रंथ के प्रकाशन के साथ संलग्न हैं।

विभारानी दुबे

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
जनवरी, १९९४

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अलंकारशास्त्र के विकास के सोपान

काव्यशास्त्र में सम्पूर्ण विवेचन काव्यात्म विचार चर्चा को लेकर हुआ है। काव्यशास्त्र का मूल स्रोत कहाँ है और कब से है यह प्रश्न निर्विवाद नहीं है। सुदूर अतीत में विलीन हो गये ग्रंथों के अभाव ने इस समस्या को जटिल ही नहीं—दु:साध्य बना दिया है। वेदों में रसों एवं अलंकारों का छिट-पुट निर्देश प्राप्त होता है।

हजारों वर्ष की अवधि व्यतीत हो गयी होगी जबकि ऋषि विश्वामित्र अपने अनुयायियों सहित शुतुद्रु और विपाशा के संगम पर पहुँचे थे। नदियों के उच्छ्वसित जल को देखकर उन्होंने—पर्वतों की गोद से निकली हुई, समुद्र के प्रति गमन की इच्छा वाली, खुली हुई दो घोड़ियों के समान, हंसी सी खिलखिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हुई—ये विपाशा और शुतुद्रु नदियाँ अपनी जलधारा से वेग के साथ जा रही हैं—ऐसी कल्पना की थी—

> "प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
> गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते॥"[1]

प्रकृत ऋचा में वात्सल्य एवं श्रृंगार रस तथा उपमालंकार है। इस प्रकार यह उत्तम काव्य के लक्षण से युक्त है।

इसीप्रकार दीर्घतमा के पुत्र कक्षीवान ने उषा के अलोक-सामान्य रूप को देखकर जो उद्भावना की है, वह अतीव सुन्दर है—

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥[2]

ऋग्वेद का निम्नलिखित मंत्र अपने अतिशयोक्ति अलंकार तथा गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिये बहुत प्रसिद्ध है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥[3]

---

१. ऋग्वेद, ३.३३.१.

२. ऋग्वेद, १.१२४.७.

३. वही, १.१६४.२०.

यहाँ आत्मा, परमात्मा और प्रकृति—इन तीन उपमेयों के लिए दो सयुजा पक्षी एवं पिप्पल इन तीन उपमानों का कथन किया गया है। रसगंगाधरकार ने भी इस अतिशयोक्ति की प्रशंसा की है—"इयं चातिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते, यथा द्वा सुपर्णा…ऽभिचाकशीति।"[१] इसीप्रकार रूपकातिशयोक्ति की सुन्दर छटा इस ऋचा में दृष्टिगत होती है—

> चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्यः।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥[२]

इसमें वामदेव ऋषि ने वृषभ के वर्णन के द्वारा वेद, सूर्य, यज्ञ, महादेव आदि का वर्णन किया है।

ऋग्वेद में काव्य, कविता आदि शब्दों के प्रयोग भी अनेक स्थलों पर मिलते हैं। अग्नि को सभी काव्यों का ज्ञाता कहा गया है—

(अ) अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।[३]

(ब) आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।[४]

केवल ऋग्वेद में ही नहीं अपितु यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद में भी काव्यतत्त्व यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। जिसे कि परवर्ती काल में भरत ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥[५]

उपनिषदों में भी काव्यतत्त्व बड़े ही रमणीक रूपक एवं उपमाओं के रूप में प्राप्त होते हैं। कठोपनिषद् में रूपक अलंकार का मनोहारी सन्निवेश देखिये—

> "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥"[६]

डॉ० जयमन्त मिश्र ने रसों का मूल स्रोत वेदों में खोजने का प्रयास किया है। उनके अनुसार "इसीलिये यह कहना असंगत न होगा कि जैसे वेदाचल से रससामान्य

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, व्याख्याकार, मदनमोहन झा, द्वितीयआनन, (अतिशयोक्ति अलंकारादिसमाप्तिपर्यन्तो भागः), पृ० ३३.
२. ऋग्वेद, ४.५८.३.
३. ऋग्वेद, ३.१.१८.
४. वही, ३.१.१७.
५. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, १.१७.
६. कठोपनिषद्, १.३.३.

का स्रोत निकला, वैसे ही रसविशेषों की भी धारा वहीं से निकलकर प्रवाहित होती जा रही है।''[1]

किन्तु वेदों में जो छिट-पुट निर्देश प्राप्त होते हैं उन्हें हम काव्यशास्त्र का जनक नहीं मान सकते। वे सभी सम्भवतः किसी देवता वर्णन आदि प्रसंगों में प्रसंगतः प्रयुक्त पद मात्र हैं, किसी पारिभाषिक सन्दर्भ को लेकर चलने वाले शब्द नहीं। ''वैदिक साहित्यमें अलंकारों के प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक वल नहीं दिया जाना चाहिये, क्योंकि अलंकारों के स्वाभाविक और अनायास प्रयोग तथा विचार-पूर्वक तैयार की गयी एक सुनिश्चित नियमवद्ध पद्धति के वीच में अवश्य लम्वी अवधि बीती होगी।''[2]

रामायण को आदिकाव्य के रूप में स्वीकृत किया जाता है, और महाभारत के सन्दर्भ में तो यहाँ तक कहा गया है कि ''यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्''। वास्तविकता तो यह है कि रामायण और महाभारत सम्पूर्ण विशाल संस्कृत वाङ्मय के लिए उपजीव्य काव्य हैं। इन्हें ही हम काव्य और काव्यशास्त्र दोनों का आदि स्रोत मान सकते हैं।

अलंकारशास्त्रियों ने 'रामायण' के श्लोकों को काव्यशास्त्र के ग्रथों में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। जैसे कि 'रामायण'[3] के एक श्लोक को ध्वनिकार ने अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि के उदाहरण के रूप में 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत किया है—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृत्त मण्डलः।
निःश्वासान्धः इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।[4]

इसके अतिरिक्त महाभारत के 'भगवद्गीता' प्रकरण के निम्नलिखित श्लोक को आनन्दवर्द्धन ने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के वाक्य प्रकाशता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—

''या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥''[5]

---

१. डॉ० जयमन्त मिश्र, काव्यात्म मीमांसा, पृ० ११
२. एस० के० डे के 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत, अनुवादक, श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग–१, पृ०४.
३. वाल्मीकि, रामायण, अरण्यकाण्ड, १६/१३.
४. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, २-१ की वृत्ति, पृ० ७३.
५. ध्वन्यालोक, ३.१ की वृत्ति, पृ० १५७.

तथा इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा है कि इस वाक्य से निशा का रात्रि अर्थ और जागरण का जागना अर्थ विवक्षित नहीं है। मुनि अतत्त्वज्ञान से पराङ्मुख रहते हुये तत्त्वज्ञान के प्रति उन्मुख रहते हैं—यह अर्थ प्रतिपादित होता है। 'काव्य-प्रकाश' में भी महाभारत के 'गृद्ध गोमायु' संवाद को दिया गया है।[1]

यह तो हुई काव्यशास्त्र के आदिम स्वरूप की वात। अब हम 'अलंकारशास्त्र' नामकरण की सार्थकता तथा इसके अन्य अभिधानों की चर्चा करेंगे।

"आलोचनाशास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान अलंकारशास्त्र है। 'अलंकारशास्त्र' नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है जब अलंकार का तत्त्व काव्यमयी अभिव्यञ्जना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।"[2] इसीलिये हम देखते हैं कि प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ के नाम में 'अलंकार' शब्द को प्रमुखता प्रदान की है। भामह ने अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' रखा है, दण्डी ने यद्यपि अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यादर्श' रखा है परन्तु उसमें अलंकार का तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' और वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' तथा रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की है। विवेच्य विषय की ओर ध्यान दें तो हम पायेंगे कि गुण, दोष, अलंकार आदि सभी का विवेचन ध्वनिपूर्व युग में भी हुआ है परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्राधान्य को ही ध्यान में रखकर 'अलंकारशास्त्र' यह अभिधान प्रख्यात हुआ। ध्वनिपूर्व युग में 'अलंकार' से अभिप्राय मात्र काव्य का भूषण ही नहीं है, जिसे वामन ने यह कहकर स्पष्ट कर दिया है 'सौन्दर्यमलंकारः'। अतः काव्य के सभी शोभाधायक तत्त्वों का अन्तर्भाव अलंकार में ही हो जाता है।

साथ ही अनेक ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के लिये अलंकारशास्त्र शब्द का भी प्रयोग किया गया है। विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रीय' की टीका में अलंकारशास्त्र नाम का प्रति-पादन कर उसे काव्यशास्त्र का पर्याय वतलाया गया है।[3]

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' में काव्यशास्त्र शब्द का प्रयोग किया है। भोज

---

१. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, ४-४२ का उदाहरण· सूत्र ६०· अलंस्थित्वा·· विशङ्किता। पृ. १७५.

२. पं० वलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग—१, पृ० १·

३. 'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेक विषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकार-शास्त्रमुच्यते।'' प्रतापरुद्रीय, पृ० ३.

ने शास्त्र शब्द का प्रयोग विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला या शासन करने वाले के अर्थ में किया है--

यद्विधौ च निषेधे व व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।[1]

तथा इसके तीन साधनों का उल्लेख किया है--काव्य, शास्त्र और इतिहास--

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥[2]

डॉ० एस० के० डे ने अलंकारशास्त्र को काव्यशास्त्र नाम से अभिहित किया है और उसकी पुष्टि में उनका वक्तव्य है कि "अलंकारशास्त्र के नाम से पुकारे जाने वाले इस अर्द्धसैद्धान्तिक और अर्द्धव्यावहारिक विद्या को इस पुस्तक में 'काव्यशास्त्र' (पोएटिक्स)नाम से अभिहित किये जाने के विषय में स्पष्टीकरण के तौर पर दो एक शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है।...यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सामान्यत: प्रयुक्त किया जाने वाला अलंकार शब्द उस अध्ययन को पर्याप्त रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिसका विषय क्षेत्र विभिन्न अलंकारों के व्याख्यात्मक विवेचन से कहीं अधिक व्यापक है; साथ ही इस संदर्भ में सौन्दर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) शब्द का प्रयोग भ्रामक है, क्योंकि अलंकार साहित्य का सिद्धान्त पक्ष वैसा नहीं है, जैसा आधुनिक दर्शनशास्त्र में सौन्दर्यशास्त्र का है।"[3] डॉ० शंकरन् ने भी 'अलंकारशास्त्र' नाम को अपूर्ण माना है।[4]

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरणम्, २.१३८.

२. भोज, वही, २-१३९,

३. डॉ० एस० के० डे के हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत, अनु० श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग १; पृ० भूमिका--इ.

4. The term alankara sastra, is ordinarily used to signify literary criticism, but it literally means only figures of speech. Even though it is taken in the earlier and wider sense of 'beauty in poetry' it does not convey the ideas--understanding or appreciation and judging--that are primarily denoted by the term "Literary Criticism'. Nor can the term alankara refer to all the different methods of criticism that have been dealt with by writers on sanskrit poetics. For be-

काव्यशास्त्र में सौन्दर्य को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। दण्डी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' शोभाकर धर्मों का ही नाम अलंकार है। 'गौरिव गवयः' इस वाक्य में उपमा तो है पर काव्यत्त्व नहीं है—सौन्दर्य के अभाव में। अलंकार के सन्दर्भ में ही यह बात चरितार्थ नहीं होती अपितु ध्वनि के स्थलों में भी देखें तो ध्वनि का सद्भाव मात्र उत्तम काव्य का लक्षण नहीं है, अपितु चारुत्वातिशयता भी साथ में अभिमत है। इसीलिये लोचनकार का कथन है—'गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः।'[1]

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन के इस कथन पर "विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः"[2] व्याख्या करते हुये अभिनव गुप्त ने कहा है—'तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः।'[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनवगुप्त ने काव्य में चारुत्व को अत्यधिक महत्त्व दिया है। 'यच्चोक्तम्—"चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्' इति तदङ्गीकुर्म एव। नाम्नि खल्वयं विवाद इति।।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यात्मक सौन्दर्य ही वास्तव में काव्य की आत्मा है। उक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि इसी सौन्दर्य को कलात्मकता के आवश्यक तत्त्व के रूप में अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है।[5]

---

sides the 'Alankara' method there are seven others, some of which are even more important than that. Thus the use of the term Alankara to refer to sanskrit literary criticism can not be justificd except in this manner, that the subject is named after one of its earliest exponents, Bhamaha, who maintained that poetic embellishments form the distinctive feature of poetic language and that is the chiedf source of aesthetic pleasure.

डॉ०ए० शंकरन्, दी थ्योरीज ऑव रस एण्ड ध्वनि, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XXIII.

१. अभिनवगुप्त, लोचन, पृ० ५७.
२. ध्वन्यालोक, १.५ की वृत्ति, पृ० ३०.
३. अभिनवगुप्त, लोचन, पृ० ९०.
४. अभिनवगुप्त, वही, पृ० १०४.
5. Therefore poetic beauty is the real soul of poetic expression. Abhinavagupta accepts that beauty is the essence. the soul of the art.

डॉ०वी० राघवन, स्टडीज ऑन सम कानसेप्टस् ऑव दी अलंकारशास्त्र, पृ० २८७.

वह सौन्दर्य ही है जिसे विश्वेश्वर ने अपनी 'चमत्कार चन्द्रिका' में 'चमत्कार' के नाम से अभिहित किया है। विच्छित्ति, वैचित्र्य, वक्रत्व आदि शब्द वस्तुतः सौन्दर्यपरक अर्थ को ही प्रदान करने वाले हैं। सौन्दर्य को ही जगन्नाथ ने अपने लक्षण में 'रमणीय' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

सौन्दर्य का इतना महत्त्व होते हुये भी, जैसा कि डे महोदय ने कहा है कि इस शास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र ललितकलाओं में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत समेट लेता है जबकि काव्यशास्त्र मात्र शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला को ही द्योतित करता है।

आलोचनाशास्त्र का प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' है। जिसका ज्ञान हमें रामायण से भी होता है। राम की सभा में लवकुश के गायन को सुनने वाले विद्वानों की चर्चा के प्रसंग में वाल्मीकि ने कहा है—

"क्रियाकल्प विदश्चैव तथा कार्यविशारदान्।"[1]

कामशास्त्र में भी चौसठ कलाओं की गणना के प्रसंग में क्रियाकल्प का नाम लिया गया है। दण्डी भी इस नाम से परिचित थे—'वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्'[2]।

मध्ययुग में सर्वप्रथम राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्यशास्त्र' के नाम से अभिहित किया है—'पञ्चमी साहित्य विद्या' इति यायावरीयः।'[3] साहित्य की व्युत्पत्ति है—'सहितयोः भावः साहित्यम्'। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द और अर्थ के सहभाव का संकेत है। सम्भवतः इस शब्द की उत्पत्ति भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[4] इस काव्य लक्षण से हुई है। शब्द और अर्थ युगल रूप से काव्य है। आचार्य कुन्तक के शब्दों में 'साहित्य' की परिभाषा इसप्रकार है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥[5]

तात्पर्य यह है कि साहित्य शब्द और अर्थ की समन्विति है। शब्द और अर्थ का

---

१. वाल्मीकि, रामायण, उत्तरकाण्ड, ९४.७.
२. दण्डी, काव्यादर्श, १.९.
३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, द्वितीयोऽध्यायः, पृ० १०.
४. भामह, काव्यालंकार, १.१६.
५. कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित, १.१७.

अन्योन्य सम्वन्ध है। वस्तुतः काव्य की आकृति (शब्द) को विचार (अर्थ) से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

Sahitya means the poetic harmony, the beautiful, mutual appropriateness, the perfect mutual understanding, of sabda and artha, word and sense. [1]

राजशेखर के अनन्तर रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' लिखकर इस शब्द को अधिक लोकप्रिय वना दिया। 'अलंकार-शास्त्र', के समान प्राचीन न होने पर भी 'साहित्यशास्त्र'—यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में काव्यशास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा वर्णित की है। उसमें उन्होंने कहा है कि ब्रह्मा ने सरस्वती से उत्पन्न काव्य पुरुषों को तीनों लोकों में काव्यशास्त्र का प्रचार करने के लिये नियुक्त किया और उसने इस शास्त्र का उपदेश अठारह अधिकरणों में अपने सत्रह संकल्पजात शिष्यों को दिया। इन दिव्य ऋषियों के सम्वन्ध में कहा गया है कि इन ऋषियों ने अपने द्वारा अधीत अंशों पर पृथक्–पृथक् ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार सहस्राक्ष ने कवि रहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीति, प्रचेतायन ने अनुप्रास, चित्रांगद ने यमक और चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलत्स्य ने वास्तव, औपकायन ने उपमा, पराशर ने अतिशय, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकार, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक, नंदिकेश्वर ने रस, धिषण ने दोष, उपमन्यु ने गुण और कुचुमार ने औपनिषदिक पर ग्रंथ लिखे।[2]

"यह परम्परागत वर्णन किसी को अति प्राचीत काल में होने वाले शास्त्रीय समस्याओं के नियमित अनुसन्धान सम्बन्धी रोचक मत को व्यक्त करने की प्रेरणा दे सकता है, लेकिन ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि प्राचीन साहित्य में भी ऐसी कोई सामग्री नहीं है, जो हमें अति प्राचीन काल में अलंकारशास्त्र की उत्पत्ति खोजने में सहायता दे सके।"[3]

---

१. डॉ० वी० राघवन्, स्टडीज् ऑन सम कान्सेप्टस् ऑव दी अलकारशास्त्र, पृ० २८३.

२. काव्यमीमांसा, प्रथमोऽध्यायः, पृ० १-२.

३. डॉ० एस० के० डे, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत, अनुवादक, श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग–१, पृ० ४.

निरुक्त में उपमा का वर्णन प्राप्त होता है।[1] यास्क ने पाँच प्रकार की उपमा का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है (१) कर्मोपमा, (२) भूतोपमा, (३) रूपोपमा, (४) सिद्धोपमा, (५) अर्थोपमा या लुप्तोपमा। उपमा के द्योतक निपात इव, यथा, न, चित्, तु और आ हैं—इसका भी उल्लेख निरुक्त में मिलता है।

पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में उपमा,[२] उपमान,[3] उपमित तथा सामान्य[४] जैसे अलंकारशास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं। राजशेखर के अनुसार पाणिनि ने 'जाम्ववतीजय' नामक काव्य की रचना की थी। शास्त्रीय ग्रंथों में उदाहरणों के रूप में तथा सूक्तिमुक्तावलि, सुभाषितावली आदि संग्रह ग्रंथों में पाणिनि के नाम से कुछ श्लोक उद्धृत हुये हैं। कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिनानिशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥[५]

(एतौपाणिनेः)

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥[६]

(पाणिनेः)

पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य में की है—'मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते—अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति।'[७] 'गौरिव गवयः' यह प्रयोग चमत्कारविहीन होने के कारण उपमालंकार का उदाहरण नहीं हो सकता तथापि शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमा निरूपण महत्त्व रखता है। यह सत्य है कि अलंकारशास्त्र ने स्थान-स्थान पर व्याकरण शास्त्र से प्रेरणा ग्रहण की है। इसीलिये हम देखते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट ही कहा है—

---

१. यास्क, निरुक्त, तृतीयोऽध्यायः, पृ० १४२–१४८.
२. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्, २.३.७२.
३. उपमानानि सामान्यवचनैः, २.१.५४.
४. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २.१.५५.
५. काश्मीरी कवि श्री वल्लभदेव द्वारा संकलित, सुभाषितावलिः, अनु०, रामचन्द्र मालवीय, श्लोक संख्या १९६९. पृ० ३२१.
६. काश्मीरी कवि श्री वल्लभदेव द्वारा संकलित, सुभाषितावलिः, अनु०, रामचन्द्र मालवीय, श्लोक संख्या १८१५. पृ० २९६.
७. पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्य, प्रथमखण्ड, पृ० ३१४.

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्त्वात् सर्वविद्यानाम्' ।[१] फिर भी 'यह मानना पड़ेगा कि वैयाकरणों की ये कल्पनायें इतनी सुनिश्चित नहीं हैं कि किसी पद्धति के अस्तित्व को सिद्ध कर सकें। इसप्रकार काव्यशास्त्र से परोक्ष रूप से सम्वद्ध वैयाकरणों के उपर्युक्त विचार परवर्ती काव्यशास्त्रीय भाषा और चिन्तन के स्रोत पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।''[२]

पतञ्जलि के अनन्तर काव्य सौन्दर्य की उज्ज्वल परम्परा प्राप्त होती है। क्योंकि इनके अनन्तर अश्वघोष, कालिदास, शूद्रक, भारवि आदि के काव्यों की सुविकसित एवं सुव्यवस्थित परम्परा प्राप्त होती है। परन्तु इस वात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार के वर्णनों का काव्यशास्त्र से अप्रत्यक्ष सम्वन्ध है । उक्त वर्णनों से सम्भव है काव्यशास्त्र को कोई प्रेरणा मिली हो किन्तु इससे उसकी प्राचीनता का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। साथ ही सवसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में काव्यशास्त्र का एक पृथक् शास्त्र के रूप में उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि राजशेखर ने इसे वेद का सप्तम् अंग मानने की परम्परा का उल्लेख किया है।[३] छान्दोग्योपनिषद् में विविध विद्यापरिगणना विषयक सुप्रसिद्ध प्रकरण में काव्यशास्त्र का उल्लेख नहीं है। याज्ञवल्क्य ने कुल चौदह शास्त्रों का उल्लेख किया है और 'विष्णुपुराण' में इन चौदह शास्त्रों के अतिरिक्त चार और विद्याओं का उल्लेख है, इनमें काव्यशास्त्र का नाम कहीं नहीं है।[४] 'अलंकार' नाम सर्वप्रथम 'शुक्रनीति' में मिलता है।[५] अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और शिल्पशास्त्र इत्यादि वत्तीस शास्त्रों में उसकी गणना की गयी है।

---

१. ध्वन्यालोक, १.१३ की वृत्ति, पृ० ५३.

२. डॉ० एस० के० डे, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत अनु० श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ८.

३. 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः ।
काव्यमीमांसा, पृ० ६.

४. अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः ॥ विष्णुपुराण, ३.६.२८-२९.

५. ऋग्यजुः साम चाथर्व वेदा आयुर्धनुः क्रमात् ।
गान्धर्वश्चैव तन्त्राणि उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥ ४.२६
शिक्षा व्याकरणं कल्पो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
छन्दः षडङ्गानीमानि वेदानां कीर्तितानिहि ॥ ४.२७

विद्यास्थानों की संख्या न्यूनतम १४ तथा अधिकतम अठारह मानी जाती है। १४ विद्यास्थानों की परिगणना इसप्रकार की जा सकती है—चतुर्दश विद्यास्थान— १. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद, ५. शिक्षा, ६. कल्प, ७. व्याकरण, ८. निरुक्त, ९. छन्द, १०. ज्योतिष, ११. पुराण, १२. न्याय, १३. मीमांसा, १४. धर्मशास्त्र। अष्टादश विद्यास्थानों की संख्या करते समय निम्नलिखित चार विद्यास्थान और जोड़ दिये गये, १५. गान्धर्ववेद, १६. आयुर्वेद, १७. धनुर्वेद १८. अर्थशास्त्र।

इन दोनों ही गणनाओं में काव्य का उल्लेख नहीं हुआ है। राजशेखर का कथन है यदि विद्यास्थानों की संख्या १४ हैं तो साहित्य पन्द्रहवाँ विद्या स्थान है— 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इति यायावरीयः।[1] तथा यह समस्त विद्यास्थानों की एकत्र निवासभूमि है। वस्तुतः ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'काव्य' की पृथक् परिगणना न करने का कारण, सम्भवतः उसका वेद और पुराण में अन्तर्भूत हो जाना ही है, क्योंकि काव्य का भी प्रतिपाद्य तो लगभग वही हुआ करता है, जो वेद और पुराण का होता है, केवल शैली का भेद होता है। इसीलिये काव्य को शब्द प्रधान वेद एवं अर्थ प्रधान पुराण से पृथक् कान्तासम्मित उपदेश का अभिधान प्रदान किया गया है।

"सत्य यह है कि १८ विद्यास्थानों में मूलभूत विद्यास्थान ५ ही हैं। ४ वेद और पुराण। यदि चार वेदों को वेद नामक एक इकाई मान लिया जाये तो विद्यास्थान केवल दो रह जाते हैं (१) वेद और (२) पुराण। इन दोनों में भी प्रधान वेद ही है। फलतः मूलभूत विद्यास्थान "वेद" है। शेष सब इसी को समझने के लिये आविष्कृत उपाय हैं, अतएव वे अंग हैं और जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है वह शुद्ध रूप से अपने आप में 'काव्य' है। इस प्रकार 'काव्य' ही है मूलभूत विद्यास्थान।"[2]

किन्तु इन सव आधारों पर शास्त्रीय विषयों के प्राचीन प्रयोग के प्रसंग में

मीमांसातर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च।
अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं तथा शिल्पमलङ्कृतिः॥ ४.२८
काव्यानि देशभाषाऽवसरोक्तिर्यावनं मतम्॥ ४.२९
देशादिधर्मा द्वात्रिंशदेता विद्याभिसंज्ञिताः॥
शुक्रनीति, व्याख्याकार श्री पं० ब्रह्मशंकर मिश्रः, पृ० २२५.

१. काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० ९.
२. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्द्धन, पृ० ८.

निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि उनके उपलब्ध पाठों में सर्वग्राहिता का प्रयास है।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सबसे प्राचीन ग्रंथ जो हमको उपलब्ध होता है, वह है भरत का नाट्यशास्त्र। इसको भी पूर्णरूपेण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें नाट्यशास्त्रीय तत्त्व को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। भरत के पश्चात् विशुद्धरूपेण काव्यशास्त्र पर जिस ग्रन्थ की रचना हुई थी एवं सम्प्रति जो उपलब्ध है—वह है भामह का 'काव्यालंकार'।

'नाट्यशास्त्र' में हम जिस प्राञ्जल भाषा, भाव, विचार, चिन्तन और दर्शन का समावेश पाते हैं, उससे यह कहना अनुचित न होगा कि इस ग्रंथ-रत्न की रचना के पूर्व भी कुछ ग्रंथों की रचना अवश्य हुई होगी। किसी भी भाषा को सहसा साहित्यिक रूप प्राप्त नहीं होता। वह अपने जन्म काल से क्रमशः विकसित होती जाती है और शताब्दियों के पश्चात् वह साहित्य सृजन में सक्षम होती है। भाषा-विकास के इस क्रम के अनुसार नाट्यशास्त्र की भाषा निश्चय ही शताब्दियों की साधना का परिणाम होगी और इस साधना काल में भी उससे कुछ साहित्य सृजन अवश्य हुआ होगा। जैसा कि 'नाट्यशास्त्र' के षष्ठ एवं सप्तम् अध्याय को देखने से लगता है, उन्होंने इन अध्यायों में कुछ आनुवंश्य श्लोकों और आर्याओं को स्थान दिया है, जो निश्चित रूप से उनके पूर्व की रचनायें हैं। इस कल्पना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि प्राप्य ग्रन्थों के आचार्यों ने अनेक पारिभाषिक शब्दों और सूत्रों (वक्रोक्ति, रीति, गुण) का प्रयोग बिना किसी व्याख्या के ही किया है। जिसका तात्पर्य है कि इनके अर्थ पहले से ही सुविदित थे और पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्रतिपादित हो चुके थे। किन्तु हम प्रमाणों के अभाव में नाट्यशास्त्र से ही भारतीय साहित्यशास्त्र का सूत्रपात स्वीकार करते हैं।

"अतएव इन लेखकों के ग्रन्थों को इस शास्त्र का श्रीगणेश तो नहीं मान सकते, किन्तु उन्हें इस शास्त्र के ऐतिहासिक और रचनात्मक युग का आदि प्रवर्तक मान सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर बिना किसी पूर्वाग्रह के यह माना जा सकता है कि अलंकारशास्त्र का जन्म एक पृथक् शास्त्र के रूप में ईसवी सन् के आरम्भ में हुआ और ईसा की पाँचवी और छठी शतियों में अपेक्षाकृत विकसित रूप में उसकी प्रगति हुई।"[१]

भारतीय परम्परा नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध रचयिता भरत को 'मुनि' की पदवी

१—डॉ एस० के० डे, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत, अनु० श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग—१, पृ० १७

से विभूषित करती है और उन्हें पौराणिक युगीन मानती है फिर भी उनके वास्तविक स्थिति काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद पाया जाता है। काव्यशास्त्र की रूपरेखा का प्रथम बार दर्शन नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में प्राप्त होता है। इसमें काव्य के चार अलंकार, दस गुण, दस दोष तथा छत्तीस लक्षणों का वर्णनहै। प्रमाणों के अभाव में इसे ही काव्यशास्त्र का प्रथम ज्ञात अध्याय स्वीकार करना होगा।

साहित्यशास्त्र के इतिहास का काल विभाजन

साहित्यशास्त्र के इतिहास को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ढंग से विभाजित किया है। कुछ विद्वानों ने कालक्रमानुसार प्राप्त आचार्यों एवं सम्प्रदायों की क्रमिक व्याख्या प्रस्तुत की है। डॉ० एस० के० डे महोदय ने कालक्रम से प्राप्त आचार्यों की क्रमशः समालोचना की है[1] जैसे सर्वप्रथम—(१) भरत, (२) भामह से आनन्दवर्द्धन तक—द्वितीय विभाग में भामह, दंडी, उद्‌भट, मुकुल, प्रतीहारेन्दुराज, राजानक तिलक, वामन, रुद्रट, रुद्रभट्ट आते हैं।

(३) ध्वनिकार, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त।
(४) राजशेखर से महिमभट्ट तक—इसमें राजशेखर, धनञ्जय, धनिक, कुंतक, क्षेमेन्द्र, भोज, महिमभट्ट आते हैं।
(५) मम्मट तथा अल्लट।
(६) रुय्यक से विद्यानाथ तक—रुय्यक, हेमचंद्र, वाग्भट, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ।
(७) विश्वनाथ से जगन्नाथ तक—विश्वनाथ, केशव मिश्र, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, नागो जी भट्ट।

पी० वी० काणे ने भी काल विभाजन में उक्त क्रम को ही अपनाया है।

कुछ विद्वान् साहित्यशास्त्र के इतिहास को चार भागों में विभक्त करते हैं—

(१) प्रारम्भिक काल—वैदिक युग से लेकर भामह के पूर्व तक।
(२) रचनात्मक काल—भामह से लेकर आनन्दवर्द्धन के पूर्व तक।
(३) निर्णयात्मक काल—आनन्दवर्द्धन से लेकर मम्मट तक।
(४) व्याख्यात्मक काल—मम्मट के बाद से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक।

यद्यपि काव्यशास्त्र के क्रमिक विकास के इस काल विभाजन के लिए कोई

१—डॉ० एस० के० डे, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयटिक्स' के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत, अनु०, श्री मायाराम शर्मा, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग १, विषय-सूची।

निर्णयात्मक रेखा नहीं खींची जा सकती, तथापि यह विभाजन बहुत कुछ सीमा तक विकास के क्रम को द्योतित करता है।

(१) प्रारम्भिक काल—वैदिक युग से प्रारम्भ होता है। इसमें वेद, उपनिषद्, निरुक्त, व्याकरण, रामायण, महाभारत आदि में प्राप्त काव्यात्मक रचनायें हैं—उनपर विचार किया गया है। इनमें स्फुट रूप से यत्र-तत्र काव्यात्मक सामग्री प्राप्त होती है। काव्यशास्त्र विषयक प्राचीनतम ग्रंथ भरत का नाट्यशास्त्र है। भरत के अनन्तर मेधाविन् आते हैं—जिनका कोई भी ग्रन्थ आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में इनका उल्लेख किया है। इसके बाद 'अग्निपुराण' आता है; जिसे कुछ लोग तो आदिकाल की रचना मानते हैं और कुछ ने इसे आनन्दवर्द्धन के भी पश्चात् स्वीकार किया है। अग्निपुराण के ३३६–३४६ अध्यायों में काव्यशास्त्र से सम्वन्धित तत्त्वों का विवेचन किया गया है।

(२) रचनात्मक काल—इस काल की सीमा भामह से प्रारम्भ होकर आनन्दवर्द्धन के पूर्व तक मानी जाती है। इस काल में अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ है—

(अ) अलंकार सम्प्रदाय—भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट।
(व) रीति सम्प्रदाय—वामन।
(स) रस सम्प्रदाय—भरत सूत्र के व्याख्याकार।

(३) निर्णयात्मक काल—काव्याशास्त्र के विकास की दृष्टि से यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल है। इस काल में ध्वनि सम्प्रदाय एवं वक्रोक्ति सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ है। इस काल के प्रमुख आचार्य हैं आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिम-भट्ट, भोजराज, धनिक, धनञ्जय और मम्मट। आनन्दवर्द्धन ने आत्मतत्त्व के रूप में ध्वनि की स्थापना की, अभिनवगुप्त ने विस्तृत व्याख्याओं के द्वारा उसके स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट एवं पुष्ट किया तथा मम्मट ने समस्त विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन करके सवल रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित किया।

(४) व्याख्यात्मक काल—इस काल में किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ; यद्यपि क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्य विचार चर्चा' के द्वारा औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि औचित्य का तत्त्व काव्य में सभी आचार्यों के द्वारा मान्य होते हुये भी, आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया। क्योंकि औचित्यतत्त्व की परिकल्पना रस को ही दृष्टि में रखकर की जाती है, फलतः यह अंग रूप में ही रहता है—अंगी नहीं। यही कारण है कि क्षेमेन्द्र का यह मत मात्र एक सिद्धान्त बनकर ही रह

गया, सम्प्रदायत्व को न प्राप्त कर सका। इसके अतिरिक्त इस काल में पूर्ववर्ती युग के सिद्धान्तों को ही ग्रन्थकारों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों में व्याख्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

पं० बलदेव उपाध्याय ने अलंकारशास्त्र के इतिहास को भिन्न रूप में विभाजित किया है। उनका कथन है कि "संस्कृत अलंकारशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिये तीन अवस्थाओं में अध्ययन किया जा सकता है।

(१) पहली तो वह अवस्था है जब अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था।

(२) दूसरी वह जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था।

(३) और तीसरी वह अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहली अवस्था में वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भ में एक नयी विद्या के लिये हो सकते थे। तीसरी अवस्था में विचार गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया।"[1]

काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि का आविर्भाव और आत्मा के रूप में उसकी स्थापना एक अपूर्व घटना है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित करके काव्यशास्त्र को एक नवीन पथ पर प्रवर्तित किया था। यही कारण है कि काव्यशास्त्र के इतिहास को समझने के लिए काव्यशास्त्र में ध्वनि के विशेष स्थान को समझना आवश्यक है। फलतः हमने अपने प्रकृत प्रबन्ध में ध्वनि के इस महत्त्व को दृष्टिगत कराने के लिए ध्वनि सिद्धान्त को मुख्य विभाजक के रूप में उपस्थित किया है और काव्यशास्त्र के इतिहास का कालविभाजन इसप्रकार किया है—

(१) ध्वनिपूर्व युग—वैदिक युग से लेकर ८वीं शताब्दी तक।

(२) ध्वनि का युग—९वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक।

(३) ध्वन्युत्तर काल—११वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक।

"ध्वनिकार ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धान्तों को अंगीकार तो किया, मात्र उनकी प्रधानता की श्रेणियों में परिवर्तन कर दिया। जिन तत्त्वों को ध्वनिपूर्व युग में प्रधान स्थानीय माना जाता था; उनको इन्होंने गौण स्थानीय सिद्ध किया और प्रधान स्थान पर ध्वनितत्त्व को प्रतिष्ठित किया।......यही कारण है कि समालोचक आनन्दवर्द्धन को भारतीय साहित्य शास्त्र के ऐतिहासिक काल विभाजन का मानक बिन्दु मानते हैं। तदनुसार भामह तक का समय भारतीय काव्यशास्त्र का प्रारम्भिक काल है और आनन्दवर्द्धन तक का समय रचनाकाल। इसका अर्थ यह

१. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १, पृ० १६,

हुआ कि आनन्दवर्द्धन रचनाकाल की अन्तिमकड़ी हैं। परवर्ती समय को भारतीय साहित्यशास्त्र का निर्णयकाल कहा गया है, वस्तुतः है यह व्याख्याकाल।"[१]

ध्वनिपूर्व तथा ध्वन्युत्तर युगों की कल्पना का अभिप्राय

प्रकृत प्रबन्ध में अलंकारशास्त्र के रचनात्मक काल से सम्बन्धित पूर्ववर्ती आचार्यों पर विशिष्ट ध्यान केन्द्रित किया गया है क्योंकि परवर्ती आचार्य अधिकांशतः पूर्ववर्ती आचार्यों पर आश्रित दिखाई पड़ते हैं। इस काल के प्रमुख आचार्य जिनकी कृतियाँ अद्यावधि उपलब्ध हैं—वे हैं भरतमुनि, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, एवं रुद्रट।

सबसे प्रमुख तत्त्व जो अलंकारशास्त्र को दो प्रमुख युगों में विभाजित कर रहा है, वह है 'ध्वनि'। रससिद्धान्त तो आद्याचार्य भरतमुनि से ही चला आ रहा था, जिसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से की है; परन्तु ध्वनि सिद्धान्त ने रससिद्धान्त को भी आत्मसात् कर लिया, क्योंकि रसास्वाद रस के ध्वनित होने में ही है—वाच्यता में नहीं। वाच्य होने पर तो वह दोष हो जायेगा। यही कारण है कि ध्वनि को प्रधान तत्त्व मानकर ध्वनि को युगविभाजक कड़ी के रूप में उपस्थित किया गया है।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं और अभिनवगुप्त ने 'लोचन' के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त को और भी गहरी पैठ दी है तथा मम्मट ने विभिन्न मत-मतान्तरों का खण्डन कर बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से इसे प्रस्तुत किया है। आनन्दवर्द्धन के अनन्तर अभिनव तथा फिर मम्मट की धारणा का अध्ययन अधिक सुविधाजनक होता है क्योंकि इन आचार्यों का पौर्वापर्य क्रम अन्य आचार्यों से व्यवहित होने पर भी इनकी विचारधाराओं में, इनकी काव्य विषयक मान्यताओं में अधिक साम्य है।

ध्वनिपूर्व युग, अलंकारशास्त्र के विकास का युग है। कोई भी चीज अपने विकास काल में पूर्ण नहीं होती है। उसमें कुछ कच्चापन, कुछ त्रुटियाँ अवश्य दृष्टिगत होती हैं। ध्वन्युत्तर काल परिपक्व अलंकार शास्त्रीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को लिये हुये अपने में पूर्ण है। यथा भामह अनुबन्ध चतुष्टय के निरूपण के अनन्तर बिना काव्यलक्षण आदि का विवेचन किये सीधे काव्यदोष पर पहुँच गये हैं। परन्तु काव्यदोषों को इंगित मात्र करके पुनः काव्य भेदों की चर्चा की है, फिर से दोषों का वर्णन किया है। जैसे लग रहा है कहीं भाग दौड़ मची है, इसप्रकार से कुछ इसका, कुछ उसका छिटपुट वर्णन किया गया है।

१—डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्द्धन, पृ० ५४५।

दण्डी ने तो अपने 'काव्यादर्श' को तीन ही परिच्छेद में समाप्त कर दिया है। प्रथम में अनुबन्ध चतुष्टय के वर्णन के अनन्तर काव्यभेद एवं गुणों का वर्णन, द्वितीय में अलंकारों का एवं तृतीय में अलंकारों एवं दोषों का वर्णन करके समाप्त कर दिया है। साथ ही दण्डी और भामह ने न शब्दशक्तियों का विवेचन किया है, न रस और न ध्वनि का। इसलिये वे अलंकारशास्त्र की दृष्टि से अपूर्ण और एक देशी ही कहे जा सकते हैं।

वामन ने काव्य के आत्मभूत रस की नितान्त उपेक्षा कर दी है और रीति को असाधारण महत्त्व प्रदान कर दिया है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह के अवलोकन से तो लगता है कि उन्हें अन्य किसी भी काव्यतत्त्व से कोई लेना-देना ही नहीं है। छः वर्गों में ४१ अलंकारों का निरूपण करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया है।

आचार्य रुद्रट ने १६ अध्यायों में काव्य दोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रस आदि का विवेचन किया है। यद्यपि ध्वनिपूर्व अलंकारशास्त्रियों में रुद्रट पहले आचार्य हैं जिन्होंने शृंगार, हास्य, करुण आदि रसों के नामसहित रस का विस्तृत निरूपण किया है। परन्तु इतना होने पर भी उनका अलंकार वर्णन प्रधान है और रस विवेचन गौण। दस प्रकार के रस और नायक-नायिका भेद का वर्णन इन्होंने अवश्य किया है, किन्तु उसके वाद भी साहित्यशास्त्र के अनेक अंग छूट जाते हैं। अलंकारों का वर्गीकरण और काव्य में उनकी मौलिक प्रतिष्ठा का आग्रह सबसे अधिक रुद्रट ने किया है। शब्दशक्ति, ध्वनि आदि के विवेचन के बिना साहित्यिक ग्रंथ पूर्ण नहीं कहा जा सकता और इनका संरम्भ अलंकार निरूपण पर विशेष है। यही कारण है कि इन्हें अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है।

परन्तु ध्वन्युत्तरयुग में अनेक ध्वनिवादी आचार्यों में काव्य के विभिन्न तत्त्वों का समायोजन और संगति ध्वनिवादी दृष्टिकोण से हम पाते हैं। यद्यपि ध्वनिकार का प्रमुख उद्देश्य ध्वनितत्त्व का प्रतिपादन रहा है, इसीलिये उन्होंने अन्य काव्यतत्त्वों की तरफ अपना ध्यान न बंटा कर, ध्वनि को ही केन्द्र बनाकर उसी पर अपनी दृष्टि रखी है। परन्तु परवर्ती काल में इन आलंकारिकों ने समस्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन सामञ्जस्य और क्रमबद्धता को ध्यान में रखकर किया है। यही कारण है कि ध्वनिपूर्वकालीन सिद्धान्त आज के अलंकारशास्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण से लगते हैं।

ध्वनिपूर्वकालीन अलंकारशास्त्रियों ने चूँकि अलंकार का अर्थात् काव्य शरीर

का ही प्रधानरूपेण विवेचन किया है—इसीकारण वे अलंकारवादी आचार्य कहलाते हैं। चूँकि ध्वन्युत्तरयुग में काव्य के आत्मतत्त्व पर ही सूक्ष्म रूपेण विचार किया गया है, इसकारण इस युग के आचार्य अलंकार्यवादी कहलाते हैं।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को मानने वाले आचार्य अलंकारवादी हैं और रस, ध्वनि आदि को मानने वाले अलंकार्यवादी हैं। वस्तुत: अलंकारवादी आचार्यों का प्रास्थानबिन्दु शब्दार्थ है और विश्रान्ति विन्दु भी शब्दार्थ ही है। इसे ही दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अलंकारवादी आचार्य शब्दार्थ से यात्रा प्रारम्भ करके शब्दार्थ की ओर ही लौट आते हैं। जबकि इसके विपरीत रसवादी और ध्वनिवादी आचार्य शब्दार्थ से प्रस्थान करके रसादि ध्वनि को सर्वाधिक महत्त्व देते हुये वहीं विश्रान्ति पाते हैं।

ध्वनिपूर्वकाल में यद्यपि भामह ने गुणों की संख्या तीन मानी है, परन्तु भरत और दण्डी ने दस और इन्हीं दस गुणों के शब्दगत और अर्थगत भेद से वामन ने वीस माना है। इन वीस गुणों का अन्तर्भाव तीन में ही ध्वन्युत्तर युगों में कर दिया गया है। वस्तुत: वामन ने जिस पद रचना रूप रीति को काव्य की आत्मा माना है, वह शब्दार्थ का ही विशेष रूप है। यद्यपि ध्वन्युत्तर काल में भी शब्दार्थ के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया गया है परन्तु यहाँ हृदय की विश्रान्ति रसादि व्यंग्य में है, शब्दार्थ में नहीं। यही कारण है कि वामन ने समस्त रसों को कान्ति नामक गुण में समाविष्ट कर लिया है, जबकि ध्वन्युत्तर काल में गुण ही रसगत देखे जाते हैं। वामन के मत में गुण रीति का नित्य तत्त्व है, जबकि मम्मटादि के अनुसार गुण रस का नित्य तत्त्व है।

ध्वनिपूर्व काल में 'सौन्दर्यमलंकार:' के द्वारा काव्यशोभाकर सभी धर्मों को अलंकार माना गया है। इसप्रकार उनके यहाँ अलंकार तो अलंकार है ही, गुण भी उपमादि से पृथक् विशिष्ट अलंकार है। परन्तु ध्वन्युत्तर काल में अलंकार और गुण दो भिन्न चीजें मानी गयी हैं जिसमें अलंकार काव्य के अनित्य धर्म माने गये हैं और गुण रसगत होने से नित्य धर्म।

ध्वनिपूर्व युग में शास्त्रीय शब्दों का अनेक अर्थो में प्रयोग होने से संदेह की स्थिति हो जाती है, ध्वन्युत्तर काल में शब्दों की यह फिसलन नहीं है। जैसा कि दण्डी ने गुण और अलंकार में किया है। दण्डी गुण को भी एक अर्थ में अलंकार मानते हैं, इसका प्रमाण यह है कि वे कुछ दोषों के परिहार को गुण मानने पर भी 'अलंकार' नाम से अभिहित करते हैं। यथा संशय दोष के वर्णन के प्रसंग में दण्डी ने कहा है कि जहाँ संशय उत्पन्न करने के उद्देश्य से कवि सन्देहयुक्त वाक्य का प्रयोग करता है, वहाँ ससंशय दोष न होकर अलंकार बन जाता है—

ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥[१]

उक्त स्थल में अलंकार शब्द का प्रयोग गुण के पर्याय के रूप में हुआ है, क्योंकि दण्डी काव्य दोषों को स्थिति विशेष में काव्य के गुण मानते हैं। देश, काल, कला, आगम आदि के विरोध रूप दोषों के स्वरूप वर्णन के अनन्तर उन्होंने कहा है कि ये सभी विरोध कवि कौशल से दोषमुक्त होकर गुण की सीमा में आ जाते हैं—

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचिद् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥[२]

वस्तुतः यदि दण्डी ने गुण को अलंकार के नाम से व्यपदिष्ट किया है तो उसमें कोई अनुपपत्ति दण्डी के मत में नहीं आती है, क्योंकि दण्डी ने तो स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि गुण भी एक अर्थ में अलंकार है, 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।' दण्डी ने गुणों को 'असाधारण अलंकार' और अलंकार को 'साधारण अलंकार' शब्द से व्यपदिष्ट किया है।[3]

उक्त वर्णन से स्पष्ट ही है कि संस्कृत समालोचना में आगे चलकर जिस प्रकार एक-एक शब्द के औचित्य पर विचार कर, उसके प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है, उस प्रकार का प्रयत्न ध्वनिपूर्व युग में सम्भवतः नहीं प्राप्त होता है। "जहाँ दण्डी ने कुछ असावधानी से यह कह दिया है कि श्लेष आदि दसों गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय रहा करता है—वहाँ सिद्धान्त वाक्य के अर्थ की अनिचियात्मकता स्पष्ट है। न तो दसों गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण ही माने जा सकते हैं और न उनके विपर्यय को गौड मार्ग की आत्मा के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। 'विपर्यय' शब्द का अर्थ भी विवादास्पद है। अर्थ के अनिश्चय का कारण सम्भवतः पुस्तक का पद्यबद्ध होना है। आलोचना की भाषा गद्य में जितनी प्रौढ़ हो सकती है, उतनी पद्य में नहीं।"[४]

गुण और अलंकार में आश्रयगत भेद है, जिसका निरूपण ध्वनिपूर्व युग में न हो सका। किन्तु ध्वनि प्रस्थान में गुण का आश्रय रस और अलंकार का आश्रय शब्दार्थ निर्णीत हो जाने पर, दोनों का भेद स्पष्ट हो गया। आनन्दवर्द्धन के द्वारा

---

१. काव्यादर्श, ३·१४१.
२. वही, ३·१७९.
३. वही, २·३
४. डॉ० शोभाकान्त मिश्र, काव्य गुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २५०-२५१.

सिद्ध प्राचीन ध्वनि तत्त्व के काव्य के आत्मरूप से व्यवस्थापन के बाद अलंकारशास्त्र में अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, दोष आदि सभी तत्त्वों का विचार उसी आत्मरूप ध्वनि को केन्द्र बिन्दु मानकर किया गया और ध्वन्यात्मवादियों के मत में अलंकार, गुण, रीति के स्वरूप में ही परिवर्तन हो गया है अर्थात् जो अंगीरूप में समझे जाते थे वे अंग रूप में परिगणित होने लगे ।

रसादि की प्रतीति जहाँ अप्रधान रूप से होती है अर्थात् अंगरूप में होती है वहाँ रसवदादि चार अलंकार होते हैं । 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रस, भाव, तदाभास एवं भावशान्त्यादि ये चार ही रस कहलाते हैं । जहाँ पर रसादि वाक्यार्थीभूत होंगे वहाँ तो उनकी प्रधानतया स्थिति के कारण ध्वनि होगी । किन्तु जहाँ रसादि अन्य वाक्यार्थीभूत रसादि के उपकारक होते हैं, वहाँ ध्वनिवादियों के अनुसार उसमें गुणीभूतता आ जाती है । क्योंकि वहाँ पर वे वाक्यार्थीभूत किसी अन्य की शोभा की वृद्धि करते हैं । इस कारण चारुत्वहेतु होने से वे अलंकार रूप बन जाते हैं । जैसा कि मम्मट ने कहा है—

"मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।
ते भावशान्त्यादयः । अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।।"[१]

यहाँ राजानुगत भृत्य का जो उदाहरण दिया गया है उसका आशय यह है कि कुछ समय के लिये 'आपाततः' भृत्य की प्रधानता प्रतीत होते हुए भी जैसे पारमार्थिक प्रधानता राजा की रहती है; उसी प्रकार रस के सम्पर्क से 'आपाततः' भावशान्ति आदि की प्रधानता होते हुये भी अन्तिम प्रधानता तो रस की ही रहती है । इस-प्रकार की व्यवस्था करने का श्रेय ध्वनिवादी आचार्यों को ही है । आनन्दवर्द्धन ने रसादि अलंकारों के प्रसंग में केवल रसवद् अलंकार का सम्यक् विवेचन किया है एवं स्थालीपुलक न्याय से प्रेयस्, ऊर्जस्वि एवं समाहित का ज्ञान कराया है ।

भामह ने रसवदादि को विशुद्ध अलंकार माना है । उनके अनुसार शृंगारादि रस जहाँ स्पष्टरूपेण दृष्टिगत होते हैं, वही रसवद् अलंकार का विषय है—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा ।'[२]

प्रेयस्[३], ऊर्जस्वि[४] एवं समाहित[५] का भामह ने कोई लक्षण नहीं दिया है, केवल उनके उदाहरण दिये हैं ।

---

१. काव्यप्रकाश, सूत्र ५१, पृ० १४६.
२. काव्यालंकार, ३.६.
३. वही, ३.५.
४. वही, ३.७.
५. वही, ३.१०.

दण्डी भी रसवदादि को विशुद्धरूपेण अलंकार मानते हैं—

"प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकार युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्।।"[1]

अर्थात् प्रियतर भाव की अभिव्यक्ति होने पर प्रेय नामक अलंकार, रसपेशल कथन ही रसवद् और रूढाहंकार गर्व द्योतक आख्यान को ऊर्जस्वि माना जाता है।

उद्भट के अनुसार "रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसादयम्।"[2]

रसवद् अलंकार स्पष्टरूपेण शृंगारादि रसों के सद्भाव पर निर्भर है। अनुचित रूप से जहाँ रस एवं भाव प्रवृत्त हों, वहाँ ऊर्जस्वि[3] नामक अलंकार होता है, तथा रस, भाव एवं रसाभास तथा भावाभास की वृत्ति का जहाँ प्रशम कहा गया हो और अतिरिक्त रसादि के अनुभावादिकों की पूर्णरूपेण शून्यता हो—वहाँ समाहित नामक अलंकार होता है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनिपूर्व युग में ध्वनिवादियों की रस, ध्वनि की परिगणना भी रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत कर ली गयी है। क्योंकि ध्वनिपूर्व युगमें, हम देखते हैं कि प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्फुटरूपेण प्रतीत होने वाले शृंगारादि रसों की परिगणना रसवदलंकार में की है जबकि ध्वनिकार के मतानुसार रस के गुणीभूत होनेपर रसवद् अलंकार, भाव के गुणीभूत होने पर प्रेय अलंकार, रसाभास या भावाभास के गुणीभूत होने पर ऊर्जस्वि अलंकार होगा, भावशान्ति के गुणीभूत होने पर समाहित अलंकार होगा, किन्तु भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता के गुणीभूत होने पर उनको किन नामों से अभिहित किया जाये इसका समाधान सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने दिया है—'यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबल-त्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्'[5] अर्थात् इनको अलंकार रूप में किसी ने नहीं कहा है किन्तु इनकी अलंकारता होने पर इन्हें इन्हीं नामों से पुकारा जाये।

भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों के मत में अलंकार्य तथा अलंकार में भेद न होने के कारण तथा रस का व्यंजकत्व न सिद्ध होने से, रस का वास्तविक स्वरूप प्रकट न हो सका। रुद्रट ने यद्यपि अपने 'काव्यालंकार' में

---

१. काव्यादर्श, २·२७५.
२. उद्भट, काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·३.
३. वही, ४·५.
४. वही, ४·७.
५. काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २०५.

रसों का नामतः निर्देश किया है किन्तु उनके द्वारा भी रसादि की ध्वन्यमानता प्रायः अज्ञात रही है। आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट के द्वारा ध्वनि एवं रस के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन हुआ। आनन्दवर्द्धन ने यद्यपि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का निर्देश किया है किन्तु उनका अभि-निवेश प्रमुखतः रस पर ही है। इसका संकेत स्थान-स्थान पर तो मिलता ही है 'काव्यव्यस्यात्मा स एवार्थः'[1] के द्वारा वह अधिक स्पष्ट भी हो जाता है।

जबकि ध्वनिपूर्व युग में अलंकार को ही प्रधानता प्राप्त हुई है। रस, भाव, गुण आदि का उसी के उपकारक के रूप में वर्णन हुआ है। भामह ने भी इसी दृष्टि से कमनीय होने पर भी कामिनी के अनलंकृत आनन को असुन्दर बताया है तथा अलंकार को गुण से अधिक महत्त्व दिया है--'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता-ननम्'[2] तथा रस, भाव आदि का अलंकार में ही अन्तर्भाव कर दिया है। जिससे अलंकार की महिमा प्रतिष्ठित हो जाती है। दण्डी ने तो सन्धि और सन्ध्यङ्ग को, वृत्ति और वृत्यङ्ग को तथा लक्षण आदि को भी अलंकार ही मानकर अलंकार के महत्त्व तथा व्यापकत्व को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है।[3]

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को केन्द्र में रखकर उसे ही काव्य में आत्मत्वेन प्रतिष्ठित करके गुण, रीति, अलंकार आदि का विचार किया है। यही कारण है कि ध्वन्युत्तर काल में अलंकार सम्बन्धी पूर्वोक्त धारणा में ही आमूल परिवर्तन हो गया। अलंकार काव्य का व्यापक नहीं अपितु व्याप्य तत्त्व मात्र रह गया। यही कारण है कि अलंकार के लक्षण में ही परिवर्तन हो गया--

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥"[4]

कहने का आशय यह है कि ये अलंकार रस मुखापेक्षी हो गये, चूंकि शोभा-कारक होने से ही, इनका शोभाकारकत्व रूप धर्म सिद्ध होता है अन्यथा इनकी व्युत्पत्ति 'अलंक्रियतेऽनेनेति अलंकारः' ही निरर्थक हो जायेगी।

साथ ही ध्वन्युत्तरकाल में गुण एवं अलंकारों में स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट कर दिया गया है--

---

१. ध्वन्यालोक, १·५.
२. काव्यालंकार, १·१३.
३. काव्यादर्श, २.३६७.
४. काव्यप्रकाश, ८·६७.

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥"[१]

इस प्रकार ध्वन्युत्तर युगीन आचार्यों ने गुणों को रसनिष्ठ तथा काव्योत्कर्षक माना और काव्य में उनकी अचल स्थिति स्वीकार की अर्थात् अलंकार काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं हैं जबकि गुण अनिवार्य धर्म हैं। अलंकार अंगाश्रित हैं एवं आरोपित धर्म हैं, विवक्षानुकूल इनका प्रयोग किया जा सकता है। जैसाकि ध्वनिकार ने कहा है—

"अङ्गाश्रितास्तत्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।"[२]

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिस अलंकार को ध्वनिपूर्व युग में आत्मस्थानीय माना गया था, उन्हें ध्वन्युत्तर काल में अंगत्व भी नहीं प्राप्त हो सका; वे अंगों के भी आश्रित माने जाने लगे जैसे कटक, कुण्डल आदि हाथ एवं कानों के आश्रित रहते हैं। ध्वनिपूर्व युग में जिस गुण को अलंकार के एक अंग के रूप में गृहीत किया गया था, वह ध्वन्युत्तर काल में अलंकार से स्वतन्त्र हो गया तथा अंगी रसादि के आश्रित होने से एवं काव्य में उसकी नियत स्थिति मान्य होने से उसकी महिमा अलंकारों की अपेक्षा बढ़ गयी।

ध्वनिकार द्वारा उल्लिखित आचार्य

पिछले अनुच्छेदों में हम यह निर्देश कर चुके हैं कि ध्वनिसम्प्रदाय का आविर्भाव आलोचना जगत् में कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु यह क्रमिक विकास का परिणाम है। सर्वथा यह कह देना भी युक्ति-युक्त नहीं है कि ध्वनिकार ने किसी नितान्त नवीन बात की स्थापना की है जो अबतक प्रतिपादित नहीं हुई। ध्वनिपूर्व-वादियों में एवं ध्वनिकार में अन्तर मात्र प्राधान्य को लेकर है। ध्वनिपूर्वकालीन आचार्यों ने जिन तत्त्वों को प्रधान स्थानीय माना था उनको ध्वनिकार ने गौण-स्थानीय माना तथा ध्वनि की प्रधानत्वेन स्थापना की। इसीलिये हम देखते हैं कि ध्वनिकार ने 'ध्वन्यालोक' में अनेकानेक स्थानों पर प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। जिनका अवलोकन प्रकृत अनुच्छेद में किया जायेगा—

(१) 'यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चिद् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता

१. वही, ८·६६.
२. ध्वन्यालोक, २·६.

ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि, न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्त-मन्ये इति ।'[१]

अर्थात् भामह के 'शब्दछन्दोऽभिधानार्थः' की व्याख्या के प्रसंग में 'शब्दानाम-भिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर काव्यों में गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले भट्टोद्भट ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया है । यहाँ पर इन्होंने आचार्य उद्भट का संकेत किया है ।

(२) 'ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदी-पकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति ।'[२]

यहाँ पर अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध करके उक्त समासोक्त्यादि अलंकारों को ध्वनिकार ने गुणीभूत व्यङ्ग्य के अन्तर्गत प्रतिष्ठित किया है । यहाँ पर भी इनका संकेत भामहादि से है । क्योंकि भामह ने समासोक्ति के लक्षण में 'गम्यते' तथा आक्षेप के लक्षण में भामह ने वक्ष्यमाण और उक्तविषय इसप्रकार दो भेद किये हैं । इसमें वक्ष्यमाण में ध्वनि का स्पष्ट निर्देश है । इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में 'अवगमन' शब्द का प्रयोग व्यञ्जना व्यापार को ही इंगित करता है जिसे आगे और स्पष्ट किया गया है ।

"श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ।।"[३]

'ये च दर्शिताः' के द्वारा यहाँ पर ध्वनिकार ने भामह के श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट और कल्पनादुष्ट की ओर निर्दिष्ट किया है जैसा कि भामह ने कहा है—

"श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ।।"[४]

क्योंकि इस कारिका के पूर्व कहीं भी दोषों का स्वयं आनन्दवर्धन ने निर्देश नहीं किया है ।

(४) अलंकारव्यङ्ग्य के महत्त्व का निर्देश करते समय इन्होंने जो यह कहा है—

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ९.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ३९.
३. वही, पृ० १००.
४. काव्यालंकार, १.४७.

"शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्कारा: परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गता: ।।"[१]

उससे यह विदित हो रहा है कि यहाँ पर ध्वनिकार ने अलंकारवादियों के यहाँ भी अलंकारों की दयनीय स्थिति का उपहास किया है। क्योंकि अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व देने वाले अलंकारवादी भी अलंकारों को इस महनीय स्थिति तक नहीं पहुँचा सकते थे।

(५) रामायण एवं महाभारत के उदाहरण भी ध्वन्यालोक में प्राप्त होते हैं। यथा रसध्वनि की स्थिति को लक्ष्य ग्रंथों में सूचित करने के प्रसंग में—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा: ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ।।"[२]

इसीप्रकार महाभारत के भी उदाहरण यत्र-तत्र दृष्टिगत हो जाते हैं। यथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के उदाहरण में—

'धृति: क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठरा ।
मित्राणां चानभिद्रोह: सप्तैता: समिध: श्रिय: ।।"[३]

इसीप्रकार महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य रस शान्त है, इसकी पुष्टि में स्वयं व्यासजी के वचनों को उद्धृत किया है—

"यथा यथा विपर्येति लोकतंत्रमसारवत् ।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशय: ।।"[४]

(६) "असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटमोदिता ।।"[५]
कैश्चित् ।

इन रीतियों के वर्णन के अनन्तर जो 'कैश्चित्' शब्द का प्रयोग ध्वनिकार ने किया है—वह सम्भवत: रुद्रट के सन्दर्भ में है। क्योंकि रुद्रट ने भी रीतियों का विभाजन समास को आधार बनाकर किया है।[६]

---

१. ध्वन्यालोक, २.२८.
२. वही, १.५ की वृत्ति, पृ० ३०.
३. वही, पृ० १५५.
४. वही, पृ० ३४५.
५. वही, ३.५.
६. काव्यालंकार, २.४.

(७) औचित्य विचार के सन्दर्भ में भरत को उद्धृत करते हुये ध्वनिकार ने कहा है—'अत एव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति।'[1]

(८) रसभंग के कारणों का निर्देश करते समय भरत एवं उद्भट का निर्देश प्राप्त होता है—

'यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः।'[2]

(९) भरत के नाट्यशास्त्र में भी रसों की प्रमुखता का निर्देश है इसे इंगित करते हुये ध्वनिकार ने रस पर विशेष बल दिया है—

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः॥[3]

(१०) अतिशयोक्ति अलंकार के प्रशंसा के सन्दर्भ में स्वयं भामह की कारिका ही उद्धृत कर दी है—

'कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

"सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥"[4]

(११) रीतितत्त्व की अनुपयुक्ता पर प्रकाश डालते समय वामन का निर्देश किया है—

"अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥"[5]

अर्थात् अस्फुट रूप से स्फुरित इन पूर्वोक्त (ध्वनि) काव्यतत्त्व की व्याख्या कर सकने में असमर्थ (वामन आदि) ने रीतियाँ प्रचलित कीं।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० १९०.
२. वही, पृ० २१६.
३. वही, ३·३३, पृ० २४४.
४. वही, पृ० २९१.
५. वही, ३·४७.

(१२) इसीप्रकार वृत्ति की अनुपयुक्तता पर प्रकाश डालते समय इन्होंने उद्भट का निर्देश किया है—

'अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनामये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्-प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति ।'[1]

(१३) प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का भी उल्लेख आनन्दवर्द्धन ने किया है। प्रकृत श्लोक में उन्होंने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि उनके मत को यथार्थ रूप में समझने वाला कोई नहीं है। समुद्र के जल के समान उनका मत उनके अन्दर ही, योग्य विद्वान् के अभाव में पड़ा-पड़ा जरा को प्राप्त हो जायेगा—

"अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
ऽप्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पयइव स्वदेहे जराम् ॥"[2]

ध्वनि के जिस चरम स्वरूप का प्रकाशन 'ध्वन्यालोक' में हुआ है वह मात्र लक्षण ग्रन्थों का ही प्रतिफल नहीं है। अर्थात पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्रियों का इस दिशा में योगदान तो है ही, किन्तु सम्पूर्ण श्रेय उन्हें ही नहीं जाता। लक्ष्य ग्रंथों या पूर्ववर्ती कवियों का भी इसमें बहुत बड़ा योगदान रहा है। आनन्दवर्द्धन ने स्वयं ही इस तथ्य को स्वीकार किया है—

"अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनी लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥"[3]

अर्थात् रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रंथों में उसके यथालक्षण स्वरूप का प्रयोग देखने वाले सहृदयों के मन में आनन्द प्रतिष्ठा पाये—इसलिये ध्वनि के स्वरूप को प्रकाशित किया गया है। इस प्रसिद्ध व्यवहार को प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने अपने लक्षणों के उदाहरणों में निम्न लक्ष्य ग्रंथों का प्रयोग किया है—विक्रमोर्वशीयम्, कुमारसम्भवम्, मेघदूतम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, गाथासप्तशती, रत्नावली, वेणीसंहार, अमरुशतक, विषमबाणलीला, शिशुपालवधम्, हर्षचरित, उत्तररामचरितम् आदि।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्द्धन के समय तक उच्चकोटि के काव्यों का

---

१. वही, पृ० ३३२.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ३०६.
३. वही, पृ० ९.

सृजन हो चुका था। इन तथ्यों को दृष्टिगत रखने से ध्वनि विकास के क्रमिक सोपानों को समझना सहज हो जाता है।

ध्वन्यभाववादी आचार्यों के द्वारा ध्वनि का 'बीज' रूप में उल्लेख

लक्षण ग्रंथों की क्रमिक परम्परा में 'नाटचशास्त्र' के पश्चात् प्रथम उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ भामह का 'काव्यालंकार' ही है। ध्वनि सम्प्रदाय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त जो समुचित परिपक्व एवं समृद्ध रूप में प्राप्त होते हैं, वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अपितु उसके विकास की एक क्रमिक परम्परा है। उसी क्रमिक विकास को दृष्टिगत करने का प्रयास इस अनुच्छेद में किया गया है।

'ध्वन्यालोक' में जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं—दो प्रकार से भामह के अलंकारों का उल्लेख हुआ है। एक तो शब्दतः नामोल्लेख (भामह) के साथ किया गया है और दूसरे अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध करते समय—समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक आदि अलंकारों में गुणीभूतव्यङ्ग्य यानि मध्यम काव्य की स्थिति को स्थापित किया है।[1] समासोक्ति में 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः'[2] एवं वक्रोक्ति में 'अनयार्थो विभाव्यते'[3] आदि सभी लक्षणों में व्यज्यते, गम्यते, विभाव्यते पदावली का प्रयोग हुआ है—जो स्पष्टतया वाच्येतर अर्थ की ओर इंगित करता है।

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्'[4] भामह की इस अतिशयोक्ति को ध्वन्यालोककार ने स्वीकार ही नहीं किया है, अपितु भामह की पंक्तियों को भी शब्दशः उद्धृत किया है—

'यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्।

भामहेनाप्यतिशयोक्ति लक्षणे यदुक्तम्—

---

१. ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्करालङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। —ध्वन्यालोक, पृ० ३९.

२. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥ भामह, २.७९.

३. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ भामह, २.८५.

४. काव्यालंकार, २.८१.

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥"[1]

आक्षेप, विभावना और भाविक अलंकारों के लक्षणों में 'काव्यप्रकाश' में 'काव्यालंकार' की स्पष्ट छाया प्रतीत होती है। जिसे यहाँ दोनों के लक्षणों को क्रमशः देखकर समझा जा सकता है—

(१) आक्षेप—

(अ) प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा॥[2] (भामह)

(ब) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।[3]
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ (मम्मट)

(२) विभावना—

(अ) क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥[4] (भामह)

(ब) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना॥[5] (मम्मट)

(३) भाविक—

(अ) भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥[6] (भामह)

(ब) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।[7]
तद्भाविकम्। (मम्मट)

इसप्रकार हम देखते हैं कि भामह के 'काव्यालंकार' में ध्वनि स्फुटतया तो व्यक्त नहीं है, किन्तु इस दिशा की ओर प्रयास अवश्य है।

भामह के अनन्तर दण्डी का 'काव्यादर्श' आता है। 'काव्यादर्श' के टीकाकार रङ्गाचार्य रेड्डी ने दण्डी के काव्यलक्षण में ही व्यङ्ग्य तत्त्व की स्थिति का निर्देश

---

१. आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, पृ० २९१.

२. काव्यालंकार, २.६८.

३. काव्यप्रकाश, १०.१०६, सूत्र १६०, पृ० ४९७.

४. काव्यालंकार, २.७७.

५. काव्यप्रकाश, १०.१०७, सूत्र १६१, पृ० ४९८.

६. काव्यालंकार, ३.५३.

७. काव्यप्रकाश, सूत्र १७२, पृ० ५०९.

किया है। इनका काव्यलक्षण है 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'।[१] इसमें रङ्गाचार्य ने 'इष्टत्व' की व्याख्या 'इष्टत्वं च साहित्यशास्त्रे चमत्कारपूर्वकवर्णनाभिलाष:'[२] से और 'अर्थ' की 'तत्र अर्थो वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदेन त्रिविधः। ...एवं च आचार्यदण्डिनो मते रमणीयार्थोपस्कृतं सुन्दरं वाक्यमेव काव्यमिति निष्पन्नम्[3] से की है। क्योंकि उनका कथन है कि इष्टार्थ सदैव वाच्य ही नहीं होता है अपितु लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य भी होता है।

माधुर्य गुण के लक्षण के प्रसंग में दण्डी कहते हैं 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः[४] रसवत् वाक्य को मधुर कहा जाता है, फलतः रस तथा माधुर्य एक वस्तु है। गुणों को आचार्यों ने साक्षात् या परम्परया रस का उपकारक माना है, तव यहाँ पर माधुर्य नामक गुण को रसस्वरूप कैसे कहा जाता है, इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये—'वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' यह अंश कहा गया है। शव्द तथा अर्थ दोनों में व्यञ्जकतया रस रहता है, तव रस व्यञ्जक वर्णरचनाशालित्व या रसव्यञ्जकार्थशालित्व, यही माधुर्य का लक्षण सिद्ध होगा। इसके समर्थन में उपमा प्रस्तुत की है—'येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः'[५] इसप्रकार हम देखते हैं कि माधुर्य को ही रस स्थानीय मान कर लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया गया है। किन्तु यहाँ 'रस' शव्द के प्रयोग से हमें इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि दण्डी का तात्पर्य शृंगारादि रसों से है। क्योंकि रसवत् अलंकार के वर्णन के प्रसंग में स्वयं दण्डी ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है—

'वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्।'[६]

स्पष्ट है कि माधुर्य गुण के सन्दर्भ में जिस रस की चर्चा दण्डी ने की है उसका सम्वन्ध वाक्य की अग्राम्यता के हेतुभूत रस से है। शृंगारादि आठ रसों पर निर्भर वाक्य की रसवत्ता का वर्णन उन्होंने रसवदलंकार वर्णन के प्रसंग में विस्तार से किया है। वस्तुतः दण्डी का यह स्पष्ट मत है कि काव्य में रस का वहन सर्वाधिक रूप में अग्राम्यता ही करती है।

माधुर्य गुण के प्रसंग में सभ्यजन व्यवहार्य एवं असभ्यजन व्यवहार्य भाषा के

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १.१०.
२. काव्यादर्श, १.१०, रङ्गाचार्यरेड्डी की टीका, पृ० ८.
३. वही, पृ० ९.
४. दण्डी, काव्यादर्श, १.५१.
५. वही, १.५१ का उदाहरण.
६. वही, २.२९२.

अन्तर को स्पष्ट करते हुये उदाहरणों में उन्होंने विदग्धजन कथन प्रणाली की जो प्रशंसा की है और दोनों में जो भेद स्थापित किया है, वह काव्य में अभिधेयार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की स्थिति को पुष्ट करता है—

'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।'[1]

चूँकि शृङ्गार यहाँ वाच्य हो गया है अतः प्रकृत श्लोक ग्राम्यजन व्यवहार्य भाषा को इंगित कर रहा है।

"कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निष्ठुरः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्टयेत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ।।"[2]

उक्त भाव ही वचन भंगिमा की भिन्नता के साथ उपस्थित होकर, सहृदयजन श्लाघ्य एवं संवेद्य हो उठा है। इसप्रकार अग्राम्य अर्थ रसावह होता है, यह कथन व्यङ्ग्यार्थ की पुष्टि कर देता है।

दण्डी के अनुसार उदारता गुण का लक्षण है—

'उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ।।'[3]

जिस वाक्य के प्रयुक्त होने पर उस वाक्यार्थ के द्वारा वर्णनीय वस्तु के लोकोत्तर चमत्कार की अवगति हो, उसमें उदारता नामक गुण होता है एवं उससे काव्यमार्ग सफल होता है। काव्य का प्रयोजन चमत्कार ही माना जाता है, उदारता से चमत्कार का पोषण होता है, अतः उदारता को काव्य का जीवन माना गया है। यहाँ पर 'प्रतीयते' पद में डॉ० भोलाशंकर व्यास ने[4] व्यञ्जना स्वीकार की है। इस गुण के उदाहरण में जो श्लोक दण्डी ने लिखा है उससे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

'अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ।।
इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु लक्ष्यते ।
अनेनैव पथान्यच्च समानन्यायमूह्यताम् ।।'[5]

---

१. वही, १.६३.
२. काव्यादर्श, १.६४.
३. वही, १,७६.
४. डॉ० भोलाशंकर व्यास, ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३७३.
५. काव्यादर्श, १.७७-७८.

प्रकृत श्लोक में राजा के दान के उत्कर्ष को अभिधेतर शक्ति से ही प्रकट किया है, जिसे कि स्वयं दण्डी ने भी 'लक्ष्यते' पद के द्वारा लक्षित किया है। या दूसरे शब्दों में कहें तो 'लक्ष्यते' पद आचार्य के द्वारा 'व्यज्यते' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

'पर्यायोक्त'[1] अलंकार के लक्षण में वाचक शब्दों के विना 'यत्प्रकारान्तरख्यानं' शब्द का प्रयोग किया है, उसके सम्वन्ध में व्याख्याकार श्रीरामचन्द्र मिश्र का कथन है 'यत् प्रकारान्तरेण चमत्कारजनक भङ्गिविशेषेण आख्यानं व्यञ्जनया प्रतिपादनं तत्पर्यायोक्तं नामालङ्कारः।'[2] क्योंकि इवादि वाचक शब्दों के अभाव में साम्य प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही सम्भव होगी।

इसीप्रकार 'भाविक'[3] अलंकार के लक्षण के प्रसंग में प्रयुक्त 'व्यक्ति' पद अभिव्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

आक्षेप के विविध भेदों में से अनुज्ञाक्षेप का वर्णन करते समय जो यह उदाहरण आचार्य ने दिया है—

'न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति।
यदि यास्यसि यातव्यमलमाशङ्कयात्र ते ॥'[4]

इसमें किसी भी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं है, जिससे मरण को वाच्य कहा जा सके, अतः उसे व्यङ्ग्य ही माना जा सकता है।

भामह के समान दण्डी को भी व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता का भान तो था परन्तु वे उसे किसी विशिष्ट वृत्ति का अभिधान नहीं प्रदान कर सके।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यातमा की चर्चा सर्वप्रथम वामन ने ही की है। यद्यपि 'आत्मा' की चर्चा करके भी वे शब्दार्थ शरीर के मोह जाल में ही फँसे रह जाते हैं, क्योंकि उनकी रीति तो विशिष्टपदरचना रूप है और जो विशिष्ट—गुण है (विशेषोगुणात्मा) वह भी शब्दार्थनिष्ठ धर्म है 'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः'। इसी कारण वामन को देहवादी आचार्य माना जाता है। किन्तु फिर भी आनन्दवर्धन को ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा इनसे मिली है, जिसका स्पष्ट निर्देश ध्वनिकार ने 'अस्फुटस्फुरितं' के द्वारा किया है।

वामन ने अभिधेयार्थ के दो भेद माने हैं—'अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च'[5] और इसमें

---

१. काव्यादर्श, २.२९५.
२. वही, श्रीरामचन्द्र मिश्रकृत टीका, पृ० १८९.
३. व्यक्तिरुक्तिक्रमवलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः। २.३६६.
४. काव्यादर्श, २.१३५.
५. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, ३.२.९.

से सूक्ष्म के भी दो भेद होते हैं—'सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च'[1] शीघ्र जो अर्थ जाना जाये उसे भाव्य कहते हैं तथा ध्यान से जो अर्थ समझा जाये—वह वासनीय अर्थ है। कामधेनु टीकाकार ने भाव्य को रस कोटि का और वासनीय का समावेश अविवक्षितवाच्य व्यङ्ग्य के अन्तर्गत होगा, यह सिद्ध किया है। अर्थगुण कान्ति में तो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।

'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[2] से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि इन्हें अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा का भी ज्ञान था। साथ ही उक्त वर्णन से स्फुटरूपेण व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति की भी अवगति होती है।

उद्भट का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' उपलब्ध है जिसमें इन्होंने मात्र ४१ अलंकारों का निरूपण किया है। अतः शब्दशक्तियों से सम्बन्धित इनके विचारों को समझना दुष्कर है। फिर भी अलंकारों में ही यत्र-तत्र कुछ निर्देश मिल जाते हैं। उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने भामह के ग्रंथ पर 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी थी जो अधुना अनुपलब्ध है, किन्तु उस ग्रन्थ के सन्दर्भ कुछ काव्य-शास्त्रियों के द्वारा उद्धृत हैं। उससे भी इनके मतों का सम्यक् परिज्ञान होता है। यथा भामह के 'शब्दछन्दोऽभिधानार्थः' की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है 'शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो गुणवृत्तिश्च' अर्थात् शब्दों का अभिधान मुख्य अभिधा व्यापार और गुणवृत्ति है।

इन्होंने लक्षणा को गुणवृत्ति नाम से अभिहित किया है। अभिधा व्यापार का इन्होंने स्पष्टतः तीन स्थानों पर उल्लेख किया है। रूपक[3] की परिभाषा में अभिधा व्यापार के द्वारा, 'व्याजस्तुति'[4] में 'शब्दशक्तिस्वभावेन' के द्वारा तथा 'पर्यायोक्त'[5] में 'वाचकवृत्ति' के प्रयोग के द्वारा। पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण प्रसंग में इन्होंने अवगमन व्यापार का उल्लेख किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्हें अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीनों शक्तियों का ज्ञान था।

---

१. वही, ३.२,१०.

२. वही, ४.३.८.

३. श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्ति-प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥ १.११, पृ० २६८.

४. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निंदेव गम्यते॥ ५.९, पृ० ३८१.

५. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ काव्यालंकारसारसंग्रह, ४.६, पृ० ३५१.

क्योंकि लोचनकार ने भी व्यञ्जना के लिए अवगमन व्यापार शब्द स्वीकार किया है—'तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यंजन-प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।'[1]

रुद्रट एवं आनन्दवर्द्धन के समय में अधिक का अन्तर नहीं है। डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने तो इन दोनों को समसामयिक ही माना है। अतः रुद्रट को ध्वनितत्त्व का भान न हो यह तो माना ही नहीं जा सकता, यह दूसरी बात है कि उन्होंने उसका स्फुटरूपेण उल्लेख नहीं किया है। अलंकारों पर ही उनका अधिक संरम्भ रहा। फिर भी ध्वनि तत्त्व कहीं-कहीं प्रकाश में आ ही गया है। यथा रुद्रट ने वक्रोक्ति को एक अलंकार के रूप में स्वीकार किया है जिसके दो भेद हैं—(अ) श्लेष वक्रोक्ति (ब) काकु वक्रोक्ति।[2] श्लेष वक्रोक्ति में तो श्लिष्ट पद की सहायता से दूसरा अर्थ निकलता है किन्तु काकु वक्रोक्ति में तो कंठ ध्वनि से ही प्राकरणिक अर्थ से भिन्न दूसरे अर्थ की प्रतीति हो पाती है जिसे कि परवर्ती आचार्यों ने काक्वाक्षिप्त व्यंग्य स्वीकार किया है।

इसीप्रकार से भाव अलंकार का प्रथम लक्षण[3] एवं द्वितीय उदाहरण[4] लोचन में उद्धृत है, जिसे कि अभिनवगुप्त ने गुणीभूतव्यङ्ग्य स्वीकार किया है। इसीप्रकार रुद्रट को परिसंख्या,[5] गम्योपमा, समासोक्ति[6], अन्योक्ति,[7] आदि अलंकारों में अर्थान्तर प्रतीति मान्य है।

---

१. लोचन, पृ० ६०.

२. विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥ २.१६.

३. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥ ७.३८.

४. एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
मस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढपान्थ॥ ७.४१.

५. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ ७.७९.

६. सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः॥ ८.६७

७. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः॥ ८.७४.

उक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ध्वन्यभाववादी आचार्यों में ध्वनि का वीज रूप में उल्लेख हुआ है। किन्तु फिर भी ध्वन्यभाववादी आचार्यों का मुख्य प्रतिपाद्य अलंकार या काव्य का वाह्य तत्त्व ही रहा है। यही कारण है कि काव्य के अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की अपेक्षा ने ध्वनि सम्प्रदाय का अविर्भाव किया। यह दूसरी वात है कि ध्वनिकार में एक सामञ्जस्य की दृष्टि है, उन्होंने किसी भी सिद्धान्त या सम्प्रदाय की उपेक्षा नहीं की, अपितु ध्वनिरूप आत्मा के अङ्ग के रूप में उन सभी को स्वीकार कर लिया। इसे ही हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ध्वनि सम्प्रदाय समन्वयवादी है।

ध्वनि सम्प्रदाय में पूर्व आचार्यों के विचार का उपयोग

ध्वनिकार समन्वयवादी आचार्य हैं। ध्वनि की आत्म तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा करके अन्य समस्त पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का इन्होंने तिरस्कार नहीं किया अपितु महा-विषयत्व से युक्ति ध्वनिरूप अंगी के अंग के रूप में गुण, अलङ्कार, रीति एवं शब्द तथा अर्थ को समाहित कर लिया है। अतः पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन तत्त्वों को काव्य के आत्मरूप में प्रतिष्ठित किया था उनको इन्होंने शरीर रूप में रूपायित कर दिया। उन्होंने इन समस्त तत्त्वों को एक माध्यम या साधक के रूप में अंकित किया है, जो रसध्वनि रूप अंगी के निमित्त ही होते हैं। गुण, दोष, औचित्य, अलङ्कार सभी रस या ध्वनि की दृष्टि से ही बनते हैं। ये तत्त्व सापेक्ष हैं—निरपेक्ष नहीं और यह सापेक्षत्व ध्वनि या रस को लेकर ही है, अतः वह प्रधान है तथा जिनमें सापेक्षत्व है वे निश्चितरूपेण अप्रधान हो ही जायेंगे।

(१) ध्वनिपूर्वयुग में गुण शब्दार्थ निष्ठ धर्म माना जाता था। गुण एवं अलङ्कार में विभाजन का कोई मानदण्ड नहीं था—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशय हेतवस्त्वलङ्काराः"[१] मात्र यही अन्तर गुण एवं अलङ्कार में था। आनन्दवर्द्धन ने इसमें परिष्कार किया। उन्होंने गुणों को रसनिष्ठ माना तथा अलंकारों को शब्दार्थनिष्ठ। इस प्रकार गुणों की नित्यता का प्रतिपादन किया—

"तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥"[२]

इन गुणों को गुणवृत्ति से शब्दार्थनिष्ठ माना जा सकता है, 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता:[३] क्योंकि "वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः[४]" वर्ण

१—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३·१·१, ३. १·२.
२. ध्वन्यालोक, २·६.
३. काव्यप्रकाश, सूत्र ९४, पृ० ३९०.
४. वही, सूत्र ९७, पृ० ३९३.

समास एवं रीति के द्वारा ही गुण व्यञ्जित होते हैं अतः परम्परया गुण शब्दार्थनिष्ठ भी माने जा सकते हैं।

(२) दोषों के सम्बन्ध में भी पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई मानक बिन्दु नहीं निर्धारित किया था, यद्यपि नित्य दोष एवं अनित्य दोषों की चर्चा भामहादि ने भी की है तथा श्रुतिकटुत्व, नेयत्व, क्लिष्टत्व, दुःश्रवत्व आदि अनेकानेक दोषों की परि-गणना भी की है। किन्तु घूम-फिर कर वे शब्दार्थों के ही कटघरे में आ जाते हैं। गुणों की ही भाँति ध्वनिवादी आचार्यों ने दोषों में नित्यत्व एवं अनित्यत्य रूप से दो विभाग तो किये ही हैं, साथ ही रस को ही मुख्यतया आधार बनाकर दोषों में दोषत्व की स्थापना की। दोषों का सम्बन्ध मात्र शब्दार्थ से नहीं है, रस के अपकारक होने से ही उनमें दोषत्व आता है। जैसाकि मम्मट ने तो स्पष्ट ही कहा है—

"मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥"[1]

अर्थात् मुख्यार्थ का जिससे हनन होता है वही दोष है और मुख्यार्थ है रस तथा रस का आश्रय है वाच्य एवं वाच्य के आश्रय हैं शब्द तथा अर्थ अर्थात् शब्द एवं अर्थ से ही चूँकि वाच्यार्थ व्यञ्जित होता है, अतः शब्द एवं अर्थ के दोषों से वाच्यार्थ दूषित होगा, तो रस में भी दोष आयेगा। परम्परया रसव्यञ्जना में अपकारक होने के कारण शब्दगत एवं अर्थगत दोष भी माने जाते हैं।

(३) अलंकार को तो काव्य की आत्मा या काव्य का सर्वप्रधानभूत तत्त्व माना ही नहीं जा सकता है। वह तो नितान्त बाह्य तत्त्व है। शरीर पर भी आरो-पित धर्म है। अंगी तो खैर नितान्त पृथक् वस्तु है, अंग का भी अंगत्व अलंकारों के अभाव में व्याहत नहीं होता है। अलङ्कारों का आधान मात्र उसमें शोभा की वृद्धि कर देता है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि अलङ्कार सदैव शोभावर्धक ही होंगे— यह भी आवश्यक नहीं है। अलङ्कार जबतक रस समाहित चित्त से अनायास ही उद्भूत होता है तभी तक वह काव्यशोभावर्धक होता है। यदि वह रस की अनुभूति से पृथक् होकर बौद्धिक प्रयत्न से ही समझ में आये, तो कष्ट कल्पना के कारण चित्रकाव्य का विषय हो जाता है। साथ ही अलङ्कारों का प्रयोग तभी तक करना चाहिये जबतक कि वह भार न बन जाये। अन्यथा बहुत दूरी तक अपनाने में वह रसापघातक बन जाता है। इसीलिये अलङ्कारों के प्रति कवियों का आग्रह समदृष्टि-मूलक ही होना चाहिये। इसप्रकार अलङ्कार भी वस्तुतः रस की दृष्टि से ही अलं-कारत्व तक पहुँचता है। जहाँ भामह की यह मान्यता है कि "न कान्तमपि निर्भूषं

---

१. वही, सप्तम उल्लास, सूत्र ७१, पृ० २६६.

विभाति वनिताननम्"[1] वहाँ ध्वनिकार की मान्यता नितान्त इसके प्रतिकूल है। भामह के अनुसार लावण्य का गौण तथा अलङ्कार का प्रधान स्थान है जबकि ध्वनिकार के मत में अलङ्कार का गौण तथा लावण्य का प्रधान स्थान है। ध्वनिकार के अनुसार काव्य में अलङ्कार तभी ग्राह्य हो सकते हैं जबकि—

"रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥"[2]

उसकी स्थिति रसबाधक न हो।

(४) वृत्ति के नाम से जिन अनुप्रास[3] के भेदों की कल्पना "काव्यलंकारसार-संग्रह" के रचयिता उद्भट ने की थी—वे भी रसमुखापेक्षी ही हैं। क्योंकि सभी वृत्तियाँ सभी स्थलों पर ग्राह्य नहीं होती हैं। रस विशेष के साथ सम्बद्ध वृत्ति ही तद्-तद् स्थानों पर शोभित होती है एवं चमत्कारावह बनती है। भारती, कैशिकी, सात्वती एवं आरभटी आदि अर्थ वृत्तियाँ तो रस पर निर्भर ही हैं।

(५) इसी प्रकार वामन ने जो रीति को काव्य की आत्मा कहा है वह भी उचित नहीं है। "विशिष्टा पदरचना रीतिः"[4] तथा "विशेषो गुणात्मा"[5] से रीति गुणों पर आश्रित है, गुण रस पर निर्भर है अतः परम्परया रीति भी रसमुखा-पेक्षी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि सम्प्रदाय में पूर्व आचार्यों के विचारों का उपयोग साधन के रूप में किया गया है।

ध्वनिपूर्व अलंकारशास्त्रीय सम्प्रदाय : सामान्य परिचय

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट प्रतिहारेन्दुराज आदि हैं। डे महोदय ने तो दण्डी को अलंकार सम्प्रदाय का आचार्य न मानकर रीति एवं गुण सम्प्रदाय का आचार्य मानना अधिक उचित समझा है।[6] किन्तु प्रोफेसर वी० राघवन् ने दण्डी जो अलंकार सम्प्रदाय का ही आचार्य माना है। उनका मन्तव्य है कि

---

१. भामह, काव्यालङ्कार, १. १३.
२. ध्वन्यालोक. २·१६.
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० २५७-५९.
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.७.
५. वही, १.२.८.
६. डॉ० एस० के० डे, हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ७५.

दण्डी भामह से भी अधिक अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक हैं।[1] इन आचार्यों को अलंकार सम्प्रदाय में अन्तर्भूत करने का प्रमुख कारण है इनका अलंकारवादी होना। इन लोगों ने काव्य में अलंकारों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सामान्य रूप से अलंकार का अर्थ होता है—अलंकरोतीति अलंकारः अथवा अलंक्रियतेऽनेन सोऽलंकारः—जो अलंकृत करे या जिसके द्वारा अलंकृत किया जाये उसे अलंकार कहते हैं।

"भामह के अनुसार शब्द और अर्थ सहित रूप में काव्य हैं। वैदर्भ और गौडीय शब्दार्थ के ही रचनात्मक विशिष्ट रूप हैं, अतः ये दोनों मार्ग काव्य के अनिवार्य किंवा सामान्य रूप नहीं हो सकते। अर्थात् इसके बिना भी काव्य का स्वरूप उपपन्न है। इसका मतलब यह हुआ कि अलंकारवत्ता आदि सामान्य गुण शब्दार्थ रूप काव्य के नित्य धर्म हैं और यदि शब्दार्थ अपनी रचना विशेष में वैदर्भ और गौडीय मार्ग का रूप ग्रहण करते हैं, तो वहाँ भी अलंकारवत्ता आदि धर्म अनिवार्यतः मौजूद रहेंगे। अतः वक्रोक्ति आदि अलंकारों के बिना शब्दार्थ रूप काव्य का स्वरूप ही नहीं बनता। फलतः अलंकारवत्ता आदि को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण भामह अलंकारवादी आचार्य हैं और फिर क्योंकि यह अलङ्कारवत्ता आदि शब्दार्थ की है अतः शब्दार्थ ही यहाँ अलंकार्य ठहरते हैं।...इसप्रकार भामह के अनुसार वैदर्भ और गौडीय मार्ग (रीति) काव्य के भीतर अप्रधान, अनित्य और अनियत तत्त्व हैं, जबकि 'अलंकारवत्ता' आदि उनके यहाँ प्रधान, नित्य और नियत धर्म हैं।"[2] भामह ने तो सौन्दर्य को भी अलंकाराधीन माना है। "न कान्तिमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्" इस कथन के द्वारा इन्होंने काव्य एवं अकाव्य का नियामक अलंकार को ही स्थिर किया है। यही कारण है कि भामह ने काव्य में लोकातिक्रान्तगोचरता आवश्यक मानी है, जिससे काव्य में चारुता का सन्निवेश होता है—

> "सैषा सर्वैववक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।"[3]

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[4] के द्वारा उन्होंने शब्द एवं अर्थ को काव्यत्व का

---

१. Really Dandin belongs to the Alamkara school, much more than Bhamaha.
V. Raghvan, Studies on some concepts of the Alamkara Sastra, p. 156

२. डॉ० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग प्रक्रिया, पृ० २८७–८८.

३. काव्यालंकार २.८५

४. वही, १.१६.

प्रयोजक माना है, किन्तु शब्द एवं अर्थ में वक्रता अलंकारों के द्वारा आती है, इसी-लिये ये अलंकार को काव्य का मूलाधार मानते हैं। इन्होंने उत्कृष्ट काव्य, गुणों से युक्त काव्य को भी केवल वक्रोक्ति हीनता के कारण "श्रुतिपेशल" कहा है।

"अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥"[1]

भामह वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल स्वीकार करते हैं और उसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि—

"न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः॥"[2]

आचार्य दण्डी ने तो काव्यशोभाकर समस्त धर्मों की परिगणना अलंकारों के अन्तर्गत की है; ये धर्म अनन्त हैं जिनकी परिगणना सम्भव नहीं है—

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥"[3]

इस प्रकार दण्डी के अनुसार अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। यही कारण है कि ये रस आदिको भी रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत ही मानते हैं—

"प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
उर्जस्वि रुढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्॥"[4]

ये दृश्यकाव्य एवं श्रव्य काव्य के सभी तत्त्वों को अलंकारों के ही अन्तर्गत परिगणित कर लेते हैं—

"यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥"[5]

इस प्रकार दण्डी की दृष्टि में अलंकारों का कितना महत्त्व है यह स्पष्ट हो जाता है।

वामन यद्यपि रीतिवादी आचार्य हैं परन्तु अलंकारवादियों के प्रभाव से नितान्त अस्पृष्ट नहीं। ध्वनिपूर्वकाल में अलंकारों के व्यापक अर्थ में प्रयोग का निर्देश इन्होंने "सौन्दर्यमलंकारः"[6] के द्वारा किया है तथा काव्य की ग्राह्यता अलंकारों पर

---

१. वही, १·३४.
२. वही, १·३६.
३. काव्यादर्श, २. १.
४. वही, २.२७५.
५. वही, २.३६७.
६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·१·२,

आधारित है इसका निर्देश इन्होंने "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्"[१] के द्वारा कर दिया है।

उद्भट ने तो अपने "काव्यालंकारसारसंग्रह" में अन्य समस्त काव्य तत्त्वों की उपेक्षा करके मात्र ४१ अलंकारों का निरूपण किया है। यह निरूपण ही उनके अलंकारवादित्व को स्पष्ट कर देता है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि को इन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, उर्जस्वि और समाहित अलङ्कारों में समाविष्ट कर दिया है। साथ ही आक्षेप, समासोक्ति, पर्यायोक्त,[२] आदि अलङ्कारों में व्यङ्ग्य अर्थ को वाच्यार्थ का उपकारक प्रतिपादित किया है।

अलङ्कारवादी आचार्यों में रुद्रट का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अलङ्कार के प्राधान्य को प्रतिपादित करने के लिये ही उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्कार" रखा है—'काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति।[3] काव्य के प्रयोजन का निर्देश करते हुये उन्होंने कहा है—

"ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि॥"[४]

अर्थात् दैदीप्यमान (अलङ्कारयुक्त) तथा निर्मल (निर्दोष) रचना का निर्माता महाकवि, सरस काव्य की रचना करता हुआ—अपने तथा नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है। इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि वे काव्य में अलङ्कार तथा दोषाभाव को आवश्यक मानते हैं।

अलङ्कार सम्प्रदाय के विकास के क्रम में ध्वन्युत्तर काल में जयदेव आते हैं—जिन्होंने अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य गुण माना है। उनके मतानुसार काव्य अलङ्कार के अभाव में अपने स्वाभाविक गुण से रहित हो जायेगा। इसीलिए वे मम्मट के काव्यलक्षण[५] का खण्डन करते हुये कहते हैं—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥"[६]

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि और उष्णता में अविभाज्य सम्बन्ध है उसी प्रकार काव्यगत शब्दार्थ और अलङ्कार को पृथक् नहीं किया जा सकता है।

---

१. वही, १·१·१,
२. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥४।६
३. काव्यालङ्कार, १·२.
४. वही, १·४.
५. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि, सूत्र १, पृ० १९.
६. जयदेव, चन्द्रालोक, १·८.

रीति एवं गुण सम्प्रदाय

"रीतिरात्मा काव्यस्य"[१] के द्वारा रीति को साम्प्रदायिक स्वरूप देने का श्रेय तो वामन को ही है किन्तु रीति सिद्धान्त का आविर्भाव 'रीति' शब्द के उद्भव के पूर्व ही भामह और दण्डी के काव्य सिद्धान्तों में 'मार्ग' पद के द्वारा हो चुका था। 'रीति' शब्द 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर बनता है, जिसका अर्थ मार्ग या पद्धति है।

अनेक काव्यशास्त्री भरत की प्रवृत्तियों की गणना परवर्ती रीति में करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि भरत ने जिन आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्मागधी और पाञ्चाली-नामक चार प्रवृत्तियों का निर्देश किया है—वह देशीय वेष विन्यास को आधार बनाकर अभिनय की दृष्टि से किया गया है।

आचार्य भामह ने परम्परागत–गौडीय एवं वैदर्भी दो मार्गों का उल्लेख किया है। भामह उत्तम काव्य का मानदण्ड वैदर्भ या गौड अभिधान को नहीं मानते हैं। काव्य की उत्तमता का आधार उन्होंने वक्रोक्ति को माना है।

आचार्य दण्डी ने वैदर्भ एवं गौड इन दो मार्गों को स्वीकार किया है और इन दोनों में विभाजन भौगोलिक भाषा शैली को आधार बनाकर किया है। उस काल में मार्गों के अनेक भेद थे, इसका भी उन्होंने संकेत किया है—

"अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥"[२]

इसीलिये दण्डी का कथन है कि प्रतिकवि स्थित रीति की गणना असम्भव है–

"तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः"[३]

वैदर्भ एवं गौड मार्ग का विभेदक इन्होंने भी गुण को ही स्वीकार किया है। ये गुण संख्या में दस हैं—

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः॥"[४]

और इनका विपर्यय ही गौड मार्ग है—

"एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।"[५]

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.६.
२. काव्यादर्श, १.४०
३. वही, १.१०१
४. वही, १.४१–४२.
५. वही, १.४२.

आचार्य वामन ने तो रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। यत्न इसलिये कि मात्र 'आत्मा' शब्द के प्रयोग द्वारा ही किसी वस्तु का आत्मत्व सिद्ध नहीं हो जाता है किन्तु यही बात वामन के साथ घटित हुई है। उन्होंने एक तरफ तो रीति को काव्य की आत्मा कहा है और दूसरी तरफ उसे 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'[1] कहकर शब्दार्थ तक सीमित कर देते हैं। 'विशिष्ट' पद गुणात्मकता का आधान करता है। और गुण अन्ततः शब्दार्थ निष्ठ धर्म स्वीकार किये गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्डी एवं वामन ने रीति के साथ गुण का अभिन्न सम्बन्ध माना है। अन्तर केवल इतना है कि दण्डी रीति के माध्यम से गुणों को अधिक महत्त्व देते हैं जबकि वामन गुण के माध्यम से रीति को अधिक महत्त्व देते हैं।

भामह और दण्डी मात्र वैदर्भी और गौडी रीति को मानते थे, वामन ने एक और नवीन रीति की उद्भावना की है—पाञ्चाली। इस प्रकार इनके यहाँ रीतियों की संख्या दो से बढ़कर तीन हो जाती है।

रुद्रट ने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली में लाटीया नामक एक और रीति जोड़ी है। साथ ही रीति सम्प्रदाय को रुद्रट ने एक नवीन दृष्टि भी प्रदान की है। अब तक रीति का विभाजन भौगोलिक या वैयक्तिक आधार पर होता था जिसे रुद्रट ने वैषयिक सीमा में आबद्ध कर दिया। जैसे कि शृङ्गार एवं करुण रसों में वैदर्भी तथा पाञ्चाली रीति आती है तथा भयानक, अद्भुत जैसे रसों में लाटीया तथा गौडीया का प्रयोग होता है। यह तो रीतियों के विभाजन की एक दृष्टि है। रीतियों के विभाजन का द्वितीय आधार इन्होंने समास को स्वीकार किया है। पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया में उत्तरोत्तर समास प्राचुर्य को ये स्वीकार करते हैं। वैदर्भी रीति में समास का सर्वथा अभाव रहता है।

रीति के विकास के तीन चरण या सोपान हैं। प्रथम भौगोलिक भाषा शैली के रूप में, द्वितीय वैक्तिक भाषा शैली के रूप में और तृतीय रसोचित या विषयोचित भाषा शैली के रूप में जो कि रीति के विकास का चरम सोपान है।

इसी प्रकार यदि गुणों के ऐतिहासिक विकासक्रम पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि भरत मुनि ने दस काव्य दोषों के विपर्यय रूप दस काव्य गुणों को स्वीकार किया है। भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन ही गुण माने हैं। जबकि दण्डी भरत मुनि का ही अनुसरण कर दस गुण मानते हैं। उनके नाम भी वही हैं, जो भरत मुनि ने दसों गुणों के दिये हैं। मात्र उनसे स्वरूप में कुछ भिन्नता है। वे दस गुण हैं—

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·७.

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥" [1]

वामन ने इन दस गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद से बीस गुण माने हैं।

उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में गुणों का कोई उल्लेख ही नहीं किया है, यद्यपि गुण सम्बन्धी उनके मत का यत्किञ्चित् निर्देश 'ध्वन्यालोक' एवं 'काव्यप्रकाश' में मिल जाता है; जो कि गुणों की संख्या विषयक मत न होकर मात्र गुणालंकार प्रभेद विषयक ही है।[2]

रुद्रट ने भी अपने 'काव्यालंकार' में गुणों की चर्चा नहीं की है। 'काव्यालंकार' के द्वितीय अध्याय में सुन्दर वाक्य के कुछ लक्षण दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) अन्यूनाधिक वाचकत्व (२) सुक्रमत्व (३) पुष्टार्थशब्दत्व (४) चारुपदत्व (५) क्षोदक्षमत्व (६) अक्षुण्णत्व ।[3] टीकाकार नमिसाधु ने इन्हें ही रुद्रट के अनुसार काव्य गुण माना है।

आनन्दवर्द्धन ने गुणों की संख्या तीन मानी है—माधुर्य, ओज और प्रसाद। साथ ही गुण सम्बन्धी अबतक की विचारधारा को इन्होंने एक नवीन दिशा दी है। अबतक गुण शब्दार्थनिष्ठ धर्म माने जाते थे परन्तु इन्होंने गुणों को रसनिष्ठ सिद्ध किया। अलंकारों और गुणों में भेद स्थापित किया तथा गुणों की आत्मनिष्ठता के फलस्वरूप उसमें नित्यत्व की भी स्थापना की।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में ध्वनि सम्प्रदाय का आविर्भाव और उसका महत्त्व

ध्वनि का स्रोत

ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिस्थापना आचार्य आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक के आविर्भाव के साथ ही हुई है। 'ध्वन्यालोक' ने काव्यशास्त्रियों को वह आलोक दिया है कि काव्य के तिमिराच्छन्न अनुन्मीलितपूर्व पक्ष उद्भासित हो उठे और प्रकाश में आये। जिस प्रकार किसी रमणी के सुन्दर अवयवों से लावण्य फूटता हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार यह व्यङ्ग्य अर्थ भी काव्य में व्यक्त होता है। परन्तु यह अंगना

१. काव्यादर्श, १·४१.

२. एवं च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः" इत्यभिधानमसत् । काव्यप्रकाश (अष्टम उल्लास), पृ० ३८४.

३. अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥ २·८. काव्यालंकार

लावण्य उसके शरीर के अवयवों में स्थापित रहता हुआ भी उनसे नितान्त भिन्न है, उसी प्रकार यह भी काव्य के प्रसिद्ध अङ्गों से झलकता हुआ भी अन्य ही पदार्थ है। यही काव्य का चरम लावण्य है। इस काव्य लावण्य की ओर काव्यशास्त्रियों की दृष्टि तो गयी परन्तु सिद्धान्त रूप में उसका सम्यक् विवेचन आनन्दवर्द्धन से पूर्व न हो सका।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन आनन्दवर्द्धन से पूर्व न हो सका, इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इस ध्वनि तत्त्व की स्थिति पूर्ववर्ती काल में थी ही नहीं। आनन्दवर्द्धन ने तो स्वयं ही 'समाम्नातपूर्वः' के द्वारा उसकी पूर्वस्थिति का संकेत कर दिया है। साथ ही आदिकवि के आदि श्लोक में उसकी सत्ता को दिखाने का प्रयत्न किया है। "अनुन्मीलितपूर्व" और "सततमविदिततत्त्व" कहने से उनका अभिप्राय है कि उसका सिद्धान्त रूप में प्रतिपादन इसके पूर्व नहीं हुआ था। लोचन में अभिनवगुप्त ने भी इस बात को अधिक स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनिकार से पूर्व मौखिक रूप से ध्वनि पर विचार-विमर्श भले होता आया हो परन्तु उनसे पहले उस पर ग्रन्थ नहीं लिखे गये थे—"अविछिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तम् विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः।"[1]

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने वामन आदि आचार्यों के सम्बन्ध में "अस्फुट स्फुरित" का उल्लेख किया है। ध्वनि सम्प्रदाय की प्राचीनता का संकेत 'ध्वन्यालोक' की इन पंक्तियों से भी मिलता है—

"विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसञ्ज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥"[2]
सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त—
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीद्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो—
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥[3]

इन पंक्तियों को पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है कि ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त प्रसुप्तावस्था में विद्यमान था। इसी पौर्वकालिकता का संकेत ध्वनिकार ने "काव्यास्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"[4] यह कह कर किया है तथा लोचन-

---

१. लोचन, पृ० ११.
२. ध्वन्यालोक, ३·३४.
३. वही, पृ० ३६४.
४. वही, १·१.

कार ने इसकी व्याख्या के प्रसंग में "पूर्व" पद के अर्थ में कहा है कि "पूर्व ग्रहणेन इदम्प्रथमता नात्र संभाव्यते ।"[१]

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने भामहादि चिरन्तन आलंकारिकों के प्रतीयमान अर्थ को अलंकार रूप से कहने की रूचि का अपने ग्रन्थ के आदि में संक्षेप में उल्लेख किया है—

"इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसा-समासोक्त्याक्षेपव्याजस्त्युत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन "स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।' इति यथायोगं प्रतिपादितं तैः ।

रुद्रटेनापि भावालंकारो द्विधोक्तः । रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमालंकारो वाच्योपस्कारत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयः प्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकार-तया ख्यापितमेव ।[२]

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद्ध्वनि-भेदोऽलंकारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेनोक्ता ।

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् विषयमात्रेण भेद-प्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।"[3]

इस प्रकार ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आलंकारिकों में ध्वनि सिद्धान्त के बीज यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे । अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में ध्वनि का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु एक क्रमिक विकास का परिणाम है ।[४]

साहित्य के क्षेत्र में "ध्वनि" शब्द एक नया प्रयोग था किन्तु स्वरूपतः उसे ध्वनि के आधारभूत व्यङ्ग्य अर्थ की स्वीकृति द्वारा प्राचीन आचार्यों ने आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों में गौण रूप से ही सही संकेतित कर दिया था । 'रसगंगाधर' के "पर्यायोक्त" प्रकरण में पण्डितराजजगन्नाथ ने इसे पूर्णतः स्वीकार किया है—

---

१. लोचन, पृ० ११.
२. अलंकारसर्वस्व, पृ० ६.
३. रुय्यक, अलंकार सर्वस्व, पृ० १९.
. जैसा कि प्रोफेसर विश्वनाथ भट्टाचार्य का मत है—The approach to

"ध्वनिकाराद् प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः स्वग्रंथेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यतः समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसाद्यलंकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरश्चसर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपंचः पर्याय कुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभवसिद्धोऽर्थो वालेनाप्यपह्नोतु शक्यते। ध्वन्यादिशब्दैः परं व्यवहारो न कृतः न हृचेतावतानङ्गीकारो भवति।"[1]

अर्थात् ध्वनिकार के पूर्ववर्ती भामह, उद्भट, वामन आदि के लक्षण ग्रन्थों में तो कहीं पर भी ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि ये ध्वन्यमान अर्थ की सत्ता को ही नहीं स्वीकार करते, जैसाकि आधुनिकों का मत है। क्योंकि उन्होंने भी समासोक्ति, व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों के निरूपण द्वारा कुछ गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद प्रस्तुत किये हैं तथा समस्त ध्वनिप्रपंच का पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव किया है। ध्वन्यमान अर्थ को छिपाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह तो अनुभव सिद्ध वस्तु है। उन प्राचीन आलंकारिकों ने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, केवल इतने से ही ध्वनि की अस्वीकृति नहीं मानी जा सकती।

स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी इसका संकेत इन शब्दों में कर दिया है—"यद्यपि ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चिद् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि,

---

Kavya, during the interval, may be said to have been from the crude to the subtle. Starting with the external factors, the study of poetry developed slowly into a serious and deeper enquiry into all the essential elements. The progress may be pointed out thus:—from the Alamkara to the Riti· from the Riti to the Rasa; and from the Rasa to the Dhvani. These are the well-known schools of Sanskrit poetics, which hold the Alamkara, the Riti, the Rasa and the Dhvani to be the soul of poetry, and the evolution of these schools followed more or less a chronological order. R. C. Dwivedi (ed.), Principles of literary criticism in sanskrit, p. 180,

१. पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, टीकाकार पण्डित श्री मदनमोहन झा, (अतिशयोक्त्यलङ्कारादि समाप्तिपर्यंन्तो भागः), पृ० ३६०.

न लक्षितः"।[१] इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे। किन्तु वे वाच्य अर्थ की सीमा को तोड़ न सके। भामह, दण्डी, उद्भट प्रभृति आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल शरीर पक्ष ही प्रधान बना रहा। इसपर आनन्दवर्द्धन का कथन है कि "अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।"[२] अर्थात लक्षणकर्त्ताओं के समक्ष ही काव्य का यह (अन्तस्तत्त्व) उद्भासित नहीं हुआ था, अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थों में इसकी स्थिति तो आदिकवि के आदि काव्य से ही चली आ रही है। साथ ही आनन्दवर्द्धन ने प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के वाह्य तत्त्वों का उचित रूप से आदर करते हुये ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

चूँकि इस अध्याय में ध्वनि सम्प्रदाय के आविर्भाव को दृष्टिगत कराना है, अतः सम्प्रदाय के अर्थ को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत अलंकारशास्त्र में अनेकों सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ और इस बहुसंख्या का कारण काव्य की आत्मा का विवेचन है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से काव्य के आत्मतत्त्व का विवेचन किया और उसी के परिणामस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। अलंकारशास्त्र के इतिहास का पर्यालोचन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि अद्यावधि इसमें प्रमुख रूप से चार सम्प्रदाय ही प्रतिष्ठित हैं— रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय। यद्यपि कुछ लोग 'औचित्य' और 'वक्रोक्ति' को भी सम्मिलित कर छः सम्प्रदायों की स्थिति मानते हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने की वात है कि सम्प्रदाय के लिये पूर्वापर सम्बन्ध की आवश्यकता है। जो सिद्धान्त उद्भूत होने के पश्चात् परवर्ती काल में भी अन्य आचार्यों द्वारा मान्य होता है उसे ही हम सम्प्रदाय विशिष्ट की संज्ञा दे सकते हैं। "सम्प्रदाय की संज्ञा पाने का अधिकारी वही सिद्धान्त हो सकता है जिसकी कोई परम्परा हो अर्थात् जो किसी आचार्य का विशिष्ट मत होकर ही सीमित न रहे, प्रत्युत् परवर्ती आचार्यों द्वारा परिबृंहित तथा विकसित किया गया हो, तथा जिसके मानने वाले अनेक आचार्यों की सत्ता विद्यमान हो।"[3] इस कसौटी पर यदि हम ध्वनि सम्प्रदाय को कसते हैं तो वह खरा उतरता है अतः उसे हम सम्प्रदाय की संज्ञा दे सकते हैं।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ८–९.
२. वही, पृ० ९.
३. आचार्य वलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग १, पृ० १८५

व्याकरणदर्शन एवं ध्वनि

'ध्वनि' इस शब्द का ज्ञान साहित्यशास्त्रियों को वैयाकरणों से हुआ है इसी-लिये स्थान-स्थान पर वैयाकरणों के लिये साहित्यशास्त्रियों ने 'बुधैः', 'सुरिभिः' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यथा आनन्दवर्धन ने कहा है—"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः ।"[1]

इसीप्रकार मम्मट ने भी ध्वनि सिद्धान्त के मूल में वैयाकरणों के योगदान को स्वीकार किया है—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।"

बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूप व्यङ्ग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थ-युगलस्य ।"[2]

वास्तविकता यह है कि जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही अवभासित होता है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संसार के प्रायः सारे व्यापार वाग्-व्यापार पर ही निर्भर हैं—

"न सोऽस्ति प्रत्ययालोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।"[3]

इस वाक् के स्थूल एवं सूक्ष्म दो रूप हैं। सूक्ष्मरूप में वाक् ब्रह्ममय है और स्थूल रूप में वाक् भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सभी विद्यायें वाक् रूप से बुद्धि में निबद्ध हैं।[4] इस वाक् के चार अवयव माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ५३.

२. काव्यप्रकाश, सूत्र २, पृ० २८–२९.

३. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १. १२३.

४. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी ।
तद्वशादपि निष्पन्नं सर्ववस्तु विभज्यते ।। १.१२५
सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु ।। १.१२६
अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ।। १.१२७
भर्तृहरि—वाक्यपदीय ।।

परावाक् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वजनसंवेद्य नहीं है। योगावस्था की निर्विकल्पक समाधि में ही इसका साक्षात्कार योगियों को होता है—'स्वरूप ज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी'। यह ही प्रत्यक् चैतन्य है। इसमें वाच्यवाचकभाव रूप कोई भेद होता ही नहीं है।

पश्यन्ती को भर्तृहरि ने 'प्रतिसंहृतक्रमा' कहा है। यह भी लोकव्यवहार से अतीत होती है।

मध्यमा को भर्तृहरि ने 'अन्त:संनिवेशिनी' कहा है। इसमें वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित होते हैं। इसे ही व्याकरण में स्फोट नाम से पुकारा जाता है।

वैखरी सभी प्रकार के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। वैखरी की प्रमुख विशेषता यह है कि यह स्वसंवेद्य और परसंवेद्य दोनों है।

यहाँ हमारा मुख्य अभिप्रेत मध्यमा (स्फोट) और वैखरी है। यह ध्यातव्य है कि 'ध्वनि' का जो महत्त्व अलंकारशास्त्र में है वह ही महत्त्व व्याकरण में नहीं। व्याकरणदर्शन में स्फोट को प्रधानता दी गयी है तथा ध्वनि को गौण माना गया है। परन्तु काव्यशास्त्र में ध्वनिरूप अर्थ ही सर्वप्रधान अर्थ के रूप में स्वीकृत हुआ है।

वैयाकरण सुनाई देने वाले वर्णों को ध्वनि कहते हैं–'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि: शब्द इत्युच्यते (महाभाष्य, प्रथम खण्ड, पृ० १४)। उसी प्रकार उनके मत को मानने वाले काव्य तत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य, वाचक, व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार और काव्य पद से व्यवहार्य को 'ध्वनि' कहा है।

वैयाकरणों के साथ जो आलंकारिकों का सिद्धान्त साम्य प्रदर्शित किया गया है उसको समझने के लिये वैयाकरणों के 'स्फोटवाद' को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

स्फोट शब्द का अर्थ है 'स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ की प्रतीति हो उसे स्फोट कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ की प्रतीति सुनाई देने वाले वर्णों से नहीं होती, क्योंकि उनके क्रमिक और आशुतर विनाशी तथा तिरोभावी होने के कारण उनसे समुदाय रूप पद ही नहीं बन सकता है। इसलिये इन श्रूयमाण वर्णों से जिनको ध्वनि कहते हैं—पूर्वपूर्व वर्णानुभव जनित संस्कार सहकृत चरमवर्ण श्रवण से विद्यमान और पूर्व तिरोभूत समस्त वर्णों को ग्रहण करने वाली सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति होती है। यथा गकार, औकार और विसर्जनीय के योग से मिलकर बना हुआ जो 'गौः' पद गाय का बोध कराता है वह श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि नहीं है, उससे व्यक्त मानस 'स्फोट' है। क्योकि श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि तो क्षणिक है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब तक दूसरी ध्वनि

का उच्चारण किया जाता है, तब तक पहला ध्वनि रूप वर्ण नष्ट हो जाता है। अतः अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद की एकसाथ उपस्थिति ही नहीं बन सकती। जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा भी है—

"एकैकवर्णित्वाद् वाचः उच्चारितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्।
एकैकवर्णिनी वाक् न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति ॥"

इसी तरह पदों के समुदाय रूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में पदार्थ और वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये वैयाकरणों ने 'स्फोट सिद्धान्त' की कल्पना की है।

जैसे वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिये 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए ध्वनिकार ने 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जैसे ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है, वैसे ही ध्वनि सिद्धान्त में भी वाचक एवं वाच्य अर्थ प्रतीतमान अर्थ के व्यञ्जक माने गये हैं और व्यञ्जकव साम्यवश (व्यञ्जकत्व साम्याद् ध्वनिरित्युक्तः, ध्व.) उन्हें भी ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त का मूल स्रोत वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त में निहित बताया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैयाकरणों के यहाँ स्फोट तथा ध्वनि दोनों ही शब्द रूप हैं, जबकि काव्यशास्त्र में वह (ध्वनि) शब्दाश्रित वृत्ति के द्वारा अभिव्यंग्य है। इन दोनों में साम्य मात्र अर्थ की अभिव्यक्ति का है। काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है। उनमें से "ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि;" इस व्यञ्जना-व्यापार रूप अर्थ को प्रधानता प्राप्त है (क्योंकि इसी व्यापार के द्वारा ध्वनि का ज्ञान होता है)। ध्वनि का 'काव्य' रूप अर्थ में प्रयोग एक गौण प्रयोग है; क्योंकि काव्य में सभी प्रकार के अर्थ होते हैं 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' न्याय से ध्वनि शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है। परन्तु व्याकरण दर्शन में यद्यपि स्फोट को शब्द ब्रह्म माना गया है किन्तु वैखरी या ध्वनि का भी महत्त्व कम नहीं है। क्योंकि इसी के आधार पर तो शब्द का साधुत्व असाधुत्व आदि निर्धारित किया जाता है। शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व पर बल देने का क्या कारण है इसको सुस्पष्ट करते हुए कुछ लोगों का कहना है कि वैखरी का संस्कार अन्य सभी वाक् के अवयवों के संस्कार का उपलक्षण है। पतञ्जलि ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है उसमें कोई विकार नहीं आता है, जबकि वृद्धि, विस्तार इत्यादि विकार ध्वनि से होते हैं एवं ध्वनि का आभास स्पष्ट हो जाता है—

"स्फोटस्तावान् एव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः ।[1]
ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महाश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः ।।[2]

महाभाष्य के इस उद्धरण से स्फोट और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

इसी तथ्य को भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् में भी कहा है कि प्राकृत ध्वनि में कोई परिवर्तन नहीं आता है, वैकृत ध्वनि ही परिवर्तनशील है—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि सिद्धान्त की सृष्टि में स्फोटवादी विचारधारा का विशेष योगदान रहा है।

शब्द का सबसे पहला व्यापार अभिधा है जो संकेतित अर्थ को द्योतित करती है तथा संकेतित अर्थ वह है जिसे समाज ने व्यवहार और कोष के द्वारा मान्यता दे रखी है। जबतक व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं हो जाता कि इस विशिष्ट शब्द का 'यह ही' अर्थ है, तब तक उसे अर्थज्ञान नहीं हो सकता। यही कारण है कि छोटा बालक पहले कुछ नहीं समझता है फिर धीरे-धीरे शब्दों के अर्थों सहित संस्कार जैसे-जैसे उसके मन में दृढ़ होते जाते हैं वैसे-वैसे शाब्दबोध एवं भाषा प्रयोग की उसकी क्षमता बढ़ती जाती है। 'इसका अर्थ यह हुआ कि भाव के रूप में सुख-दुःख के ही संस्कार नहीं बनते अपितु ज्ञान के रूप में वस्तु के भी संस्कार बनते हैं और जिस प्रकार संस्कारात्मक भाव किसी न किसी कारण से उद्‌बुद्ध हुआ करते हैं उसीप्रकार संस्कारात्मक ज्ञान भी किसी न किसी कारण से ही उद्‌बुद्ध होते हैं। इसीलिये संस्कृत के वैयाकरण किसी भी अर्थ के स्फुटन (उद्‌घाटन) में ध्वन्यात्मक शब्द की वर्णानुपूर्वी के संस्कार को कारण मानते हैं।'[4]

ध्वनि काव्य और ध्वनि का स्वरूप

प्रश्न उठता है कि आखिर यह ध्वनि है क्या ? आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ।।[5]

---

१. पतञ्जलि, व्याकरण महाभाष्य, प्रथम खण्ड, १. १, ७० की वृत्ति, पृ० ३७८.
२. पतञ्जलि, व्याकरण महाभाष्य, प्रथम खण्ड, १.१ ७० की वृत्ति, पृ० ३७८
३. भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, १. ७७.
४. डॉ० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग प्रक्रिया, पृ० २१४.
५. ध्वन्यालोक, १.१३.

लक्षण का तात्पर्य ही है जो वस्तु के असाधारण धर्म को बतलाये—लक्षण न्त्वसाधारण धर्मवचनम्' क्योंकि लक्षण का प्रयोजन ही समान एवं असमान जाति से व्यवच्छेद करना है—समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः ।'

इस प्रकार ध्वनिलक्षण में आनन्दवर्द्धन ने यह सिद्ध कर दिया है कि जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करते हुये, उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् 'ध्वनि' कहते हैं। यहाँ पर ध्यातव्य है कि शब्द और अर्थ दोनों ही व्यञ्जक हैं—कभी शब्द व्यञ्जक होता है तो कभी अर्थ, केवल इसमें प्राधान्य की ही बात है। अन्यथा शब्द एवं अर्थ में तो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार का कथन है—

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्यव्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥[1]

और ये शब्द तथा अर्थ जिस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं वही काव्य का अलौकिक चमत्कारकारी पदार्थ है और सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला है। शब्द एवं अर्थ दोनों से पृथक् वह अवभासित होने वाला दूसरा ही कोई तत्त्व है जिसकी उपमा वनिताओं के लावण्य से दी जाती है। लावण्य न तो कोई अंग विशिष्ट है और न किसी विशिष्ट अंग में समाहित है अपितु समस्त अंगों के संतुलित योग के अनन्तर जो आह्लादक अनुभूति यह कहलवाती है कि 'हाँ यह सुन्दर है' वही लावण्य है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[2]

शब्द की तीन शक्तियाँ होती है—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अथवा तीन व्यापार होते हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इनमें से व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही ध्वनि बोध्य होती है। यह व्यञ्जना शाब्दी एवं आर्थी दोनों प्रकार की होती है। अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में संयोगादि द्वारा नियन्त्रण हो जाने पर भी जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती रहती है उस प्रतीति को कराने वाला शब्द व्यापार 'अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना' नाम से कहा जाता है। अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियन्त्रण करने के १४ कारणों का भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीयम्' में वर्णन किया है, जो निम्न हैं—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं-शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।

---

१. साहित्यदर्पण, २.१८.
२. ध्वन्यालोक, १.४.

सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।[1]

इस प्रकार आर्थी व्यञ्जना के नियन्त्रक निम्न कारण होते हैं--

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्टयात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।।[2]

उपर्युक्त तथ्यों से दो बातों का पता चलता है, व्यञ्जना की सूक्ष्मता और उसका असीम विस्तार। व्यञ्जना भाषा का स्थूल तत्त्व नहीं अपितु अत्यन्त अमूर्त एवं सूक्ष्म व्यापार है । शब्दों के प्रत्यक्ष संकेत से परे यह किसी और बात का बोध कराती है। परिस्थिति, विषय, काव्य आदि में निहित किसी अद्वितीय एवं चमत्कार-पूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्त करना ही व्यञ्जना व्यापार का ध्येय है।

अभिनवगुप्त ने भी शब्द शक्ति और रस प्रतीति के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार किया है। व्यञ्जना मार्ग से व्यंग्य व्यञ्जक प्रतीति को ही वे रस की सौन्दर्यानु-भूति मानते हैं तथा शेष सभी प्रकार के सम्बन्धों का निराकरण करते हैं। इसप्रकार व्यञ्जना ही हमारी कल्पना को जाग्रत कर हमारी वासना में स्थित मनोविकारों को चरम परिणति के आनन्द का आस्वाद कराती है। काव्य का समस्त चमत्कार, कहने के ढंग या अभिव्यक्ति के प्रकार पर ही निर्भर है। यही वाङ्मय की अन्य विधाओं से काव्य की विशेषता है। इसीलिये वामन का यह कथन कितना सटीक है जब वे कहते हैं कि—

'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु' ।।[3]

इसी प्रकार भामह ने भी 'सौशब्दय' पर विशेष बल दिया है। सम्भवतः उनकी यह मान्यता थी कि काव्य में अर्थज्ञान उतना महत्त्व नहीं रखता है जितना कि शब्दों का सुन्दर प्रयोग—

''तदेतदाहुः सौशब्दयं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी'।[4]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जब काव्य को कान्तासम्मित उपदेश की संज्ञा प्रदान

१. भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्, २.२१५–१६.
२. काव्यप्रकाश, ३.२१–२२, सू० ३७, पृ० ८२.
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.११ की वृत्ति पृ० १७.
४. काव्यालंकार १.१५.

की गयी है; तो अर्थ की उपेक्षा कथमपि सम्भव नहीं है किन्तु शब्द पर विशेष बल देने का अभिप्राय यह है कि कुछ विशेष शब्दों में ही विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य होता है। जिस कवि में शब्द के इस विशिष्ट अर्थ के स्पन्दन को समझने की जितनी ही अधिक सामर्थ्य होती है उसका काव्य उतना ही सहृदय श्लाघ्य होता है। इसलिये तो ध्वनिकार ने कहा है—

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥'[1]

स्पष्ट है कि उन विशेष शब्दों के परिज्ञान के लिये ध्वनिकार ने कवि को सायास यत्न करने का निर्देश दिया है।

ध्वनि सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसने गुण, अलंकार, रीति आदि का काव्य में उचित स्थान निर्धारित कर दिया है। जैसे उपनिषदों में कहा गया है कि कोई भी पदार्थ आत्मा के प्रिय होने के कारण ही प्रिय होता है 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' वैसे ही काव्यात्मा के अनुकूल होने के कारण गुण, अलंकार, रीति आदि सहृदयों के लिये प्रिय होते हैं। ध्वनिवादियों ने काव्य की एक अंगना के रूप में कल्पना की है। शब्दार्थ उसके शरीर हैं, रीति उसके शरीर के अवयव संस्थान, गुण तथा अलंकार का स्पष्ट भेद करते हुये उन्होंने यह प्रतिष्ठापना की कि जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के धर्म होते हैं उसी प्रकार गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं। अलंकार काव्य के धर्म न होकर ऊपर से पहने जाने वाले कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की तरह हैं।

इसी सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि आत्मतत्त्व की गवेषणा सर्वप्रथम वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के द्वारा की, किन्तु अपने इस सिद्धान्त को सुदृढ़ आधार या तर्कसम्मत पुष्टि नहीं प्रदान कर सके, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। इस दिशा में सर्वप्रथम श्लाघ्य कदम आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उठाया, जिन्होंने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की प्रामाणिकता विभिन्न मतमतान्तरों का खण्डन करते हुये प्रस्तुत की। इसी आत्मतत्त्व से समन्वित होने पर शब्दार्थ रूप काव्यशरीर महत्त्वशाली होता है और उससे हीन होने पर शव के समान तुच्छ हो जाता है। इसप्रकार ध्वनिवादियों ने काव्य की मानवीकृत रूप में उद्भावना करके उसके आत्मतत्त्व एवं शरीरतत्त्व की पृथक्-पृथक् उद्भावना की है।

ध्वनि के विभिन्न प्रयोग—

ध्वनि शब्द 'ध्वन्' धातु में 'इ' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। अभिनवगुप्त

१. ध्वन्यालोक १. ८.

ने अपनी लोचन टीका में इसका उल्लेख करते हुए बताया है कि ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है।[1]

(अ) ध्वनति यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः–जो ध्वनन करता है वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

(आ) ध्वनतिध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनन करता है या कराता है वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(इ) ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित होता है उसे ध्वनि कहते हैं। यहाँ रस, अलङ्कार एवं वस्तु तीनों ध्वनि के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि रस, अलङ्कार एवं वस्तु तीनों ही ध्वनित होते हैं। अतः ये सभी ध्वनि हैं।

(ई) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनन होता है वह ध्वनि है। इससे शब्द एवं अर्थ के व्यापार अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्तियों का बोध होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस शब्दशक्ति के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है—वह भी ध्वनि है।

(उ) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें ध्वनन किया जाता है वह ध्वनि है।

इस प्रकार ध्वनि शब्द पाँच अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं व्यंग्य प्रधान काव्य। सामान्य रूप से ध्ननि शब्द का अर्थ है व्यंग्य। किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि इस व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से अधिक रमणीय होना चाहिये, तभी उससे सम्पन्न काव्य ध्वनि काव्य कहलाने का अधिकारी होगा।

ध्वनि की उच्चावच कोटियों के आधार पर काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम कोटियाँ बनती हैं। जो क्रमशः प्रधान व्यङ्ग्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य और चित्रकाव्य या अवर काव्य कहलाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि ध्वनिवादियों ने ध्वनि की प्रधानता और गौणता के आधार पर काव्य को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया है—

(१) उत्तम काव्य—ध्वनि प्रधान 'इदमुत्तममतिशयिनी व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'[2] वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य के अधिक चमत्कार युक्त होने पर काव्य उत्तम होता है और विद्वानों ने उसे ध्वनि काव्य नाम से कहा है।

(२) मध्यम काव्य—गुणीभूत व्यङ्ग्य। 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।[3] वाच्य से अधिक चमत्कारी व्यङ्ग्य नामक दूसरे प्रकार का काव्य होता है।

---

१. पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थो येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम्। लोचन, पृ० १४३

२. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सूत्र २, पृ० २८.

३. वही, सू० ३, पृ० ३१.

जो मध्यम काव्य कहलाता है। गुणीभूत व्यङ्ग्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। व्यंग्यार्थ से उपस्कृत हुआ काव्य भी चमत्कारातिशय का जनक होता है। इसीलिये ध्वनिकार ने गुणीभूत व्यङ्ग्य को ध्वनिनिष्यन्द रूप बताया है—'तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।'[1] मम्मट ने गुणीभूत व्यङ्ग्य के आठ (८) भेद माने हैं—

'अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः॥[2]

(३) अवरकाव्य—चित्रकाव्य 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'[3] व्यङ्ग्य अर्थ से रहित 'शब्दचित्र' तथा 'अर्थचित्र' दो प्रकार का अधम काव्य होता है। चित्र के समान काव्य के तात्त्विक व्यङ्ग्य रूप से विहीन काव्य की प्रतिकृति के समान होने से ये चित्र काव्य कहलाते हैं। 'न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।[4] अर्थात् यह यथार्थं काव्य नहीं होता अपितु काव्य की अनुकृति या नकल मात्र होता है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कारादि व्यङ्ग्य न हो, उसे चित्रकाव्य भले ही माना जा सकता है; किन्तु ध्वनि के तो तीन भेद हैं—वस्तु, अलङ्कार और रस, इनमें से जो रसादि का भेद न हो ऐसा कोई काव्य भेद सम्भव नहीं है। क्योंकि काव्य में किसी भी वस्तु या भावादि का संस्पर्श न हो यह युक्तिसंगत नहीं। संसार की सभी वस्तुयें किसी रस या भाव का अंग बन ही जाती हैं। अतः चित्रकाव्य को भी काव्य की अनुकृतिमात्र नहीं कहा जा सकता है।

परन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह ठीक है कि ऐसा कोई काव्य प्रकार नहीं है जिसमें रसादि की प्रतीति न हो। किन्तु जब रसभावादि की विवक्षा से रहित कवि अर्थालङ्कार तथा शब्दालङ्कार की रचना करता है—तब उसकी (कवि) विवक्षा की दृष्टि से काव्य में रसादि शून्यता की कल्पना करते हैं। क्योंकि कवि की विवक्षा से रहित होने के कारण रसादि की जो प्रतीति होती है वह बड़ी दुर्बल होती है, इसलिये भी नीरस होने से उसको चित्रकाव्य कहते हैं। जैसा कि आनन्दवर्धन ने परिकर श्लोकों को उद्धृत करके इस बात को बहुत स्पष्ट बना दिया है—

---

१. ध्वन्यालोक, ३।३७ की वृत्ति, पृ० २९७.
२. काव्यप्रकाश, ५·४५, सूत्र ६६, पृ० १९६,
३. वही, प्रथम उल्लास, सूत्र ४, पृ० ३१,
४. ध्वन्यालोक, पृ० ३१०.

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ॥[1]

इस चित्रकाव्य को सबसे निकृष्ट माना गया है। रसभावादि की विवक्षा से युक्त ध्वनिकाव्य को उत्तम माना गया है। परन्तु इस ध्वनि के भी आनन्दवर्द्धन ने तीन भेद किये हैं—

(१) रस ध्वनि
(२) अलङ्कार ध्वनि
(३) वस्तु ध्वनि ।

रसध्वनि को काव्य का परमतत्त्व माना गया है। अलङ्कार ध्वनि में अलङ्कार काव्य का वाह्य शोभाकारक न होकर अलंकार्य बन जाता है। इसमें प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति किसी अलङ्कार के रूप में होती है। भामहादि प्राचीन आचार्यों के द्वारा अलङ्कारों का विस्तृत निरूपण होने के बाद भी, ध्वनिकार ने जो उनकी ध्वन्यमानता सिद्ध की है उसे 'यत्किञ्चित् कथनं स्यात्' ऐसा नहीं समझना चाहिये। वास्तविकता तो यह है कि अलङ्कार शरीर तो है नहीं वे शरीर के अलंकरण—आभूषण हैं। इसी से कहा गया है कि वाच्यावस्था में जो शरीर स्थानीय भी नहीं हो पाते हैं वे ही ध्वन्यावस्था में परम-चारुत्व को प्राप्त करते हैं। यह ध्वनि का ही माहात्म्य है।

'शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥[2]

कहने का आशय यह है कि वाच्यरूप में रहने पर तो उपमादि अलंकार केवल वाच्यार्थ के चारुत्व हेतु ही रहते हैं। वाच्यार्थ को सजाने के कारण ही उनकी अलंकारता सिद्ध होती है। वे ही उपमादि अलंकार ध्वनि कोटि में पहुँच जाने पर अलंकार न रहकर अलंकार्य बन जाते हैं। अलंकार्य रूप में वर्तमान रहने पर भी उनको अलंकार कहना 'ब्राह्मणश्रमण न्यायेन' सिद्ध है, वास्तविक रूप से नहीं।

वस्तुध्वनि में किसी तथ्य की व्यञ्जना की जाती है।

इसमें भी उन्होंने रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना है। इस प्रकार काव्यलक्षण निर्माण में अत्यन्त उदार होने पर भी ध्वनिकार के सम्मुख जब काव्य की कसौटी

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ३११.
२. वही, २·२८.

या काव्य की श्रेष्ठता का प्रश्न आया तो उन्होंने रस ध्वनि को ही श्रेष्ठ माना। क्योंकि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि का तो सर्वथा रस में ही पर्यवसान हो जाता है। 'तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्याद् उत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्' ।[1]

रस की श्रेष्ठता केवल लक्षण ग्रंथों में ही नहीं प्रतिष्ठापित की गयी है अपितु यह लक्ष्य ग्रन्थों से भी सिद्ध है। इसी को लक्ष्य करते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।।[2]

ध्वनिवादियों ने रसध्वनि में नव रसों के अतिरिक्त भाव, भावाभास, भावशान्ति भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि आदि की भी गणना करके रस क्षेत्र का समुचित विस्तार किया है। रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि ने 'नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' कहकर स्पष्ट शब्दों में रस का प्राधान्य व्यक्त किया है, जिसका काव्यशास्त्र में अबतक समर्थन होता चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है कि जिस प्रकार वसन्तकाल में पहले से देखे गये वृक्ष भी नवीन प्रतीत होते हैं—वैसे ही रस के ग्रहण से काव्य भी अभिनव प्रतीत होता है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।।[3]

ध्वनि सिद्धान्त में भी रस के माहात्म्य को देखकर प्रश्न उठता है कि काव्य की आत्मा रस है अथवा ध्वनि? इस सम्बन्ध में दोनों के महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि ध्वनि के अभाव में रस की स्थिति ही सिद्ध नहीं हो सकती। रस शृङ्गारादि शब्दों से वाच्य नहीं अपितु विभावानुभाव एवं व्यभिचारी से व्यङ्ग्य होता है तथा रमणीय न हो सकने के कारण ध्वनि रस के अभाव में काव्य की आत्मस्थानीयता को नहीं प्राप्त कर सकती। क्योंकि रस, अलङ्कार और वस्तु ध्वनि में रस ही सर्वाधिक चमत्कारावह है। इसप्रकार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। फिर भी ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने का प्रधान कारण ध्वनि का महाविषयत्व से युक्त होना है। इसकी विस्तार सीमा वस्तु, अलङ्कार, रस तीनों में ही व्याप्त है। 'इस प्रकार रसमत का विकसित रूप ही ध्वनिमत सिद्ध होता है। उसको केवल परिष्कृत शैली में उपस्थित किया गया है। कोई भी वस्तु नयी उत्पन्न नहीं होती, उसका कोई न कोई बीज प्राचीन परम्पराओं में अवश्य मिलता है। इसलिये

१. लोचन, पृ० ८६.
२. ध्वन्यालोक, १.५.
३. वही, ४.४.

ध्वनितत्त्व को हम बिलकुल नया नहीं मान सकते हैं। वह तो महाभारत प्रभृति काव्यों एवं महाकवियों की रचनाओं में पहले से ही पाया जाता रहा है। ...... अतएव व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य में महत्त्वपूर्ण है और उससे युक्त काव्य ही उत्तम है, इसी बात को आनन्दवर्द्धन ने सिद्ध किया है।"[१] पहले ही हम निर्देश कर चुके हैं कि ध्वनि सम्प्रदाय जिस ध्वनि को काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व मानता है वह वस्तु व्यङ्ग्य और रसभावादि के रूप में व्यङ्ग्यत्रयी का नाम है। यहाँ यह प्रश्न उठता है है कि वेद्यान्तर संस्पर्श शून्य, अपरिमित प्रमातृभाव का जनक, सकलसहृदयसंवाद-भाजन, आस्वादमात्रस्वरूप, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाले श्रृंगारादि रसों को तो आत्मस्थानीय स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि रस सहृदयों की हृदयस्थित वासना की आनन्दमयी परिणति है जो वाच्यार्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इसी तर्क के अनुसार ध्वनिकार ने रसध्वनि की सत्ता स्वीकार की है, केवल रस की नहीं। किन्तु वस्तु व्यङ्ग्य और अलंकार व्यङ्ग्य को आत्म स्थानीय कैसे माना जाये ? इसका समाधान है—"जिस प्रकार विभावादि रूप वस्तु के निर्माण में भाव सत्ता का अनिवार्य योग है, उसी प्रकार वस्तु या अलंकार की व्यञ्जना में भी भावसत्ता अन्त तक छाई रहती है और इसीलिये प्रत्येक व्यंजित वस्तु या अलङ्कार अन्त में कोई न कोई भाव अवश्य छोड़ता है। यहीं पर इस प्रश्न का समाधान हो जाता है, कि ध्वनिवादी आचार्यों ने ही नहीं अपितु रसवादी आचार्यों ने भी वस्तु व्यङ्ग्य और अलंकार व्यङ्ग्य को रस भावादि के ही समान स्तर पर क्यों समझा है और तीनों को ही अविशेष भाव से उत्तम काव्य क्यों स्वीकार किया है।"[२]

काव्य का ऐसा कोई भी रूप नहीं है जो ध्वनि की विस्तार सीमा से बाहर हो। ध्वनि की व्यापकता का क्या यही प्रमाण कम है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्यय से लेकर—सम्पूर्ण महाकाव्य तक है। वचन, कारक, सम्बन्ध, उपसर्ग, निपात, काल आदि से लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक और महाकाव्य तक उसके अधिकार क्षेत्र का विस्तार माना जाता है।[3]

ध्वनि शब्द एवं अर्थ से सर्वथा भिन्न अवर्णनीय पदार्थ है। यही कारण है कि किन्हीं-किन्हीं महाकवियों की वाणी में ही यह प्रतीयमान अर्थ सिद्ध होता है और इसके समावेश से कवि की वाणी धन्य होकर अलौकिक चमत्कार की उद्भावना

---

१. डॉ० शिवनाथ पाण्डे, ध्वनि सम्प्रदाय का विकास, पृ० २७४-७५.
२. डॉ० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग प्रक्रिया, पृ० २२०.
३. ध्वन्यालोक, ३.१६.

करती है।[1] साथ ही ध्यातव्य है कि इस ध्वन्यर्थ का ज्ञान मात्र शब्दकोश की सहायता से नहीं हो सकता है, उसके लिये सहृदयता की अपेक्षा रहती है।[2] शंका सम्भव है कि तब शब्दार्थ का ज्ञान किया किस लिये जाता है—जब उसके विना भी अर्थ की प्रतीति हो सकती है? इसका समाधान आनन्दवर्द्धन ने दिया है कि जिस-प्रकार आलोक का अभ्यर्थी दीप, तेल और बत्ती को जुटाता है, उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये वाच्यार्थ साधन का कार्य करता है।[3] वस्तुतः "अर्थ अपने उतने ही रूप में इतना महत्त्व प्राप्त नहीं कर लेता जितना शब्द को सुनते ही उपस्थित होता है। उसका समग्र व्यक्तित्व और भी व्यापी है। उसका आयाम अपनी वास्तविकता में केवल उतना ही नहीं है जितना शब्दकोश या शब्दानुशासन के बल पर शब्दशक्ति प्रस्तुत करती है। वह उससे भी बड़ा है। उसके लिए एक दूसरे ही कोश और दूसरे ही व्याकरण की अपेक्षा रहती है। वह कोश है भावों का कोश और व्याकरण है संस्कारों का व्याकरण।........ हृदय का यात्री जब प्रारम्भिक शब्दार्थ के बाह्य प्राचीर को विवक्षा के द्वारा से पार करता है और प्रतीति के गर्भ-गृह तक पहुँचता है तो तात्पर्य के रत्न सिंहासन पर उसी को प्रतिष्ठित पाता है। इसकारण यह अर्थ परवर्ती और प्रतीतिक अर्थ है, फलतः इसे प्रतीयमान की संज्ञा देना अधिक उचित है।"[4]

ध्वनि का माहात्म्य

जिस अर्थ के सौन्दर्य की उक्ति को अन्य प्रकार से प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, उसे प्रकाशित करने वाला व्यञ्जना व्यापार युक्त शब्द ध्वनि का विषय होता है। पर जिस अर्थ की अभिव्यक्ति अन्य प्रकार से होती है उसे ध्वनि नहीं कह सकते। जो शब्द किसी अर्थ में रूढ़ हो गये हैं—जैसे लावण्यादि शब्द—जो कि अपने विषय से भिन्न अर्थ में प्रसिद्ध हो गये हैं—वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि के विषय नहीं हो सकते[5] इस प्रकार ध्वनि की विलक्षणता का प्रतिपादन करके आनन्द-वर्द्धन ध्वनि की सत्ता को सिद्ध करते हैं—

---

१. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ ध्वन्यालोक, १·६

२. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते॥
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक, १·७

३. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ ध्वन्यालोक, १·९.

४. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्द्धन, पृ० ९३.

५. उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।

"तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम् अतिरमणीयम्, अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् । अथ च रामायण महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ।"[1]

आनन्दवर्द्धन के पूर्व अलंकारवादी आचार्यों ने पर्यायोक्त, समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, विशेषोक्ति तथा संकर अलंकार के अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि का अन्तर्भाव किया था—परन्तु ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में उपर्युक्त सभी अलंकारों में व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुता प्रदर्शित कर--इन सभी का अन्तर्भाव गुणीभूत व्यङ्ग्य में किया है। वास्तविकता तो यह है कि ध्वनि की चारुता व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव पर आश्रित है तो अलंकार का चमत्कार शब्दार्थगत होता है।[2] अतः स्पष्ट ही है कि अलंकार ध्वनि का अंग है और ध्वनि अंगी है। ध्वनिकार के अनुसार अलंकार की रसादि के अंग रूप में ही विवक्षा होनी चाहिये—'विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन'।[3]

अभिधा और लक्षणा दोनों से ही ध्वनि की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है। वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता प्रदर्शित करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने आठ कारणों का उल्लेख किया है--वोद्धा, संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, प्रतीति आदि।[4] मम्मट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि "नाभिधा समयाभावात् हेत्वाभावान्न लक्षणा।"[5] यदि यह माना जाये कि अभिधा से ही पहले वाच्यार्थ का बोध होता है तदनन्तर व्यङ्ग्यार्थ का, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' अथवा 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' आदि सिद्धान्तों के अनुसार अभिधा एक ही बार कार्य कर सकती है। अतः अभिधा के द्वारा जब एक बार वाच्यार्थ ज्ञात हो जाता है, तब पुनः व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान उससे

शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत् ॥ १.१५
रुढ़ा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १.१६

१. ध्वन्यालोक, पृ० ९.
२. व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।
वाच्यवाचक चारुत्वहेत्वन्तः पातिता कुतः ॥ १.१३ की वृत्ति, पृ० ३८
३. ध्वन्यालोक, २.१८
४. वोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥ साहित्यदर्पण, ५.२.
५. काव्यप्रकाश, सूत्र २४-२५, पृ० ७०-७१

असम्भव है। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि "वाच्य धर्मी है और प्रतीयमान धर्म, वाच्य अलंकार है और प्रतीयमान अलंकार्य, वाच्य हेतु है और प्रतीयमान साध्य, वाच्य शरीर है और प्रतीयमान पुरुषार्थ तथा वाच्य वीणा है और प्रतीयमान स्वर। निश्चित ही वाच्य की उपादेयता प्रतीयमान के विना सम्भव नहीं।"[१] लक्षणा में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। ध्यान से देखें तो लक्षणाशक्ति अभिधा की ही पुच्छभूता है अर्थात् अनुपपन्न अभिधेय अर्थ को ही सही करवट देने के लिए वह उपस्थित होती है, अतः वह अभिधा के ही क्षेत्र में मान ली जाती है। सर्वप्रथम तो भक्ति और ध्वनि के स्वरूप में ही भेद है। व्यङ्ग्य का जहाँ प्राधान्य होता है वहीं ध्वनि होती है और भक्ति उपचार मात्र है। उपचार कहते हैं—'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद प्रतीतिस्थगनम्'—अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना। यदि भक्ति को ही ध्वनि का लक्षण मानें तो उसमें अति-व्याप्ति तथा अव्याप्ति नामक दोष आ जायेंगे। अतिव्याप्ति इस प्रकार होगी कि ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति सम्भव है। अव्याप्ति ऐसे होगी कि अनेकानेक ऐसे स्थल हैं जहाँ ध्वनि तो है पर भक्ति के लिये मुख्यार्थबाधादि के अभाव के कारण कोई अवकाश ही नहीं है।[२] साथ ही अभिधा एवं लक्षणा संकेतित अर्थ का ही बोध कराते हैं जबकि व्यञ्जना का क्षेत्र मात्र शब्द ही नहीं है, संकेत, हाव-भाव आदि से भी पदार्थों की व्यञ्जना होती है।

अभिहितान्वयवादियों ने जिस तात्पर्याशक्ति की कल्पना की है उससे भी प्रतीय-मान अर्थ की व्यञ्जना नहीं हो सकती है। क्योंकि इस तात्पर्या शक्ति का प्रतिपाद्य तो केवल पदार्थ संसर्गरूप वाक्यार्थ ही है। क्योंकि 'आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम्।'[३] यह तो है तात्पर्याशक्ति का स्वरूप, अतः अतिविशेषभूत प्रतीयमान अर्थ के प्रत्यायन की क्षमता उसमें कथमपि सम्भव नहीं है।

'अन्विताभिधानवाद' में भी पदार्थन्वित अर्थ वाच्यार्थ है। परन्तु वाक्यार्थ तो

---

१. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्द्धन, पृ० १०७.

२. (अ) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ सूत्र २६, पृ० ७२

(अ) वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १·१८

३. मम्मट, काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, पृ० ३६.

अन्वित विशेष रूप है। इसलिये वस्तुतः दोनों ही पक्षों में वाक्यार्थ ही अवाच्य है और जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो फिर प्रतीयमान अर्थ को वाच्य कोटि में रखने का प्रश्न ही नहीं उठाता। 'अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।'[1]

यदि भट्टलोल्लट का 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोव्यापारः[2] यह सिद्धान्त माना जाये कि जिस प्रकार सैनिक द्वारा छोड़ा गया एक वाण एक ही व्यापार से शत्रु के कवच का छेदन कर मर्मभेदन और प्राणहरण रूप तीनों कार्य करता है; उसी-प्रकार शब्द प्रयोग के वाद जितना भी अर्थ प्रतीत होता है उसके बोधन में शब्द का केवल एक अभिधाव्यापार होता हैं। परन्तु भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त मीमांसा की दार्शनिक परम्परा और साहित्य की शक्ति परम्परा दोनों के ही विरुद्ध है। साहित्य की शक्ति परम्परा से विरोध को अभिधा के प्रसंग में ही दृष्टिगत करा चुके हैं। मीमांसा की दार्शनिक परम्परा से भी इसमें विरोध है। मीमांसा दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है–'श्रुति-लिङ्गवाक्य-प्रकरण-स्थान समाख्यानां समवाये पारदौर्वल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' यदि उक्त दीर्घ दीर्घतर अभिधाव्यापार वाला मत मान लिया जाये तो श्रुतिलिङ्गादि का 'पारदौर्वल्य' वाला सिद्धान्त नहीं वन सकता, क्योंकि तव तो फिर उनमें दुर्वल और प्रवल की कोई बात ही नहीं रहेगी। इस कारण भी यह भट्टलोल्लट का मत अमान्य हैं।

मीमांसा का ही एक सिद्धान्त यह भी है कि 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते।'[3] इस कथन का आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति किसी निमित्त से होती है। प्रकृत स्थल में शब्द ही उस प्रतीति का निमित्त है और शब्द अभिधा द्वारा ही अर्थ का बोधन कर सकता है, इसलिये अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो सकती है। इस मत का खण्डन तो स्पष्ट ही है। चूंकि अभिधा द्वारा संकेतित अर्थ ही उपस्थित हो सकता है, यदि प्रतीयमान की अभिधा द्वारा उपस्थित मानना है तो उसको संकेतित अर्थ मानना होगा, जो कि युक्तिसंगत नहीं।

जो वेदान्ती 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्'[4] मानते हैं उनको भी अविद्या की स्थिति में अर्थात् व्यावहारिक जगत् में आकर पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है।

ऊपर तो वृत्तियों की दृष्टि से विचार किया गया है कि अभिधा, लक्षणा और

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २२७–२८
२. वही, पृ० २३०.
३. काव्यप्रकाश, पृ० २२९.
४. वही, पृ० २५७.

तात्पर्य से व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु महिमभट्ट व्यङ्ग्यार्थबोध को शब्द की सीमा से हटाकर अनुमान का विषय बनाने के पक्ष में हैं। उदाहरण के लिये यह श्लोक लिया गया है—

> भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
> गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥[1]

इसको अनुमान वाक्य के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

(१) गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं (प्रतिज्ञा)

(२) भयकारणसिंहोपलब्धेः (हेतु)

(३) यद्यत् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम् (व्यतिरेक व्याप्ति सहित उदाहरण)।

(४) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः (उपनय)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम् (निगमन)

इसप्रकार के पञ्चावयव वाक्य से अनुमान द्वारा महिमभट्ट भ्रमणनिषेध को सिद्ध करते हैं और उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने वाले व्यञ्जनावादी के मत का खण्डन करते हैं। इसका खण्डन मम्मट ने इसप्रकार प्रस्तुत किया है—'भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपितु वचनात्। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवं विधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः'।[2] अतः अनुमान को व्यञ्जना का गमक नहीं माना जा सकता है।

इन उल्लिखित मतों के खण्डन से व्यञ्जना की सिद्धि तो होती ही है साथ ही ध्वनि की अनिर्वचनीयता भी सिद्ध होती है, जो कि उसके महत्त्व का प्रकाशक है। साथ ही ध्वनि सिद्धान्त के महत्त्व का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि अबतक अलंकारशास्त्र में जितने भी सिद्धान्त प्रचलित थे वे सभी एकांगी थे। अलंकार एवं रीति सिद्धान्तों में काव्य के केवल बाह्य तत्त्वों का ही वर्णन है। रस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी तो यह है कि प्रबन्ध काव्यों के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक-ठीक बैठ जाता है किन्तु मुक्तक काव्य के सम्बन्ध में जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का समुचित गठन नहीं हो पाता है—वहाँ कठिनाई पड़ती है; क्योंकि इससे

१. वही, पृ० २५९.
२. वही पृ०, २६१.

सुन्दर पदों को भी उचित गौरव नहीं प्राप्त हो पाता है। ध्वनि सम्प्रदाय ने रस को आत्मसात् कर रस सम्प्रदाय की इस त्रुटि का परिहार किया।

ध्वनिपूर्व युग में जिन अलंकारों को आत्म स्थानीय माना जाता था, आनन्दवर्द्धन ने कुछ को तो गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया एवं कुछ को चित्र-काव्य के अन्दर। इसप्रकार गुण एवं अलंकारों में भेद स्थापित किया और ध्वनि-काव्य में अलंकारों को भी समुचित आदर दिया। 'औचित्य सिद्धान्त को भी ध्वनि सम्प्रदाय ने बड़े आदर के साथ ग्रहण किया है। वक्ता, वाच्य, प्रबन्ध, विषय आदि के औचित्य को इन्होंने संघटना का नियामक माना है तथा साथ ही विभावौचित्य, भावौचित्य, प्रकृत्यौचित्य एवं रसौचित्य के रूप में औचित्य की प्रतिष्ठा ध्वनिकार ने की है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय यद्यपि ध्वनि सम्प्रदाय के बाद अस्तित्व में आता है—पर वक्रोक्ति की महिमा का उल्लेख ध्वनिकार से भी पहले भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में किया था। भामह की वक्रोक्ति का सिद्धान्त उसे अनेकानेक अलंकारों की प्रसू के रूप में मान्यता देता है—जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रतिपाद्य के नवीनी-करण से ही सम्बन्ध है। 'ध्वन्यालोक' का चौथा उद्योत अर्थों के इसी नवीनीकरण पर पूरा होता है और प्रकारान्तर से वक्रोक्ति के मूल सिद्धान्त को अन्तर्भुक्त कर लेता है।...इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त में सम्पूर्ण काव्यांगों की स्थिति का विचार उसे अपने आप में पूर्ण काव्यशास्त्र बना देता है और इसीलिए वह 'ध्वनिसम्प्रदाय' कहलाने का अधिकारी है।'[1]

जैसाकि पहले ही हम निर्देश कर चुके हैं कि आनन्दवर्द्धन को भी काव्य में रसादि का प्राधन्य सर्वथा अभिप्रेत है। किन्तु इनके मत में रस से भी अधिक प्राधान्य ध्वनि का है, क्योंकि ध्वनित होने पर ही रसादि चमत्कारक होते हैं। रसोद्रेक की बात तो दूर—शृंगारादि विशिष्ट रस शब्दों से वाच्य होने पर तो यह दोष हो जाता है। इसीलिये आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का इतना महत्त्व प्रतिपादित किया है।

ध्वनिवादी एवं रसवादी दोनों ही रस की अवाच्यता को बतलाते हैं किन्तु उसके कारणों का निर्देश नहीं किया है। जिसे हम मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टियों से समझ सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह बात स्पष्ट है कि वस्तु और अलंकार का हम जितना ही विश्लेषण करते हैं, उसका स्वरूप उतना ही हमारे सामने निखरता जाता है और रस मात्र आस्वाद का विषय होने के कारण चिन्तन करते ही उसका आनन्द स्वरूप लुप्त हो जाता है और मात्र वस्तु (रस शून्य) शेष

---

१. डॉ० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग प्रक्रिया, पृ० २३८.

रह जाता है। दार्शनिक दृष्टि से रस भावादि जिन सुख-दुःख रूप भावों के संस्कार हैं उन सुख-दुखों का ही विश्लेषण सम्भव नहीं माना गया है। क्योंकि मन की अनुकूलता ही सुख है और प्रतिकूलता ही दुःख और यह सुख-दुःख की अनुभूति समय, सन्दर्भ और व्यक्ति के साथ-साथ बदलती रहती है। रोकर या हँसकर (अनुभावों से) इसके चिह्नों की अभिव्यक्ति होती है, शब्दों से मात्र सुख दुःख के कारण ही अभिव्यक्त होते हैं—सुख या दुःख नहीं। जब सुख-दुःख रूप भावों की ही वाच्यता सम्भव नहीं है तो फिर उनके संस्कारी रूप रसादि कैसे वाच्य हो सकते हैं। इसी कारण रस को केवल व्यङ्ग्य माना गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ध्वनिकार ने किसी सिद्धान्त का तिरस्कार नहीं किया अपितु उन सभी सिद्धान्तों का समावेश करते हुये आत्मतत्त्व के रूप में ध्वनि की स्थापना की।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनिकार ने 'काव्यस्यात्माध्वनिः' के रूप में जिस ध्वनि की आत्मत्वेन प्रतिष्ठा की, उसके महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्याह्लाद नितान्त व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व है, अतः व्यक्ति प्रतिव्यक्ति उसमें भेद की सम्भावनायें रहती हैं। किन्तु अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में व्यञ्जना को नकारा नहीं जा सकता है। युग-युग से जिस रस को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती आ रही है, वह रस भी व्यञ्जनाव्यापारगम्य है, ध्वनिमुखापेक्षी है।

द्वितीय अध्याय

भरतमुनि द्वारा कृत अलंकारशास्त्रीय विवेचन

भरतमुनि अलंकारशास्त्र के भी आद्याचार्य

संस्कृत के उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर भरतमुनि को अलंकारशास्त्र का आद्याचार्य माना जाता है। यद्यपि भरतमुनि की ख्याति नाटचशास्त्र के प्रणेता के रूप में है, किन्तु अलंकारशास्त्र का भी मूल स्रोत इसी शास्त्र को माना जाता है। क्योंकि छठें, सातवें तथा १४ से लेकर १७वें अध्याय तक में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों—रस, छन्द, लक्षण, गुण, दोष आदि—का निरूपण इन्होंने किया है। सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र की रसविषयक पीठिका भरत के रस निष्पत्ति सूत्र पर आधृत है। यह सत्य है कि रामायण एवं महाभारत में विभिन्न रसों एवं भावों का चित्रण हुआ है तथा वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संयोग–वियोग, अद्भुत, वीभत्स, भयानक आदि के वर्णन मिलते हैं, किन्तु यहाँ रस वर्णन का प्रश्न नहीं है अपितु रस के शास्त्रीय विवेचन का है। शास्त्रीय विवेचन पर आधृत ग्रंथ को ही अलंकारशास्त्र का उत्स माना जा सकता है। भरत ने षष्ठ एवं सप्तम अध्याय में अपने विचारों के समर्थन में आनुवंश्य आर्याओं और कारिकाओं को उद्धृत किया है, इससे भरत से पूर्व भी रस की शास्त्रीय परम्परा की अवस्थिति का ज्ञान होता है। किन्तु किसी अन्य पूर्वतन आचार्य के ग्रंथ के अभाव में तथा आनुवंश्य श्लोकों के कर्तृत्व की प्रमाणिक सूचना के अभाव में भरत को ही सर्वसम्मति से आद्याचार्य माना जाता है।[1]

रससूत्र एवं उसका अर्थ

भरत का रसनिष्पत्ति विषयक यह प्रसिद्ध सूत्र है—'विभानुभावव्याभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः'[2] तथा इसकी व्याख्या में भरत ने यह गद्यावतरण दिया है—

'यथा हि नानाव्यन्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति। यथाहि—गुडादि

1—The oldest known exponent of this system is Bharata, from whom spring all later systems and theories such as we know them.

S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol.II,p. 19.

२. नाटचशास्त्र, पृ० २२८.

भिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौपधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।'[1]

अर्थात् जिस प्रकार नानाप्रकार के व्यञ्जनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है और जिसप्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसीप्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त करते हैं। अव प्रश्न उठता है कि आखिर यह रस है क्या ? इसके उत्तर में भरतमुनि कहते हैं—

'अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यमानत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसाः व्याख्याताः ।'[2]

उत्तर में कहा जाता है कि—'आस्वाद्यत्व' होने के कारण। रस किस प्रकार आस्वादित किया जाता है ? जैसे नाना व्यञ्जनों से युक्त अन्न का उपभोग करने वाले सुरुचिपूर्ण अथवा प्रसन्नचित्त व्यक्ति रसों का आस्वाद प्राप्त करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त करते हैं, वैसे ही सुरुचिपूर्ण तथा प्रसन्नचित्त प्रेक्षक उन स्थायीभावों का आस्वाद करते हैं तथा हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं; जो नाना भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यञ्जित होते हैं; तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अनुभावों से युक्त होते हैं। इसीलिये ये नाट्य रस कहलाते हैं।

रस का आस्वादयिता प्रेक्षक

इस प्रसंग में 'सुमनसः' वड़ा सारगर्भित शब्द है। जिसप्रकार 'सुमना' अन्नरस का अस्वाद करता है उसीप्रकार 'सुमना' (सहृदय) नानाप्रकार के विभाव, अनुभाव रूप अभिनयों के द्वारा व्यक्त किये गये स्थायी भाव का अस्वादन करता है। इस रसास्वादन की प्रक्रिया में भरत ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है कि जिसप्रकार लौकिक रसों का आस्वादन विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा होता है उसीप्रकार नाट्य रस का आस्वादन एक मानस व्यापार है।

भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ।।[3]

---

१. वही, पृ० २८१–८२.
२. वही, पृ० २८४.
३. वही, ६.३४.

इसप्रकार उक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रस आस्वाद का विषय है। साथ ही यह ठीक है कि विभिन्न विभावों एवं अनुभावों के संयोग द्वारा स्थायीभाव ही रसत्व की कोटि को प्राप्त करता है किन्तु स्थायी भाव ही रस नहीं है। रस एवं स्थायीभाव में नितान्त अन्तर है। रस अपने प्रत्येक उदाहरण में आनन्दात्मक ही होगा किन्तु स्थायी दुःखानुभूति युक्त भी हो सकता है एवं होता है। किन्तु शोकस्थायीभाव से भी विभावित करुण रस आनन्दात्मक ही होगा क्योंकि रस का फल एकमात्र आनन्द है। अभिनवभारतीकार का भी कथन है 'सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम्'। इसीलिये परवर्ती काव्यशास्त्र में रस को अलौकिक माना गया है, क्योंकि लोक में दुःखादि से निवृत्ति कहाँ, वह तो मात्र काव्य में ही काव्यास्वाद काल में सम्भव है। इस सन्दर्भ में साहित्यदर्पणकार की उक्ति बड़ी सटीक है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥[1]

भरत के इस रससूत्र के व्याख्याताओं में आगे चलकर रसास्वाद के विषय को लेकर बड़ा ही मतभेद चलता रहा है। किन्तु भरत इस सम्बन्ध में विवादरहित या स्पष्ट मत स्वयं ही उपस्थित कर देते हैं। उनका कथन है कि नाना भावों से अभिव्यञ्जित तथा वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय से समृद्ध स्थायी भाव का रस रूप में आस्वादन 'सुमनस्' प्रेक्षक ही करते हैं—'आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति'—परन्तु परवर्ती भट्टलोल्लट, शंकुक प्रभृति आचार्यों का इस सन्दर्भ में ऐकमत्य नहीं है, जिसका निर्देश आगे हम करेंगे। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करने पर भी यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है कि प्रेक्षक ही रस का आस्वाद करता है क्योंकि समस्त नाट्यप्रपंच तो उसी के निमित्त रचित है तथा काव्य के सन्दर्भ में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इसीलिये तो बार-बार आनन्दवर्धन ने 'तत्त्वज्ञ' की खोज की है जो कि उस काव्यमर्म को समझ सकें। जब वे कहते हैं—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥'[2]

वहाँ सहृदयता की अपेक्षा तत्त्वज्ञ के रूप में कितनी प्रबल हो उठी है—यह सुविदित है। इसीलिये एस० एन० दासगुप्ता ने नाट्य को 'आंगिक अभिनय' नहीं

---

१. साहित्यदर्पण, ३.४.
२. ध्वन्यालोक, १.७.

माना है अपितु आध्यात्मिक प्रबोधन[1] माना है। नाट्य में अभिनयादि हृदयगत संवाद में साधन होते हैं। जिसे शास्त्रीय शब्दावली में साधारणीकरण कहा गया है। इसीलिये नाटक को मात्र अनुकरण नहीं कहा जा सकता है।

रस के अत्यधिक महत्त्व को इंगित करने के लिये ही भरत ने यह माना है कि कोई भी काव्यार्थ रस के विना प्रवृत्त नहीं हो सकता—

'न हि रसादृते कश्चिद्‌अर्थः प्रवर्तते'[2]

भरत के रस सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' एवं 'संयोग' इन दो शब्दों के कारण ही भ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भरत मुनि का 'निष्पत्ति' एवं 'संयोग' से क्या अभिप्राय रहा है इसी को इंगित करने के लिये अनेकानेक उद्‌भावनायें हुई हैं, जिसमें भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त का मत प्रमुख है; जो कि उत्पत्तिवाद, अनुमतिवाद, भुक्तिवाद, एवं अभिव्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है जिसका विस्तृत विवेचन आगे हम करेंगे। किन्तु भरत ने विभावानुभाव के संयोग को दिखलाने के लिये जो व्यञ्जनादि की उपमा दी है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'रस ऐसा नूतन पदार्थ नहीं है जिसका पहले सर्वथा अभाव रहा हो तथा 'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति'—अर्थात् विभावादि से उपगत होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते हैं। रस स्थायी से भिन्न है जिस प्रकार पाडवादि अन्न से भिन्न है, परन्तु आधार उसका स्थायी ही है जो रस रूप में परिणत हो जाता है; अतः रस के रूप में किसी नूतन पदार्थ की सृष्टि नहीं होती, विद्यमान स्थायी भाव रूप पदार्थ ही अन्य उपकरणों के सहयोग से नवीन रूप

---

1. A drama or a play is not a physical occurance. It is pure spirtual enlightenment, a spiritual expression throbbing and pulsating with a new type of music, joyous and pensive As a result of this experience, a unity is effected between the individual's own experience and the expression of the art. This experience is, therefore, nothing else but the enlightenment of a universal. Or it may also rather be said that it is a new creation involving the personality of the individual and the objective dramatic content as constituents a new appearance, a revelation different from all other experience and all external objects. If this analysis be true, dramatic experience and art can no longer be regarded as imitative.

   V. Raghavan and Nagendra (ed.); An Introduction to Indian Poetics, pp. 39–40.

२, नाट्यशास्त्र, पृ० २२८.

धारण कर लेता है। 'निर्मिति' का अर्थ 'नूतन सृष्टि' नहीं है—संस्कार आदि क्रियाओं और व्यञ्जनादि पदार्थों के संयोग से 'नवरूप प्राप्ति' ही है। दृष्टान्त के आधार पर निष्पत्ति का भरत सम्मत अर्थ यही बैठता है। 'षाडवाद्यो रसा निर्वर्त्यन्ते' में निर्वर्त्यन्ते का स्पष्ट अर्थ है—वनते हैं।'[1]

नाटचशास्त्र में साधारणीकरण का संकेत

आगे चलकर भरत ने आठ स्थायी, तैंतीस व्यभिचारी एवं आठ सात्त्विक भावों का वर्णन किया हैं तथा इस प्रसंग में पुनः वे कहते हैं—

"एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते"[2]

अर्थात् इन भावों का साधारणीकरण हो जाने पर रस की निष्पत्ति होती है। क्योंकि साधारणीकरण व्यापार के फलस्वरूप ही सुमनस् प्रेक्षक स्थायीभाव का आस्वादन करता हुआ हर्षादि को प्राप्त करता है। साधारणीकरण के अभाव में प्रेक्षक के रसास्वाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

रसों की संख्या एवं भेद

भरतमुनि ने रसों की संख्या आठ मानी है यद्यपि षष्ठ अध्याय के अन्त में शान्त रस का भी उल्लेख मिलता है किन्तु उसे कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं, वाद में चलकर अभिनवगुप्त ने तो मुक्तकण्ठ से शान्तरस की स्थिति को स्वीकार ही नहीं किया, अपितु समस्त रसों का उद्‌गम उसे माना है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥[3]

परन्तु भरत ने मूल चार ही रस माने हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स तथा इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्‌भुत तथा भयानक रसों की उत्पत्ति मानी है।[4] इसके अतिरिक्त इन रसों के कुछ भेद किये हैं जिनमें से कुछ प्रचलित हैं यथा शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ तथा हास्य के उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के आधार पर स्मित, विहसितादि छः भेद तथा वीर के दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर के भेद से तीन भेद। इसके अरिरिक्त इन रसों के कुछ अप्रचलित भेद भी नाटचशास्त्र में दृष्टिगत होते हैं—

---

१. नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ० १३८.
२- नाटचशास्त्र, पृ० ३७६.
३. वही, ६.८७.
४. वही, ६.४०–४१.

श्रृंगार के वाङ् नेपथ्य, क्रियात्मक — तीन भेद
हास्य के आत्मस्थ एवं परस्थ — दो भेद
वीर तथा रौद्र के अंग, नेपथ्य, वाक्यात्मक — तीन भेद
करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव और शोककृत—तीन भेद
भयानक के स्वभावज, सत्त्वसमुत्थ और कृतक—तीन भेद
तथा व्याज, अपराध, त्रास गत अन्य तीन भेद।
वीभत्स के क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी—तीन भेद
अद्भुत के दिव्य और आनन्दज—दो भेद ।

इसके अतिरिक्त इन समस्त रसों के वर्णों एवं देवताओं का नाट्यशास्त्र में उल्लेख हुआ है जिनका सम्वन्ध मूलतः अभिनय से है । जिसके सम्वन्ध में व्याख्याकारों का कथन है कि वर्ण का निर्देश पूजन आदि के लिये अथवा रसानुकूल वेष सज्जा हेतु किया गया है तथा देवता का वर्णन तद्-तद् रस सिद्धि के लिये तद्-तद् देवतार्चन हेतु । विषयसम्वद्ध होने से यहाँ हम संक्षेप में भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्यों के मत को संक्षेप में उद्धृत करेंगे—

१. भट्टलोल्लट

'विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्वनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यःकृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः ।'[1]

लोल्लट के सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है । इनके अनुसार विभावों द्वारा उत्पन्न, अनुभावों द्वारा प्रतीतियोग्य कृत तथा संचारी द्वारा पुष्ट स्थायी भाव ही रस है । जो मुख्यतया अनुकार्य रामादि में तथा अनुकरण के कारण गौण रूप से पात्रों में रहता है । इसप्रकार ये निष्पत्ति का तीन अर्थ मानते हैं— उत्पत्ति, प्रतीति तथा पुष्टि । एवं संयोग का भी तीन अर्थ इन्हें अभिप्रेत है अर्थात् इनके मत में स्थायी भाव और विभावों के संयोग का तात्पर्य उनका उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है, स्थायी भाव एवं अनुभावों के संयोग का तात्पर्य उनका गम्य-गमक भाव सम्वन्ध है तथा स्थायीभाव एवं व्यभिचारियों के संयोग का तात्पर्य उनका पोष्य पोषक भाव रूप सम्वन्ध है ।

लोल्लट के अनुसार स्थायीभाव एवं रस में उपचय एवं अपचय का अन्तर है । उपचित स्थायी भाव ही रस है तथा अनुपचित स्थायी—स्थायी । यही स्थायी जव

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०१.

विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के योग से उपचित होता है तो रस नाम से अभिहित होता है।

शंकुक ने इनके सिद्धान्त की कड़ी आलोचन की है। उनके अनुसार—उपचित स्थायी भाव को ही यदि रस माना जाये तो यह प्रश्न होगा कि कितनी मात्रा तक उपचिति अपेक्षित है यदि उच्चतम पराकाष्ठा तक उपचित स्थायी को रस माना जाये तो भरतोक्त हास्य के छः भेदों एवं काम की दस अवस्थाओं में असंगति बैठने लगेगी। क्योंकि ये दशायें उच्चतम अवस्था की सूचक नहीं हैं अपितु उत्तरोत्तर प्रकर्ष की सूचक हैं।[1]

साथ ही विभाव एवं स्थायीभाव में उत्पाद्य उत्पादक रूप कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है क्योंकि रस दशा में यह देखा जाता है कि विभावादि कारणों के नाश के साथ ही रस रूप कार्य भी नष्ट हो जाते हैं तथा विभावों एवं रसों की सहस्थिति देखी जाती है, जो कि लोक में उत्पाद्य-उत्पादक रूप पदार्थों में सम्भव नहीं है। साथ ही लोल्लट के सिद्धान्त में प्रमुख दोष यह है कि इन्होंने मुख्य रूप से अनुकार्य में एवं गौण रूप से नट में रस की उत्पत्ति मानी है। सामाजिकों की रसानुभूति का कोई प्रश्न ही इन्होंने नहीं उठाया।

इसके अतिरिक्त रामादि अनुकार्य तो अब उपस्थित नहीं है अतः उनमें रसोत्पत्ति को कैसे माना जाये, इन्हीं सब सीमाओं के फलस्वरूप लोल्लट का सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ।

(२) शंकुक—'राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति, च सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोल जलदः कालः समुपागतश्चायम्।।

---

१. विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः, भावनां पृथक् पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्। स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्। मन्दतरममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः। हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः। कामावस्थासु दशस्वसंख्य रसभावादिप्रसङ्गात्। शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्यदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।
अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ६२४

इत्यादि काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तित स्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादि शब्द-व्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्र-सनीयत्वेनान्यानुमीयमान विलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः ।[1]

विभावरूप कारण, अनुभाव रूप कार्य, व्यभिचारी रूप सहकारी जो अभिनेता के द्वारा प्रयत्नपूर्वक सम्पादित किये जाने के कारण कृत्रिम होते हुये भी अकृत्रिम जैसे लगते हैं, लिंग रूप से अभिनेता के भीतर स्थायी भाव की अनुमिति दर्शकों को कराते हैं, यह स्थायी भाव मुख्य रामादिगत स्थायी भाव का अनुकृत रूप है और अभिनेता में वस्तुतः न रहते हुये भी विभावादि के प्रमाण वल से वहाँ अनुमित किया जाता है। यही अनुमीयमान स्थायी भाव वस्तु सौन्दर्य के वल पर अन्य अनुमीयमान तत्त्व की अपेक्षा विलक्षण प्रतीत होता हुआ रस कहलाता है। अनुकर्त्ता में अनुकार्य की प्रतीति को निरूपित करते हुये शंकुक इसे सम्यक्, संशय, सादृश्य एवं मिथ्या प्रतीति से विलक्षण अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता की अभेद प्रतीति को 'चित्रतुरग' न्याय से उपमित करते हैं। जिसप्रकार दीवाल पर चित्रित घोड़े को कोई वास्तविक घोड़ा नहीं कह सकता तथा साथ ही उस चित्र को घोड़ा होने से नकारा भी नहीं जा सकता है उसी प्रकार अनुकरण के द्वारा अनुभूत इस रस को न तो वास्तविक कहा जा सकता है और न अवास्तविक, यह इन दोनों से विलक्षण प्रतीति है।

प्रश्न उठता है कि अनुकर्त्ता या नट के इन रत्यादि भावों से सहृदय का क्या सम्वन्ध है? इसके उत्तर में शंकुक का कथन है कि अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ नट में वास्तविक रूप में न रहते हुये भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किये जाते हुये 'रस' कहलाते हैं। कहने का आशय यह है कि वस्तु सौन्दर्य से अभिभूत सहृदय स्वतः ही रस चर्वणा करने लगता है तथा इस चर्वणा में उसकी वासनाओं का भी योगदान रहता है।

शंकुक का यह सिद्धान्त न तो भरतमुनि की दृष्टि से, न सामाजिक की दृष्टि से और न ही नट या अनुकर्ता की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के आरम्भ से ही 'अनुकीर्तन' का अनुमोदन किया है। अनुकीर्तन में वस्तु के साधारणीकृत स्वरूप का अवबोध होता है। इसीलिए भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है—

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०२–३

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।[1]

अनुकरण के गर्भ में उपहास की भावना होती है, जबकि नाट्य विशुद्ध आनन्दानुभूति है, अतः नाट्य 'अनुकीर्तन' है 'अनुकरण' नहीं ।

सामाजिक की दृष्टि से भी रस को स्थायी भाव का अनुकरण नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुकरण के लिये वस्तु की प्रामाणिकता की अपेक्षा सदैव बनी रहती है, अनुकार्य की उपस्थिति अनुकरण हेतु अपरिहार्य हो उठती है । जो कि यहाँ सम्भव नहीं है । इसप्रकार इनके सिद्धान्त का मूल ही विनष्ट हो जाता है । साथ ही अनुकर्त्ता को चित्रतुरग की भाँति कल्पित करते हुये शंकुक का जो यह कथन है कि जैसे चित्रतुरग का देखकर तुरग का ज्ञान होता है उसीप्रकार नट की वेषभूषा एवं अभिनय के प्रभाव से सामाजिक अपनी वासना के योग से अवास्तविक अनुकर्ता नट को ही वास्तविक अनुकार्य मान लेता है । किन्तु स्मरणीय है कि वेषभूषा तथा अनुभावों का आधार आंगिक है जबकि स्थायीभाव का आधार मन है, इन्हीं सब कारणों से शंकुक का यह सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ ।

(३) भट्टनायक—'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेनभुज्यते', इति भट्टनाकः ।'[2]

भट्टनायक ने शंकुक के मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की है। इनके सिद्धान्त के दो पक्ष हैं—निषेधात्मक एवं विध्यात्मक । निषेधात्मक पक्ष में इन्होंने 'स्वगतत्वेन एवं 'परगतत्वेन' रस की प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति का निषेध किया है । यदि 'स्वगतत्वेन' रस की प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति मानी जाये तो सहृदय करुणादि रस में प्रसंग में शोकाकुल हो उठेगा तथा परगत—प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति मानने पर सहृदय को रसानुभूति ही नहीं हो सकेगी । अतः इन दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखते हुये भट्टनायक ने रस की प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति तीनों ही सिद्धान्तों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त की स्थापना की है ।

इन्होंने रसानुभूति के लिये तीन व्यापारों की कल्पना की है—अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व । अभिधा के द्वारा काव्यार्थ का बोध होता है तथा बोध होने पर साधारणीकरणात्मक व्यापार 'भावकत्व' द्वारा स्थायीभाव एवं विभावदि व्यक्ति-

---

१. नाट्यशास्त्र, १·१०७.
२, काव्याप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०६–७.

विशेष से सम्बद्ध न रहकर सहृदय से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। फलतः सहृदय के हृदय में सत्त्व का उद्रेक होता है, जो कि रजोगुण एवं तमोगुण का तिरस्कार करके प्रादुर्भूत होता है। आनन्द की इस स्थिति को ही भट्टनायक ने भोग के नाम से पुकारा है। इसी के द्वारा सामाजिक रस का भोग या आस्वाद करता है।

भट्टनायक प्रतिपादित भावकत्व (साधारणीकरण) व्यापार काव्यशास्त्र के लिये अपूर्व देन है, जिसे परवर्ती समस्त अलंकारशास्त्रियों ने स्वीकार किया है, क्योंकि इसके बिना रसास्वाद दुष्कर ही नहीं, असम्भव है।

किन्तु अभिनवगुप्त ने इस भावकत्व और भोजकत्व रूप दो व्यापारों की मान्यता को अस्वीकार किया है। क्योंकि भावकत्व का अन्तर्भाव व्यञ्जना में और भोजकत्व का 'रस प्रतीति' में हो जाता है। साथ ही भट्टनायक ने जो रस की प्रतीति, उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति का निषेध किया है वह भी अभिनवगुप्त को मान्य नहीं है क्योंकि संसार में या तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है या अभिव्यक्ति होती है। स्वयं भट्टनायक ने भी रस की प्रतीति को भोगरूप माना है।

(४) अभिनवगुप्त—लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन, स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीवितावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीण—मिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृंङ्गारादिको रसः।'[1]

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार लोक के कारण, कार्य, सहकारी ही काव्य में अलौकिक विभावनादि व्यापार के कारण विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के नाम से कहे जाते हैं। इन विभावादि की सहृदय को साधारण रूप से प्रतीति होती है तो वह इतना तन्मय हो उठता है कि उन्हें इनके विषय में स्वगतत्व एवं परगतत्व आदि किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है। सहृदय के हृदय में स्थायीभावों की वासनात्मक स्थिति रहती है जिसके आधार पर वह रस का अस्वादन करता है।[2]

१. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०८-९.
२. न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनां।

इसी संस्कार के कारण यह देखने में आता है कि एक ही वस्तु को अनेक दर्शक देखते है किन्तु उनकी रसानुभूति में भेद होता है। इस भेद का कारण वासनात्मक विभेद ही है इसीलिये अभिनवगुप्त ने स्थायीभावों की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव पहले से विद्यमान रहते हैं, रस नहीं। रसानुभूति विभावादि के संयोग से होती है। किन्तु यह संयोग कार्य कारण भाव रूप नहीं है क्योंकि रस 'विभावादि जीवितावधिक' है। इसीलिये इन्होंने रस को आस्वाद मात्र स्वरूप (चर्व्यमाणतैकप्राणः) माना है। इस रसास्वाद काल में अन्य समस्त भावों का तिरोभाव हो जाता है, यदि ऐसा न हो तो रसास्वाद ही न हो सके। 'ब्रह्मास्वाद का अनुभव कराता हुआ सा' से अभिनव का तात्पर्य यह है कि यह रस ब्रह्मानन्द के तुल्य है। लौकिक भावों पर आधारित होने के कारण तथा विभावादि जीवितावधिक होने के कारण काव्यास्वाद जहाँ एक ओर शुद्ध आध्यात्मिक आनन्द से भिन्न है, वहीं दूसरी ओर प्रत्यक्ष ऐहिक भोगास्वाद से उच्चतर एवं सूक्ष्मतर भूमि पर अवस्थित होने के कारण इसे स्थूल लौकिक आनन्द भी नहीं कहा जा सकता। यह आनन्द ब्रह्मास्वाद के समान सूक्ष्म परिष्कृत आनन्द तो है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार रूप शुद्ध आनन्द नहीं है। साथ ही यह रस अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला है। रस को 'कार्य' एवं 'ज्ञाप्य' से विलक्षण सिद्ध करके अभिनवगुप्त ने इसकी अलौकिकता को पुष्ट किया है।[1]

इसप्रकार हम देखते हैं कि भरत ने जहाँ रस को आस्वाद का विषय माना था वहाँ अभिनवगुप्त इसे आस्वाद रूप ही मानते हैं। अभिनवगुप्त का ही मत परवर्ती काल में प्रचलित रहा है।[2] क्योंकि रस सम्बन्धी अनेकानेक उद्भावनाओं को बड़े ही स्पष्ट एवं सबल शब्दों में अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत किया है जिनमें से रस की अभिव्यक्ति का सन्दर्भ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रस का रसत्व ही उसकी अभिव्यक्ति पर आश्रित है।

---

१. स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः।

काव्यप्रकाश, पृ० ११०.

२. जैसाकि एस०एन० दास गुप्ता का मत है–The view of Rasa expressed by Abhinavagupta had been accepted in latter times as the almost unchallengeable gospel truth and as the last analysis of the aesthetic phenomenon propagated through literature. V. Raghavan and Nagendra (edited by), An Introduction to Indian Poetics, p. 41.

साथ ही रस की आनन्द रूपता का जो प्रतिपादन अभिनव ने किया है—वह भी एक सार्वभौम सत्य है। रसों के द्वारा अनुभूतिगम्य होने वाला आनन्द शृंगार, करुणादि भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता है। वह आनन्द एक है—अखण्ड है। सम्भवतः इसी भाव से प्रेरित होकर अभिवनगुप्त ने समस्त रसों के मूल में एक रस माना है तथा इसी के प्रभाव में भोज एवं भवभूति भी एक रसवाद के समर्थक रहे हों।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि भरत के रस सिद्धान्त की पीठिका पर परवर्ती काल में आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट एवं पण्डितराज जगन्नाथ तक रस सिद्धान्त का उपवृंहण हुआ है, किन्तु वह भरत का इस दृष्टि से विस्तार है कि भरत ने नाटच रस का विवेचन किया है वहाँ इन आचार्यों ने काव्य-रस का अर्थात् श्रव्यकाव्य को दृष्टि में रखकर उसके आधार पर विभावानुभाव व्यभिचारी के द्वारा रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर बल दिया है तथा रस को ही आधार बनाकर दोष, गुण, अलंकार, औचित्यादि का विधान काव्य में किया है। "इसप्रकार रस एक व्यापक शब्द है, वह विभावानुभावसंचारिसंयुक्त स्थायी अर्थात् परिपाक अवस्था का ही वाचक नहीं है। वरन् उसमें काव्यगत सम्पूर्ण भाव सम्पदा का अन्तर्भाव है। अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव सौन्दर्य का पर्याय है; शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौन्दर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है। काव्य के अनुचिन्तन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रकार—सूक्ष्म और प्रबल, सरल और जटिल, क्षणिक और स्थायी संवेदन, स्पर्श, चित्र-विकार, भाव विम्ब, संस्कार, मनोदशा, शील–सभी रस की परिधि में आ जाते हैं।"[1]

नाटचशास्त्र से काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र धारा का कारण

यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक है कि रस सिद्धान्त सबसे प्राचीन सिद्धान्त है तथा जब रस का क्षेत्र इतना व्यापक है एवं वही काव्य की चरम उपलब्धि है, तो फिर अलंकार सम्प्रदाय, रीति साम्प्रदाय आदि के आविर्भाव का क्या औचित्य है? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रस का वर्णन चूँकि नाटच के सन्दर्भ में हुआ है अतः विभावानुभाव एवं व्यभिचारी की ठीक से काव्य में उपपत्ति नहीं बैठ पायेगी यह सोचकर ही काव्यात्मा का अन्वेषण पथ! प्रशस्त हुआ। जिसने इन विभिन्न सप्रदायों को जन्म दिया, किन्तु कलान्तर में आचार्यों को इस तथ्य का पूर्णतया अवभान हो गया कि काव्य में भी विभावानुभावव्यभिचारी की योजना उतने ही सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्ति पा सकती है, तब पुनः रस सिद्धान्त मूर्धाभिषिक्त हुआ।

---

१. नगेन्द्र, रस सिद्धास्त, पृ० ३१८.

भाव

नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भरत ने भावों का विस्तृत विवेचन किया है। नाट्य का साध्य रस है (जो कि वाद में चलकर काव्य का भी साध्य हो गया) तथा रस का साधन भाव है। वस्तुतः भरतमुनि ने भाव की दो प्रकार से व्याख्या की है। भाव शब्द व्याप्ति बोधक है। ये भाव शब्दों, शरीर के अवयवों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा दृश्य काव्य के अभिप्राय को दर्शकों को बताते हैं। लौकिक व्यवहार में भी भावन का व्याप्ति रूप अर्थ देखा जाता है, यथा 'अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति।'[1] साथ ही ये भाव चूँकि हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में अवस्थित रहते हैं तथा वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक भावों से युक्त काव्यार्थों को ये भावित करते हैं इसलिये भी भाव कहे जाते हैं—

वागङ्गमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।[2]

इन भावों के तीन प्रकार हैं—स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक। स्थायी आठ हैं, व्यभिचारी ३३ तथा सात्त्विक भाव भी आठ हैं। इसप्रकार ये उनचास भाव हैं और इन्हीं के सामान्यगुणयोग (साधारणीकरण) से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार शुष्क काष्ठ को जलाने के लिये बाह्य अग्नि की अपेक्षा होती है तथा उस अग्नि को प्राप्त कर काष्ठ त्वरित गति से प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार ये भाव (अग्नि के समान ही) रस की उत्पत्ति में हृदय संवाद का कार्य करते हैं।[3]

इन भावों की व्याख्या के सन्दर्भ में 'विभावों' को व्याख्यायित करते हुये वे कहते हैं कि ये कारण रूप हैं अर्थात् इन्हीं के द्वारा स्थायी एवं व्यभिचारी भाव वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय के माध्यम से ज्ञापित होते हैं।[4]

तथा 'अनुभाव' शब्द का प्रयोग उनके लिये हुआ है जो वाणी, अंग तथा सात्त्विक भावों के द्वारा अभिनय को अनुभव गम्य बनाते हैं।[5] भरत ने इन विभावों एवं अनुभावों को लोक संसिद्ध माना है।

---

१. नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, पृ० ३६७.
२. वही, ७.२,
३. योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
   शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ ७.७
४. बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
   अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥ ७.४
५. वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते।
   शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ७.५

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब भावों की संख्या ४९ है तो इनमें से स्थायी भाव ही क्यों रसत्व को प्राप्त होते हैं अन्य भाव नहीं ? इसका समाधान भरत ने बड़े ही सुन्दर दृष्टान्त के द्वारा किया है—'यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः । तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत् ।'[1]

भरतमुनि ने आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिता ॥"[2]

इसमें शम का उल्लेख नहीं है । तथा इन स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् अभिनय विधियों का भी विधान किया है । जो भाव मनुष्य में सदैव विद्यमान रहते हैं उन्हें स्थायी भाव कहा जाता है ।

व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ है । इन्हें व्यभिचारी इसलिये कहा जाता है कि ये विविध प्रकार से रसों की ओर बढ़ते हैं "विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।'[3] ये व्यभिचारी भाव स्थायी भावों को रस रूप में प्रतीति योग्य बनाते हैं । चूँकि ये सदैव विद्यमान नहीं रहते, उत्पन्न एवं विलीन हुआ करते हैं इसलिये इन्हें संचारी भी कहा जाता है ।

सात्त्विक भाव संख्या में आठ होते है । चूँकि इनकी उत्पत्ति मन की एकाग्रता से होती है इसीलिये इन्हें 'सत्त्व' कहा गया है । नाट्य में सात्त्विक भावों का अभिनय की प्रभावशालिता की दृष्टि से अधिक महत्व है । इन सात्त्विक भावों के विनियोग का भी भरत ने अंकन किया है जो कि उनके अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है ।

काव्य या नाट्य में नाना भाव एवं अर्थ से सम्पन्न स्थायी, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों को माला में पिरोये हुये पुष्पों की तरह आयोजित करना चाहिये—

नाना भावार्थसम्पन्ना स्थायिसत्वाभिचारिणः ।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः ॥[4]

भरत का भाव वर्णन मानव स्वभाव की सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों को बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करता है । मानव की सुख-दुःख की अभिव्यक्ति का ढंग आज भी वही है जो सदियों पहले था । भरत का भाव सम्बन्धी समस्त विवेचन नितान्त

१. नाट्यशास्त्र, पृ० ३७९.
२. वही, ६.१८.
३. वही, पृ० ३९०.
४. नाट्यशास्त्र, ७.१२५.

मौलिक है एवं परवर्ती आचार्यों के लिये उपजीव्य रहा है। परवर्ती आचार्यों का रस एवं भाव सम्बन्धी वर्णन भरत के प्रमाण्य पर ही आधृत है। नाट्य की भाव-भूमि का इतना वैज्ञानिक और तर्क सम्मत विवेचन शायद ही किसी अन्य भाषा के नाट्य या काव्यशास्त्र में इतने प्राचीन काल में हुआ हो।

प्रवृत्तियाँ

भरत मुनि ने देश प्रदेश की वेष-भूषा तथा रहन-सहन के आधार पर चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है।

> आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधो।
> पाञ्चाली मध्यमाचेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः॥[1]

अर्थात् आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी और पाञ्चाली ये चार प्रवृतियाँ हैं; जिनमें से आवन्ती भारत के पश्चिम भाग की, दाक्षिणात्या भारत के दक्षिण भाग की, औड्र-मागधी भारत के उड़ीसा तथा मगध प्रदेश की और पांचाली भारत के मध्य देश की प्रवृत्ति कहलाती है। यह भौगोलिक आधार पर किया गया काव्य प्रवृत्तियों का विचार है, जिसे आलंकारिक रीति सिद्धान्त का प्रस्थान बिन्दु मानते हैं।

किन्तु यहाँ यह अवधारणीय है कि रीतियों का जो भी उपलब्ध वर्णन है उससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि रीतियाँ अक्षर विन्यासात्मक हैं, किन्तु भरत के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उनकी प्रवृत्तियों का सीधा सम्बन्ध वेषभूषादि से है। अतः भरत की प्रवृतियों एवं रीतियों को एक नहीं माना जा सकता है। किन्तु रीतियों के 'विदर्भादिषुतत्समाख्या' अर्थात् वैदर्भ, गौडीय, पाञ्चाल आदि देश प्रभावित नाम के आधार पर इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि चूँकि भरत ने विभिन्न देशगत वेषभूषादि का वर्णन किया है अतः उससे प्रभावित होकर परवर्ती काल में विभिन्न देशगत भाषाशैली पर विचार किया गया है।[2]

व्याकरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का सम्यक् निरूपण

भरत मुनि ने वाचिकाभिनय के प्रसंग में नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, सन्धि तथा विभक्ति आदि का विवेचन किया है। इन व्याकरण

1. वही, ६.२६.
२. With this assumption and restriction there would be no difficulty in accepting generally the view represented by Manikyacandra and Hemanchadra that the successors of Bharat established their own definitions by scrutinizing and improving upon Bharata's conception of the gunas but

सम्बन्धी विवेचनों के अतिरिक्त वाचिकाभिनय को पूर्णता एवं सार्थकता प्रदान करने हेतु उन्होंने छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण, दोष, भाषा एवं पाठचशैली का भी तात्त्विक निरूपण किया है। क्योंकि यदि वाचिक अभिनय शिथिल हो तो अन्य अभिनयों के प्रयोग के द्वारा नाटच को सुरुचिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता।[1]

छन्द

नाटचशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में भरत ने 'शब्द' का शास्त्रीय विवेचन करते हुये—अकारादि चौदह स्वर, 'क' से 'ह' तक व्यञ्जन, घोष-अघोष, वर्णों के उच्चारण स्थान, नामाख्यात, उपसर्ग, प्रत्यय तथा संधि, समास आदि शब्दशास्त्र के प्रधान विषयों का प्रतिपादन किया है।[2]

पद का वर्णन करते समय उसके दो भेद किये हैं—चूर्णपद एवं निबद्ध। चूर्णपद का प्रयोग अनिबद्ध (छंदरहित) होने से गद्य लेखन में होता है। तथा निबद्ध पद उसे कहते है जिसमें पदों एवं अक्षरों का निश्चित क्रम के अनुसार गठन हो, यति (विच्छेद) समन्वित हो तथा जिसमें अक्षर संख्या का निश्चित प्रमाण रहे उसे 'निबद्ध' (पद्योपयोगी) कहते हैं। इस 'निबद्ध' पद या छंद का लक्षण करते हुये वे कहते हैं—ये छंद चार पादों से युक्त, अनेक अर्थों की अभिव्यञ्जना से युक्त तथा गुरु एवं लघु वर्णों के स्वरूप द्वारा निर्मित होता है।[3] भरत ने इन छंदों के १ से २६ संख्या तक के अक्षरों में होने वाले पादों के कारण २६ भेद माने हैं तथा सम, अर्ध-सम एवं विषम के भेद से तीन भेद किये हैं। भरतमुनि न तो शब्द को छन्द से विहीन मानते हैं, और न छन्द को शब्द से विहीन। इन दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।[4] क्योंकि नाना वृत्तों से लयात्मकता निष्पन्न होती है तथा इस लयात्मकता से वाणी में उल्लास, माधुर्य और विलास मुखरित हो उठता है। छन्दों में गणों का विधान, इन गणों में गुरु, लघु, यति आदि का निर्देश बड़े ही क्रमिक ढंग से भरत ने प्रस्तुत किया है जो परवर्ती काल में आदर्श रहा है।

---

treating them in connection with the later theory of Riti, of which there is no trace in Bharata's work.

P.C. Lahiri, Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, p. 48.

१. नाटचशास्त्र, १५.६ से ३६.
२. वही, १५.६–७.
३. एवं नानार्थसंयुक्तैः पादैर्वर्णविभूषितैः।
चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत्॥ १५.३९.
४. छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्॥१५.४२

भरत ने इन छन्दों की परिगणना तीन प्रधान गणों के अन्तर्गत की है—दिव्यगण, दिव्येतरगण तथा दिव्यमानुषगण। दिव्य छन्दों के अन्तर्गत गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप तथा जगती; दिव्येतर गण के अन्तर्गत अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति छन्द आते हैं एवं दिव्य मानुष के अन्तर्गत--कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति तथा उत्कृति छन्द परिगणित किये जाते हैं। दिव्यगण में पाया जाने वाला अनुष्टुप छन्द रामायण, महाभारत आदि में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। दिव्यमानुष श्रेणी के बहुत कम छन्द लोक प्रचलित हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि भरत का छन्द वर्णन बहुत व्यापक है। इससे यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भरत के समय तक छन्दशास्त्र पर्याप्त विकसित हो चुका था। भरत निर्दिष्ट ये छंद आज भी कवियों, नाटककारों एवं लोकगीत के गायकों के माध्यम से भरत की अप्रतिम प्रतिभा का बोध करा रहे हैं। भरत के अनुसार इन छन्दों का मुख्य उद्देश्य नाट्यार्थ की समृद्धि करना है जिसे कि इस परिप्रेक्ष्य में हम काव्य समृद्धि हेतुक भी मान सकते हैं। मन्दाक्रान्ता में रचित होने से मेघदूत का रस कितना उभर पड़ा है यह किसी से छिपा नहीं है। साथ ही छंदों का नाद–सौन्दर्य सहृदय के रसोद्‌बोध में भी अत्यन्त सहायक होता है। स्वरों के उच्चावच प्रयोग का अर्थावबोध से कितना मार्मिक सम्बन्ध है यह काकुव्यङ्ग्य के उदाहरण से ही स्पष्ट है। साथ ही एक बात जो बहुत अधिक ध्यान देने की है कि भरत ने इन छंदों का भी सम्बन्ध रस से स्थापित किया है। छंद योजना रसानुकूल होनी चाहिए।[1] रसोद्‌बोध के लिये ही भरत ने नाट्य में लक्षण, गुण, दोष, अलंकार आदि की परिकल्पना की है।

लक्षण

नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय[2] में लक्षणों का काव्यतत्त्व के रूप में विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वस्तुतः कवि के द्वारा काव्यादि निर्माण तथा अभिनेता के द्वारा प्रयोग के अवसर पर शब्दों पर विशेष बल होना चाहिये, क्योंकि नाट्य या काव्य का यही कलेवर है। अंग, नेपथ्य रचना तथा सत्त्वाभिनय वाक्य के अर्थों को ही अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् इन सबकी योजना वाचिकाभिनय की अभिव्यक्त्यर्थ ही की जाती है—ये सहयोगी का कार्य करते हैं। यदि वाचिकाभिनय शिथिल हो तो अन्य अभिनय से प्रयोग सुरुचिपूर्ण नहीं हो सकता है—

---

१. यच्छन्दः पूर्वमेवोक्तं विषमार्द्धसमे समम्।
उदारमधुरैः शब्दस्तत् कार्यन्तु रसानुगम्॥ १७.११८.

२. नाटचशास्त्र, काशी संस्कृत ग्रंथमाला.

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाटयस्यैषा तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥[१]

अतः इसी वाचिकाभिनय की विशिष्टताओं को ख्यापित करते हुये भरत मुनि ने लक्षण, गुणादि की चर्चा की है। क्योंकि इनके ही अन्तर्निवेश से वाचिकाभिनय पुष्ट होता है। भरतमुनि ने काव्यबन्ध में लक्षणों को अत्यधिक महत्त्व दिया है तथा गुणों एवं अलंकारों के महत्त्व को भी लक्षण के अधीन ही माना है।

नाटयशास्त्र के सभी संस्करणों में लक्षणों की दो पाठ परम्परायें उपलब्ध होती हैं। इन दोनों ही परम्पराओं में ३६-३६ लक्षण प्राप्त होते हैं। इन दोनों परम्पराओं में प्राप्त लक्षणों में १८ लक्षणों के नाम समान हैं। लक्षणों की इन दो परम्पराओं में एक परम्परा में लक्षण अनुष्टुभ् छन्द में लिखे गये हैं एवं एक परम्परा में उपजाति वृत्त में। अभिनवगुप्त ने उपजातिवृत्त में रचित लक्षणों को ही मान्य ठहराया है। क्योंकि वे उन्हें अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त हुये थे।[२] अभिनवगुप्त की पाठ परम्परा के अनुसार छत्तीस लक्षणों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) भूषण (२) अक्षरसंहति (३) शोभा (४) अभिमान (५) गुणकीर्तन (६) प्रोत्साहन (७) उदाहरण (८) निरुक्त (९) गुणानुवाद (१०) अतिशय (११) सहेतु (११) सारूप्य (१३) मिथ्याध्यवसाय (१४) सिद्धि (१५) पदोच्चय (१६) आक्रन्द (१७) मनोरथ (१८) आख्यान (१९) याच्ञा (२०) प्रतिषेध (२१) पृच्छा (२२) दृष्टान्त (१३) निर्भासन (२४) संशय (२५) आशी (२६) प्रियोक्ति (२७) कपट (२८) क्षमा (२९) प्राप्ति (३२) पश्चाताप (३१) अनुवृत्ति (३२) उपपत्ति (३३) युक्ति (३४) कार्य (३५) अनुनीति और (३६) परिदेवन।

दूसरे पाठ के अनुसार लक्षण के ये नाम हैं—

(१) भूषण (२) अक्षरसंघात (३) शोभा (४) उदाहरण (५) हेतु (६) संशय (७) दृष्टान्त (८) प्राप्ति (९) अभिप्राय (१०) निदर्शन (११) निरुक्त (१२) सिद्धि (१३) विशेषण (१४) गुणातिपात (१५) गुणातिशय (१६) तुल्यतर्क (१७) पदोच्चय (१८) दिष्ट (१९) उपदिष्ट (२०) विचार (२१) विपर्यय

१. नाटयशास्त्र, १५.२.
२. पठितोद्देशक्रमस्त्वस्मदुपाध्यायपरम्परागतः।
अभिनवगुप्त—अभिनवभारती, मधुसूदन शास्त्री द्वारा सम्पादित, द्वितीय भाग, प्रथम संस्करण (का०हि०वि०वि०), पृ० १२६०.
(आगे भी पृष्ठ संख्या इसो संस्करण से दी गयी है)

(२२) भ्रंश, (२३) अनुनय (२४) माला (२५) दाक्षिण्य (२६) गर्हण (२७) अर्थापत्ति, (२८) प्रसिद्धि (२९) पृच्छा (३०) सारूप्य, (३१) मनोरथ (३२) लेश (३३) संक्षेप (संक्षोभ) (२४) गुणकीर्तन (३५) अनुरक्तसिद्धि (३६) प्रियवचन (प्रियोक्ति)।

दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य १८ लक्षण—

(१) भूषण (२) अक्षरसंघात (३) शोभा (४) उदाहरण (५) हेतु (६) संशय (७) दृष्टान्त (८) प्राप्ति (९) निरुक्ति (१०) सिद्धि (११) अतिशय (१२) पदोच्चय (१३) अनुनय (१४) पृच्छा (१५) सारूप्य (१६) मनोरथ (१७) गुणकीर्तन (१८) प्रियवचन।

लक्षणों के इन नामों से ही यह तथ्य स्पष्ट विदित हो जाता है कि काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल में इन लक्षणों का काव्य में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। भरतमुनि द्वारा परिगणित अलंकारों की चार संख्या एवं लक्षणों की छत्तीस इनके पारस्परिक महत्त्व को इंगित कर देती है। परन्तु कालान्तर में अलंकार एवं गुण पद्धति के विकास के फलस्वरूप लक्षण पद्धति की अवधारणा ही धूमिल पड़ गयी। स्वयं अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति आदि जिस प्रकार प्रसिद्ध काव्यमार्ग हैं उसप्रकार लक्षण नहीं—

'तत्र गुणालंकारादिरिति वृत्तियश्चेति काव्येषु प्रसिद्धो मार्गः,
लक्षणानि तु न प्रसिद्धानि।'[1]

भरतमुनि ने इन लक्षणों की काव्य में स्थिति को अत्यावश्यक माना है—

"काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः॥"[2]

१७ वें अध्याय में इन्होंने इन ३६ लक्षणों को पृथक्-पृथक् परिभाषित किया है तथा अन्त में इन्हें काव्य के भूषण के रूप में स्वीकार किया है। इस ३६ संख्या के निर्धारण के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का कथन है कि ३६ से अधिक लक्षण नहीं हैं ऐसा निषेध करने में भरतमुनि का तात्पर्य है। क्योंकि कवियों के हृदय में रहने वाले लक्षण अपरिसंख्येय हैं। किन्तु अधिकांशतः यह देखा गया है कि इतने से ही लक्ष्य व्याप्त है अतः कवि का अवधान इन ३६ लक्षणों के प्रति ही होना चाहिये।[3] यहाँ यह अवधारणीय है कि भरत ने इन लक्षणों को मात्र नाट्य के लिये

---

१. अभिनवभारती, पृ० १२५२.
२. नाट्यशास्त्र, १६.१७९.
३. षट्त्रिंशदिति च नान्यदिति वारणपरं कविहृदयवर्तिनामपराणामपरिसंख्येयत्वात्। किं तु बाहुल्येन तावदियता लक्ष्यं व्याप्तम्, इयति च कविनावधात-

उपयोगी नहीं बताया है अपितु, (नाटचोपेत) काव्यमात्र के लिये उपादेय माना है। भरत ने इन लक्षणों के सम्बन्ध में कहा है कि जैसे काव्य में अलंकार होते हैं वैसे ही ये लक्षण होते हैं। काव्य में सम्यक् रूप से इनका प्रयोग रसों के अनुसार करना चाहिये। इनके प्रयोग की समीचीनता इस तथ्य पर आधृत है कि काव्य में जो भाव हैं, कवि का कथनीय अर्थ है—लक्षण तदनुगामी होंवे। इसके अतिरिक्त गुण और अलंकार से लक्षण का पार्थक्य भरतमुनि ने नहीं किया है। साथ ही अभिनव-भारती में प्राप्त होने वाले विभिन्न मतमतान्तरों को देखकर यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के पूर्व लक्षणों का स्वरूप वड़ा ही संदिग्ध था, इसीलिये विभिन्न पक्षों की उपस्थापना हुई थी। अभिनवभारती में पाये जाने वाले लक्षण सम्बन्धी मत-मतान्तरों को इसप्रकार समझा जा सकता है—

(१) लक्षण गुण से भिन्न हैं। गुण आत्मस्वरूप शृंगारादि रसों में रहते हैं, अतः शृंगारादि में उनको लक्षित करना आवश्यक है। किन्तु जो काव्य शरीर शब्द एवं अर्थ में रहते हुये भी उससे पृथक् सिद्ध है वह लक्षण है, जिससे शरीर का सौन्दर्य हो जाता है वह सिद्ध रूप एवं साध्य रूप दो प्रकार की होती है। यथा षोडश वर्ष की कन्या है, यह षोडश वर्षत्व सिद्ध रूप अवस्था विशेष है तथा 'मद-मन्थरगामिनी' है यहाँ गमन क्रियारूप होने से साध्य है—ये ही श्यामा के लक्षण हैं। इस लक्षण के उपरान्त भी वह अलंकारों को धारण करती है। धारण करने की क्रिया से अलंकार का वाह्यत्व स्पष्ट है। अतः लक्षण से अलंकार का पार्थक्य स्पष्ट है। अलंकारों के रहते हुए भी लक्षणों के विना काव्य शोभित नहीं होता है। अतः स्पष्ट है कि लक्षण नामक तत्त्व काव्य शरीर की विशेपता है जैसे मानवशरीर की विशेषता 'विशालाक्षता', 'मदमन्थरता' आदि हैं।[1]

(२) कुछ के अनुसार कथावस्तु के अंश या सध्यंग ही लक्षण हैं। जिस प्रकार महापुरुषों के शरीर में प्राप्त होने वाले सामुद्रिक चिह्न पाश, ध्वज, अंकुश आदि की रेखायें व्यक्ति के महापुरुषत्व को इंगित करती हैं उसी प्रकार वीज रूप में उपक्षिप्त

व्यमिति संख्यानिरूपणम्।
अभिनवभारती, पृ० १२६०

१—इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृङ्गारादौ वर्त्तन्ते, शृङ्गारे चावश्यं लक्ष्यत इति ~~पृथक् सिद्धत्वादलङ्कारः,~~ शरीरनिष्ठमेव यत्पदं पृथक्सिद्धं तल्लक्षणम्, येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा यथा श्यामेति, 'मद-मन्थरगामिनी' इति च। एवदेव लक्षणं, तच्चालंक्रियते। अलङ्कारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते।
अभिनवभारती, पृ०१२५२.

तथा निर्वहण में फलरूप को प्राप्त होने वाला पूर्वा-पर का क्रम से निर्वाह करने वाला लक्षण ही है। यह लक्षण पूर्वापर सहकारी एवं रस विशेष के उपयोगी होने से वृत्तियों का अंग कहलाता है।[1]

(३) कुछ के अनुसार काव्यगत धीरोदात्तादि नायकों में गुणों का आधान जिससे हो ऐसी वस्तु के वर्णन करने की भङ्गी या शैली ही लक्षण है। इसप्रकार इस मत में वचनभंगिना को ही लक्षण माना है।[2]

(४) गुण, अलंकार और लक्षण में कुछ ने आश्रयाश्रयी भाव के अनुसार भेद नहीं किया है जैसाकि प्रथम मत में उल्लेख किया गया है अपितु कवि व्यापार को दृष्टि में रखकर भेद किया है। जिससे काव्य में गुण, अलंकार और लक्षण का सृजन होता है। कवि के तीन व्यापार होते हैं। इनमें से कवि का जो प्रतिभा स्वरूप प्रथम व्यापार है उस प्रतिभाख्य व्यापार वल से गुणों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि रसों के अभिव्यञ्जन में समर्थ गुणों का निवन्धन प्रतिभावान कवि के द्वारा ही सम्भव है, न कि सामान्य कवि के द्वारा तथा इस शव्द से इस वस्तु का वर्णन करूँगा इस प्रकार का जो कवि का वर्णन परक व्यापार है उससे अलंकारों का सम्पादन किया जाता है। तथा इन शव्दों के साथ इन शव्दों की एवं इन अर्थों के साथ इन अर्थों की संघटना करूँगा—इस प्रकार का जो कवि का तृतीय व्यापार है, इसी की अधीनता में काव्य को शव्दात्मक एवं अर्थात्मक शरीर का लाभादि प्राप्त होता है—ये ही काव्य शरीरके संश्रित लक्षण कहलाते हैं। इस प्रकार ये लक्षण शव्द एवं अर्थ को सजाने में समर्थ हैं तथा श्लेषादि दस गुणों का अभिव्यञ्जन करना इनका व्यापार है।[3] इस प्रकार यह मत भी प्रथम मत के अनुरूप ही लक्षण को काव्यशरीर ही मानता है।

१—अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डकान्येव सन्ध्यङ्गकानि वृत्त्यङ्गकानि लक्षणानि इति च व्यपदिश्यन्ते।··· काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजादिपादरेखावल्लक्षणशव्दवाच्यता। तदुक्तं तत्रैव—

लक्षणान्येव बीजार्थक्रमनिर्वाहकानि च। इति
प्रतिसन्धितदङ्गानि फलसिद्ध्युपपत्तितः॥ इति

पृ० १२५३

२—काव्ये धीरोदात्तादिगुणाधानं वस्तुवर्णनाभङ्गिर्वेति केचित्।
पृ० १२५३

३—एकेषां तु—कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद् व्यापारवलोपनता गुणाः प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरुपनिवन्धसामर्थ्यं, न सामान्य-

(५) कुछ के अनुसार लक्षण प्रबन्धगत धर्म हैं ; शब्द, अर्थ और अभिप्रायों में समृद्धयाधायक कवि का अभ्यास लक्षण है। मेघदूत आदि में यह अभ्यास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।[१]

(६) कुछ लोगों के अनुसार कवि का विशिष्ट अभिप्राय ही लक्षण है।[२]

(७) कुछ का कथन है कि गुणों एवं अलंकारों का अपने-अपने उचित स्थान पर योजना ही लक्षण है।[3] यहाँ पर गुणों एवं अलंकारों का उचित स्थान पर योजन रसौचित्य की अभिव्यंजना कर रहा है क्योंकि औचित्य सदैव सापेक्ष होता है।

(८) कुछ के अनुसार अलंकारादि निरपेक्ष काव्य में भी जैसे अमरुक कवि के श्लोकों में, काव्यशरीर विशेष रूप अर्थ लक्षण है।[४] अतः स्पष्ट है कि अलंकारों के बिना भी लक्षणों से काव्य सौन्दर्याधायक होता है।

(९) कुछ के अनुसार अलंकार अनन्त हैं, उनकी परिगणना किसके द्वारा सम्भव है। अतः उपमा, रूपक, दीपक का ही भेद यह है। इस प्रकार चित्रत्व ही लक्षण है।[५] इस मत में लक्षण को भी एक अलंकार प्रकार ही मात्र माना गया है।

आगे चलकर अलंकारों का निरूपण करते समय अभिनवगुप्त से अपने आचार्य

कवेः। अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्काराः।

शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनव्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति। पृ० १२५४

१—तथा हि किञ्चित् प्रबन्धजातं गुणालंकारनिकरप्रधानं, यथा मेघदूताख्यं तद्विभूषणम् एवमन्यदपि, इति। पृ० १२५५.

२—कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणमितीतरे पुनर्मन्यन्ते। पृ० १२५५.

३—केचिद् यथास्थानविशेषं यद् गुणालंकारयोजनं तल्लक्षणमिति। पृ० १२५५

४—अलंकारादिनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योऽभिनेयविशेषः काव्येषु दृश्यते, अमरुकश्लोकेष्वपि, तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः सुलक्षणः स एव चार्थः काव्यशरीरविशेषरूपो लक्षणम्। पृ० १२५६.

५—उपमादीपकरूपकाणामानन्त्याद् भेदमाहुः। अन्ये तु शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणमिति। पृ० १२५६

के मत को उद्धृत करते हुये लिखा है कि[1]–अलंकारों में विलक्षणता लक्षण के ही वल से आती है। यथा गुणानुवाद नामक लक्षण के योग से प्रशंसोपमा होती है, अतिशय नामक लक्षण के योग से अतिशयोक्ति, मनोरथ के योग से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय के योग से अपह्नुति, सिद्धि के योग से तुल्ययोगिता; इसी प्रकार अनेकानेक अलंकार लक्षण के योग से उद्भूत होते हैं। इसके अतिरिक्त लक्षण की परस्पर विचित्रता में भी अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है यथा प्रतिषेध एवं मनोरथ के सम्मेलन से आक्षेप नामक अलंकार वनता है।

(१०) कुछ के अनुसार जैसे मीमांसा में तन्त्र-प्रसंग, बाध एवं अतिदेश आदि वाक्य विशेष के लक्षण प्रसिद्ध हैं वैसे ही काव्य-विशेष के व्यवच्छेदक भूषणादि लक्षण समूह हैं।[2]

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने लक्षण सम्बन्धी दस पूर्व पक्षों की उपस्थापना की है। उल्लिखित दस मतों का पर्यालोचन करने पर निम्न तथ्य निष्कर्ष रूप में आते हैं—

(१) लक्षण शब्दार्थ रूप काव्यशरीर में स्थित रहते हैं।

(२) ये काव्य के सौन्दर्य की सदैव वृद्धि करते हैं।

(३) ये अलंकारों से भिन्न हैं क्योंकि अलंकार वाह्योपकरण हैं, जबकि लक्षण काव्यशरीर से अपृथग् सिद्ध तत्त्व हैं।

(४) ये लक्षण अलंकारों के विना भी काव्य में अकेले ही शोभाकारक होते हैं, अलंकार इन लक्षणों के रहने पर ही इनकी शोभा की वृद्धि करता है।

वस्तुतः उक्त मतों में शास्त्रीय 'लक्षण' शब्द का लोक प्रचलित अर्थ से तादात्म्य स्थापित किया गया है। लोक में जिस प्रकार पद्मरेखा आदि से अंकित मनुष्य का माहात्म्य अलंकाराभरणों से विभूषित मनुष्य की अपेक्षा अधिक होता है, क्योंकि ये लक्षण तो अंगभूत हैं तथा व्यक्ति के सौभाग्य में सूचक हैं, जबकि रत्ननिर्मित आभूषण वाह्य अंगों के शोभाधायक मात्र हैं। उसी प्रकार काव्य और नाट्य का यह लक्षण कमल और ध्वज चिह्नों के अनुरूप नितान्त अंगभूत है तथा ये लक्षण अलंकार एवं गुण की अपेक्षा किये विना आत्म सौन्दर्य से प्रतिभासित होते हैं—

१—उपाध्यायमतं तु–लक्षणवलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति तथा हि–गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात्प्रशंसोपमा, अतिशयनाम्नातिशयोक्तिः, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रसंशा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः, सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्युदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणानां च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा प्रतिषेधमनोरथयोः संमेलनादाक्षेप इति। पृ० १२९८—९९.

२—इतरेषां तु मतं यथा तन्त्रप्रसंगवाधातिदेशादि मीमांसाप्रसिद्धं वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणं तथा काव्यविशेषव्यवच्छेदकं भूषणादिलक्षणजातमिति त्वयं पक्षो द्वितीयपक्षान्न भिद्यते। पृ० १२५६.

'काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः ।
यः श्लेषादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः ।।'[1]

अर्थात् काव्य में शब्दों एवं अर्थों का ऐसा कोई स्निग्ध आकर्षक स्पर्श है, जो श्लेषादिगुणों की अभिव्यक्ति कराने में दक्ष है । यही तत्त्व लक्षण रूप में स्थित है ।

इन दस पूर्व पक्षों को उपस्थित करने के अनन्तर अभिनवगुप्त ने लक्षण सम्बन्धी अपनी मान्यता प्रस्तुत की है । अभिनवगुप्त के अनुसार अभिधा का त्रिविध व्यापार– शब्द व्यापार, अभिधातृ व्यापार तथा प्रतिपाद्य व्यापार ही लक्षण का विषय होता है ।[2] वस्तुतः कवि किसी विशिष्ट विचार और कल्पना को दृष्टि में रखकर काव्य रचना करता है । उस चित्तवृत्त्यात्मक रस को लक्षित कर जो भिन्न-भिन्न रस के योग्य विभावादि वैचित्र्य का सम्पादन करता है—उस त्रिविध अभिधा व्यापार को लक्षण शब्द से कहते हैं । यथा पीनता स्तन का तो लक्षण है किन्तु वही पीनता कटि का कुलक्षण है । उसी प्रकार यदि कोई वस्तु रस के उचित विभावादि के क्रम को लक्षित करती है तो वह लक्षण है किन्तु रसोचित न होने पर वही कुलक्षण हो जाता है ।

इस प्रकार जो विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों के वाचक शब्द हैं तथा इनके जो अर्थ हैं जो कि स्थायी भाव को रस रूप में परिणत करते हैं तथा जो अभिधा व्यापारगम्य उद्यानादि अर्थ हैं जो रसविशेष के विभावादि को प्राप्त होते हैं—वे लक्षण हैं । इस प्रकार से इन लक्षणों के विषय का अभिनवगुप्त ने प्रतिपादन किया है । इन लक्षणों का काव्य में सम्यक् प्रयोग करना चाहिये ।[3] वस्तुतः इन लक्षणों की सामर्थ्य से लौकिक पदार्थ काव्य में आकर रसमय हो जाते हैं । अपने मत के समर्थन में अभिनव ने भामह और भट्टनायक के 'वक्रक्ति' तथा 'व्यापार प्रधान्य' को भी उद्धृत किया है ।

लक्षण व्यापारपरक होते हैं । जैसाकि भट्टनायक ने कहा है कि वेदादि शब्द-प्रधान होते हैं, आख्यानादि अर्थप्रधान तथा शब्द एवं अर्थ दोनों ही जहाँ गुणीभूत भाव से स्थित रहते हैं वह काव्य—व्यापार प्रधान होता है ।

१—अभिनवभारती, पृ० १२५५

२—तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते । पृ० १२५७

३—यथारसं ये भावा विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः तं स्थायिभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि, यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेपविभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्य लक्षणम् । अतएव काव्ये सम्यक्प्रयोज्यानीति विषयस्तेषामुक्तः । पृ० १२५९

भामह ने भी कवि स्थित इस व्यापार विशेष को इंगित करने के लिये 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते' का प्रतिपादन किया है अर्थात् इस वक्रोक्ति से ही सम्पूर्ण काव्य विभावित होता है।

लक्षणों के वर्णन के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने बार-बार औचित्यतत्त्व का निर्देश किया है। क्योंकि औचित्य ही वह तत्त्व है जो अलंकार को भी अलंकार बनाये रखता है क्योंकि अलंकार्य को अलंकृत करने वाला ही अलंकार कहलाता है—यह अनुरूपता अलंकार के लिये अपेक्षित है। इसी अनुरूपता को ही दृष्टि में रखकर ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में रूपकादि अलंकारों का प्रयोग निर्देश इस प्रकार किया है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य की एक प्रासाद के रूप में कल्पना की है। जिसमें शब्द एवं छन्द विधान भूमि सदृश हैं। वृत्त का समाश्रय ही क्षेत्र परिग्रह है। लक्षणों की योजना भित्ति स्वरूप है। अलंकार और गुण का विनिवेश मनोहर चित्र रचना के तुल्य है। इसी चित्र रचना के द्वारा सौन्दर्य का प्रकृत बोध होता है। इस प्रकार लक्षण का महत्त्व समस्त काव्यांगों से कहीं अधिक व्यापक एवं मौलिक है।[2]

लक्षण—काव्य का आवश्यक तत्त्व

अतः स्पष्ट है कि समस्त अर्थालंकारों के बीजभूत एवं कथाशरीर में विचित्रता को लाने वाले वक्रोक्तिरूप चमत्कारों का लक्षण शब्द से व्यवहार होता है। लक्षण—गुण एवं अलंकारों की परवाह न करके अपने सौभाग्य से सुशोभित होता है। जैसे लक्षणों से रहित पुरुष को सुन्दर नहीं कहा जा सकता है उसीप्रकार गुण एवं अलंकार से उज्ज्वल हुआ भी नीरसता को प्राप्त करने के कारण प्रौढ़ काव्य—काव्य शब्द

---

१. ध्वन्यालोक, २.१८–१९.

२. यथा प्रासादकुडयादिके कर्तव्ये प्रथमं भूमिः, तद्वत्काव्ये निर्मातव्ये भूमिकल्पः शब्दच्छन्दोविधिः क्षेत्रपरिग्रहं वृत्तसमाश्रयमित्यादि विरचयन् भित्तिस्थानीयं लक्षणयोजनं चित्रकर्मप्रतिममलङ्कारगुणनिवेशनं गवाक्षवातायनादिदेशीयोदशरूपक-विभागः, उपयोगनिरूपणाप्रख्या काक्वादिप्लुतिः। पृ० १२४७.

से अभिधान के योग्य नहीं है। साथ ही इन लक्षणों का विधान अभिनवगुप्त ने प्रबन्ध काव्यों में ही किया है मुक्तकादि में नहीं।[१]

लक्षण काव्य के व्यापक तत्त्व हैं। इस तथ्य को गुणानुवाद नामक लक्षण के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है। गुणानुवाद के उदाहरण में उन्होंने—

पालिता द्यौरिवेन्द्रेण त्वया राजन्वसुन्धरा।[२]

जो यह पंक्ति उद्धृत की है, इसके सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का कथन है कि यह तो उपमालंकार का उदाहरण है। अतः इस सन्दर्भ में अभिनवभारतीकार का कथन है कि अलंकारों में जो भी वैचित्र्य है वह तो वस्तुतः लक्षण के ही कारण है। यथा दण्डी प्रभृति ने भी जो उपमा के भेदों का निरूपण किया है उसमें जो भेदक अंश हैं वे कहीं आचिख्यासा रूप हैं, कहीं पर संश्रयरूप हैं, कहीं पर निर्णयरूप अर्थ है—जिसकी अलंकारों से पृथक् लक्षणों में गणना की गयी है;[3] तब पुनः पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न उठता है कि तब तो सर्वत्र लक्षण का सम्बन्ध हो जायेगा। इसपर अभिनवगुप्त का कहना है कि यही तो हमारा प्रतिपाद्य है—ऐसा तो होना ही चाहिये।[४] इसीलिये तो अलंकारों की अपेक्षा लक्षणों का अधिक महत्त्व है।[५] क्योंकि 'गौरिव गवयः' में भी उपमा है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में उसमें उपमालंकार नहीं माना जाता है, क्योंकि प्रकृत स्थल में मौलिक सौन्दर्य का अभाव है, इस मौलिक सौन्दर्य की पूर्ति लक्षण के द्वारा ही होती है।

---

१. कथाशरीरसंपन्नेषु काव्येष्वेवे लक्षणानि निर्वर्त्यन्ते न तु मुक्तकादिषु खण्डकाव्येषु। अतएव 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्या' इति मुनिनैव मुक्तकादिवारणपरमुक्तम्। पृ० १३४३.

२. अभिनवभारती, पृ० १२७२.

३. वही, पृ० १२७३.

४. नन्वेवं सर्वत्र लक्षणयोगः, क आक्षेपार्थः, प्रियमेवास्माकमदः। पृ० १२७३

5. Thus Laksanas are important because they are elaborately enumerated at first; they are the very kavyasarira, or the kavivyapara or abhidha of the poet, they are elements of natural beauty even in the absence of Alamkaras, they are the factors that multiply the three Alamkaras into many, and they beautify sometimes even Alamkaras.
V. Raghavan, Studies on Some Concepts of the Alamkara. Shastra, p. 24.

लक्षणों का अलंकारों मे रूपान्तरण

कालान्तर में इन लक्षणों का अन्तर्भाव अलंकारों के अन्तर्गत हो गया। दण्डी ने तो स्पष्टतः कहा है—

"यच्च संध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः"।[1]

इसके अतिरिक्त बहुत से भरत निरूपित लक्षण परवर्ती भामहादि के अलंकार-शास्त्र में अलंकार रूप में निरूपित हुये हैं। यथा हेतु, आशीः आदि का निरूपण स्वयं भामह ने किया है तथा हेतु को अलंकार मानने से अस्वीकार किया है। यह अस्वीकृति इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि भामह के पूर्ववर्ती किसी आलंकारिक ने 'हेतु' को अलंकार माना था। वस्तुतः यदि भरत एवं भामह के मध्यवर्ती काव्यशास्त्र की सरणि प्राप्त हो गयी होती तो लक्षणों के क्रमशः अलंकारों में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया का भी स्पष्ट ज्ञान हो जाता। किन्तु फिर भी इस तथ्य को अभी भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भरत के अनेक लक्षण अलंकारानुवर्ती हैं: यथा संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, लेश, अर्थापत्ति आदि। ये लक्षण किञ्चित् परिवर्तन के साथ अलंकार के रूप में विकसित हुये हैं। साथ ही अभिनवगुप्त ने अपने उपाध्याय के मत को उद्धृत करते हुये यह कहा है कि कुछ लक्षण उक्तिवैचित्र्यरूप एवं अलङ्कारों के अनुग्राहक होते हैं, यथा गुणानुवाद से प्रशंसोपमा, अतिशय से अतिशयोक्ति, मनोरथ से अप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसाय से अपह्नुति, सिद्धि से तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारों का भाव साम्य है। इसके अतिरिक्त प्रोत्साहन, आख्यान, प्रतिबन्ध, क्षमा, पश्चातपन, अनुनय, मनोरथ, युक्ति, आशीः, कपट, दाक्षिण्य, उपपत्ति, गर्हणा, गुणाभिवाद, गुणकीर्तन आदि मानव भाव के द्योतक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक लक्षण अलङ्कार का रूप नहीं धारण कर सकता है।

अतः निष्कर्ष रूप में लक्षणों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इनको तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। कुछ लक्षण मात्र भावों के अभिव्यंजक हैं, कुछ अलंकारों के द्योतक हैं तथा कुछ लक्षण ऐसे हैं जो समग्र रूप से अलंकारों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; जो कि अलंकारों से निरपेक्ष रहकर भी काव्य सौन्दर्य विधायक होते हैं।

अलंकार

लक्षणों के अनन्तर भरत ने अलंकारों का निरूपण किया है। भरत ने चार

१. काव्यादर्श, २.३६७.

अलंकारों का निरूपण किया है।[1] तथा इसके पूर्व जैसा कि हम कह चुके हैं ३६ लक्षणों का निरूपण किया है। इस संख्यागत भेद को देखकर यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के रचना काल में लक्षण पद्धति की तुलना में अलंकार पद्धति अपनी शैशवावस्था में थी।[2] जिस प्रकार परवर्ती अलंकारशास्त्र में गुणों एवं अलंकारों में भेद किया गया है अर्थात् गुणों को अनिवार्य तत्त्व एवं अलंकारों को गुणों का उपकारक एवं अनित्य तत्त्व माना है, उसी प्रकार भरतमुनि ने लक्षणों की काव्य में अनिवार्य सत्ता मानी है। मात्र अलंकार काव्योत्कर्ष का साधक नहीं हो सकता है किन्तु निरपेक्ष रूप में लक्षण काव्यसौन्दर्याधायक होता है। इसे और भी स्पष्टतया इस प्रकार समझा जा सकता है कि लक्षण काव्यशरीर के सामुद्रिक लक्षणों की तरह अभिन्न अंग हैं जबकि अलंकार रमणी के द्वारा अलंकरण रूप में धारण किया गया आभूषणादि है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित किया है कि अलंकारों के द्वारा काव्य में जो सौन्दर्य दृष्टिगत होता है वह लक्षण की महिमा से ही।[3] भरत ने जिन चार अलंकारों को निरूपित किया है उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

(१) उपमा

यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमानाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥[4]

अर्थात् काव्य रचना में जब दो पदार्थों की गुण या प्रकृति पर आश्रित होकर सादृश्य द्वारा तुलना की जाये—वहाँ 'उपमा' अलंकार होता है। यह सादृश्य दो भिन्न पदार्थों में ही हो सकता है। यह तुलना एक पदार्थ की एक से, एक की अनेक से या अनेकों की एक से की जा सकती है। इस उपमा के पाँच भेद हैं—(१) प्रशंसा (२) निन्दा (३) कल्पिता (४) सदृशी तथा (५) किञ्चित् सदृशी। उपमा अलंकार का उद्भव तो यास्क के निरुक्त के भी पूर्व वैदिक ऋचाओं में उपलब्ध होता है किन्तु उसको सर्वप्रथम भरत ने ही यह शास्त्रीय रूप प्रदान किया है।

१—उपमा रूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥ १७·४३

2. From what we see in chapter 17, in Bharata's time the concept of Laksana underwent much development, while that of Alamkara was in its infancy.
V. Raghavan, Studies on Some Conceptes of the Alamkara Sastra, P. 45.

३—अभिनवभारती, भाग २, पृ० १३४३.

४—नाट्यशास्त्र, १७·४४.

(२) दीपक

नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम् ।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमिहोच्यते ।।[1]

अर्थात् भिन्न विषयों वाले काव्यों का एक वाक्य में दीपक के समान संयोग होने पर दीपकालंकार होता है। दीपक के उदाहरण में भरत ने यह श्लोक प्रस्तुत किया है—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षाः मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ।।[2]

इस उदाहरण को देखकर यह प्रतीत होता है कि मम्मट ने क्रिया दीपक एवं कारक दीपक की प्रेरणा यहीं से प्राप्त की है।[3]

(३) रूपक

"स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद् रूपं रूपकन्तु तत् ।।[4]

जो अपने विकल्प से निर्मित तुल्य अवयवों वाला तथा थोड़ा सादृश्य गुण युक्त रूप हो वह 'रूपक' कहलाता है। 'किञ्चित्सादृश्य' तथा 'तुल्यावयवलक्षणम्' के द्वारा भरत ने परवर्ती काल में विकसित होने वाले रूपक के एकदेशविवर्ति एवं समस्तदेशविवर्ति भेदों का न्यास कर दिया है।

(४) यमक

'शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनञ्चास्य गदतो मे निबोधत ।।[5]

अर्थात् शब्दों की आवृत्ति यमक कहलाती है। जो कि पादों से प्रारम्भ होकर अनेक विधाओं को धारण करती है। इनके विशिष्ट स्वरूप का भरत से विस्तृत वर्णन किया है। इन्होंने यमक के दस भेदों का वर्णन किया है—(१) पादान्त यमक (२) काञ्ची यमक (३) समुद्र यमक (४) विक्रान्त यमक (५) चक्रवाल यमक (६)

१—वही, १७·५६.
२—नाट्यशास्त्र १७·५७.
३—सकृदवृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥
काव्यप्रकाश, १०·१०३, सूत्र १५५.
४—नाट्यशास्त्र, १७·५८.
५—नाट्यशास्त्र, १७·६०.

संदष्ट यमक (७) पादादि यमक (८) आम्रेडित यमक (९) चतुर्व्यवसित यमक (१०) माला यमक। बाद में चलकर भामह ने इनका परस्पर में अन्तर्भावादि करके पाँच ही यमक माने हैं।

इस प्रकार भरत ने इन चार अलंकारों को ही माना है। भरत ने इन अलंकारों को शब्दगत एवं अर्थगत विभाग भी नहीं दिया है जैसाकि परवर्ती काल में हुआ है। किन्तु इन अलंकारों में से मात्र यमकालंकार के प्रसंग में 'शब्दाभ्यासस्तु' शब्द का प्रयोग भरत के द्वारा परवर्ती परम्परा हेतु बीजवपन ही माना जायेगा। इन चार अलंकारों का वर्णन भरत ने नाटच लक्षणों एवं नाटचालंकारों से पृथक् रूप में किया है। किन्तु इन अलंकारों का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन यह तो स्पष्ट कर ही देता है कि भरत का संरम्भ अलंकारों की अपेक्षा लक्षणों पर ही है।[1] इन अलंकारों के सम्बन्ध में भरत का यह मन्तव्य है कि इनकी योजना रसानुकूल एवं विषयानुकूल होनी चाहिये, तभी ये अपने अलंकारत्व को सार्थक करेंगे।[2] अन्त में इन सभी विषयों पर विहंगम दृष्टिपात करते हुये इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि नाटचशास्त्र नाटचविधा का ग्रन्थ होते हुये भी काव्यशास्त्र के लिये उपजीव्य रहा है। अलंकारशास्त्र के उद्‌भव एवं विकास में इन चार अलङ्कारों एवं छत्तीस गुणों का असाधारण रूप से सहयोग रहा है।[3] अलंकारों को उद्दिष्ट करके भरत ने जो इन्हें काव्य का अलंकार (काव्यस्यैते ह्यलङ्कारा: १७.४३) कहा है सम्भवत: दण्डी ने 'काव्यशोभाकरान् धमानलंकारान् प्रचक्षते' तथा वामन ने 'सौन्दर्यमलंकार:' की प्रेरणा वहीं से ग्रहण की है। इन तथ्यों के विश्लेषण से यह

---

1. From his treatment it appears that he considers Laksanas to be of greater importance that Alamkaras which are mentioned as just a few in number.

   S. K. De History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 3-4.

२. एभिरर्थक्रियायुक्तै: काव्यं कुर्यात्तु लक्षणै: ॥ १७.८६.

3. It is not very clear, from Bharatas treatment as to what position these Laksanas should occupy in a formal scheme of poetics; but the function of most of these assigned in latter poetics to Alamkaras or Gunas. Dandin mentions them summarily (ii-366) under Alamkaras in the wider sense, alongwith samdhyanga and vrttyanga which belong properly to the drama, and refers to agamantara (interpreted by tarun vacaspati as alluding to Bharata) for their treatment.

   S.K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol.II,p.4.

तथ्य सम्मुख आता है कि क्रमिक विकास की परम्परा में परवर्ती अलंकारशास्त्रियों ने रस, अलंकार, गुण आदि में भरत को ही आधार बनाया है। अतः इस काव्य-शास्त्र की विशाल अट्टालिका की नींव भरत ही हैं।

दोष

भरतमुनि ने अपने नाटचशास्त्र में दस दोषों का उल्लेख किया है—

(१) गूढ़ार्थं (२) अर्थान्तर (३) अर्थहीन (४) भिन्नार्थं (५) एकार्थं (६) अभिप्लुतार्थं (७) न्यायादपेत (८) विषम (९) विसन्धि (१०) शब्दच्युत।[१] नाटचशास्त्र में दोष सामान्य का लक्षण न देकर भरतमुनि ने दोषों के दस भेद किये हैं, उनको व्याख्यायित किया है किन्तु इन दोषों के उदाहरण नहीं दिये हैं। दोषों का उपलब्ध प्राचीनतम शास्त्रीय रूप यह है।

(१) गूढ़ार्थ—'पर्यायशब्दाभिहितं गूढ़ार्थमिति संज्ञितम्'[२]—जहाँ पर्याय वाचक शब्दों द्वारा वर्ण्य या विषय को कह दिया जाये तो उसे 'गूढ़ार्थ' कहते हैं। यथा 'दशरथ' के लिये 'एकाधिकनवविमान' पर्यायवाची गूढ़ार्थता का ही उदाहरण माना जा सकता है। परवर्ती काल में भामह ने भी दोषों की चर्चा के प्रसंग में 'गूढ़शब्दा-भिधानं च कवयो न प्रयुज्यते' कहकर गूढ़ार्थता का निषेध किया है।

(२) अर्थान्तर—'अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते।'[३]

जहाँ अवर्णनीय विषय का वर्णन किया जाये उसे अर्थान्तर दोष कहा जाता है। इस दोष का सम्बन्ध औचित्यभंग से है क्योंकि अवर्ण्य का वर्णन ही अर्थान्तर होता है।

(३) अर्थहीन—'अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।'[४]

जो असम्बद्ध अर्थ हो या जो अर्थ अधूरा हो तो उसे अर्थहीन दोष कहते हैं। असम्बद्धार्थ को ही भामह एवं दण्डी ने अपार्थ दोष कहा है। अधूरा अर्थ भी असम्बद्धार्थता को ही इंगित करता है अर्थ की स्पष्टता के अभाव में।

(४) भिन्नार्थ—'भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च'[५]

असभ्य या ग्राम्य अर्थ के सूचक अर्थ को भिन्नार्थ दोष कहते हैं। अथवा जहाँ पर—

---

१. नाटचशास्त्र, १७.८७.
२. नाटचशास्त्र, १७.८८.
३. वही, १७.८८.
४. वही, १७.८९.
५. वही, १७.८९.

"विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते ।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणा ।[1]

विवक्षित अर्थ के स्थान पर अविवक्षित अर्थ का कथन किया जाये वहाँ भी 'भिन्नार्थ' दोष होता है ।

(५) एकार्थ—'अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्'[2]

जहाँ अनेक शब्दों का एक ही अर्थ के लिये प्रयोग हो वहाँ 'एकार्थ' दोष होता है । इसप्रकार एकार्थ दोष को पुनरुक्त का पर्याय माना जा सकता है ।

(६) अभिप्लुतार्थ—'अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पदेन समस्यते'[3]

जिसके प्रत्येक पाद में संक्षेप में वाक्यार्थ स्थापित किया जाये उसे अभिप्लुतार्थ कहते हैं । इस दोष का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है । सम्भवतः तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रत्येक चरण में अर्थ पूरा हो जाये और प्रत्येक चरण एक दूसरे से स्वतन्त्र या अनन्वित रूप में स्थित हो वहाँ यह दोष होगा ।

(७) न्यायादपेत—'न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्'[4]

प्रमाणरहित विषय का कथन 'न्यायादपेत' नामक काव्य दोष कहलाता है । इसप्रकार यह दोष लोक परम्परा का विरोध होने पर होता है । सम्भवतः इसी दोष के आधार पर भामह ने देश, काल, कला, आगमविरोधी तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्तहीन दोष की कल्पना की है एवं वामन ने विद्या-विरुद्ध तथा लोक-विरुद्ध दोष का उल्लेख किया है ।

(८) विषम—'वृत्तभेदो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत्'[5]

छंद भंग होने पर 'विषम' नामक काव्य दोष होता है । इसे ही परवर्ती काल में हतवृत्तता दोष कहा गया है ।

(९) विसन्धि—'अनुपश्लिष्टशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम्'[6]

यदि शब्दों को परस्पर सन्धि हीन दशा में रखा जाये तो विसन्धि दोष होगा । क्योंकि व्याकरण के नियमानुसार केवल वाक्यों के सम्बन्ध में यदृच्छा नियम है अन्यत्र नहीं—

१. वही, १७.९०.
२. वही, १७.९१.
३. वही, १७.९१.
४. वही, १७.९२.
५. वही, १७.९२.
६. वही, १७.९३.

संहितैक पदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

(१०) शब्दच्युत—'शब्दच्युतञ्च विज्ञेयमवर्णस्वरयोजनात्'[१]

जहाँ एक स्वर या वर्ण का लोप कर दिया जाये वहाँ शब्दच्युत दोष होता है। वस्तुतः यह दोष मुख्यतया दैनिक आदत के कारण किन्हीं वर्ण के लोप करने या अन्यथा करण के कारण होता है। ऐसे शब्द व्याकरण की दृष्टि से दुष्ट एवं रस तथा अर्थ की दृष्टि से अपशब्द ही होते हैं।

इन दोषों के विपर्यय को भरत ने गुण स्वीकार किया है। यहाँ 'विपर्यय' के द्वारा यह भावना अभिव्यक्त होती है कि 'निर्दोषता ही सौन्दर्य है' अथवा 'दोषाभाव ही गुण है।' दोषराहित्य को तीव्रता से इंगित करने के लिये ही गुणों को इनसे सर्वथा विपरीत माना गया है। इनके पूर्व निर्देश का कारण भी यही है, जैसाकि शास्त्र के प्रयोजन को लक्षित करते हुये दण्डी ने कहा है—

'गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ।।[२]

इसलिये दोष त्याग के लिये दोषों का परिज्ञान पहले आवश्यक है तभी उन्हें त्यागा जा सकता है। क्योंकि निर्दोषता स्वयं अपने में सौन्दर्य है। गुण तो यत्न साध्य होते हैं जबकि दोष अनायास प्रकट हो जाते हैं।

गुण

भरत ने काव्य में दस गुणों की स्थिति को स्वीकार किया है—

"श्लेषःप्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।[3]

इन गुणों का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है।[४]

(१) श्लेष—इष्टार्थ से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता को श्लेष गुण कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने इसे शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष अलंकारों का उद्गम स्रोत माना है।

(२) प्रसाद—सरल शब्दों तथा अर्थों के प्रयोग द्वारा जहाँ विना व्याख्यान के अर्थाववोध सरलता से हो जाता है उसे प्रसाद गुण कहते हैं। प्रसाद गुण के इस

---

१. नाटचशास्त्र, १७.९३.
२. काव्यादर्श, १.८.
३. नाटचशास्त्र, १७,९५.
४. वही, १७.९६–१०५.

झटित्यर्थावबोध के स्वरूप को प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।

(३) समता—जिस रचना में पद असमस्त हों, व्यर्थाभिधायी पद न हों एवं दुर्बोध न हों उसे शब्दों की समानता के कारण 'समता' नामक गुण कहा जाता है।

दूसरे पाठ के अनुसार जहाँ गुण और अलंकार समभाव से स्थित रहकर परस्पर शोभावर्धक हों वहाँ समता नामक गुण होता है। अर्थात् जहाँ गुण एवं अलंकारों की योजना इसप्रकार रहती है कि वे एक दूसरे के विभूषण बन जायें वहाँ दोनों में वैषम्याभाव के कारण भरत ने समता गुण माना है। गुण एवं अलंकार की अविषम योजना से युक्त सभी काव्यों का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है।

(४) समाधि—प्रतिभाशाली व्यक्तियों के द्वारा जिस रचना में विशिष्ट अर्थ दर्शित हो जाता है उसे समाधि कहते हैं। अर्थात् प्रतिभाशाली व्यक्ति ही समाहित मन से काव्य रचना में निगूढ़ अन्य अर्थ का अवभास प्राप्त कर सकते हैं; अतः समाहित चित्त से अवगमित होनेवाला यह अर्थ समाधि कहलाता है।

(५) माधुर्य—जो वाक्य अनेक बार कहे या सुने जाने पर भी उद्वेग उत्पन्न न करे तो उसे 'माधुर्य' गुण कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि भरत माधुर्य के लिये मधुर या कोमल कान्त पदावली की योजना को ही आवश्यक मानते हैं।

(६) ओज—जिस रचना में समास बहुल तथा विचित्र संघटनात्मक पदों की बहुलता हो, किन्तु अर्थ उदार हो एवं ध्वनि जिसकी अनुरागमयी हो उसे ओज गुण कहते हैं।

अतः स्पष्ट है कि समास बहुल एवं विचित्र पदों के प्रयोग के उपरान्त भी उदार अर्थ शब्द का प्रयोग करके भरत ने गूढ़ार्थता का प्रकारान्तर से निषेध ही किया है। अनुरागयुक्तता श्रुति सुखदता को इंगित करती है अर्थात् वर्णों का विधान ऐसा न हो जिससे विरसता उत्पन्न हो जाये अपितु सरसता का ही उससे बोध हो। सानुरागपद का अर्थ अभिनवगुप्त ने ऐसा पद माना है जिसमें एक वर्ण वर्णान्तर की अपेक्षा रखता है—

"सानुरागैर्यत्र वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्"।

अतः इस व्याख्या से भी यह अर्थ अवगमित होता है कि विशेष प्रकार की ध्वनि योजना की अवस्थिति ओज गुण में रहती है।

(७) सौकुमार्य—जिस काव्य में सुग्रथित सन्धियाँ होती हैं तथा सुख से प्रयोग में लाये जानेयोग्य शब्दों का प्रयोग होता है तथा जो सुकुमार अर्थ से युक्त होता है उसे सौकुमार्य गुण कहते हैं। सौकुमार्य को शब्दार्थोभयगत गुण माना जा सकता

है। क्योंकि सौकुमार्य गुण लक्षण कारिका की प्रथम पंक्ति में जहाँ भरत ने सुख प्रयोज्य शब्दों पर विशेष बल दिया है वहीं दूसरी पंक्ति में सुकुमारार्थ पर बल दिया है। सौकुमार्यार्थ में अमंगल एवं अश्लीलार्थ वाचकता का अभाव रहता है। अतः स्पष्ट है कि पदगत रुक्षता एवं अर्थ के परुष रहने पर भी सुकुमारता पूर्ण बन्ध को सौकुमार्य गुण का उदाहरण समझना चाहिये। यथा 'एकाकी' के लिये 'देवतासहाय' पद का प्रयोग या 'मृत' के लिये 'यशःशेष' का प्रयोग करना सुकुमारता है।

(८) अर्थव्यक्ति—जिस रचना में लोक में अतिशय प्रसिद्ध अर्थ का सुप्रसिद्ध शब्दों द्वारा अभिधान हो उसे अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं। अर्थात् लोक में अतिशय प्रसिद्ध अर्थ का अभिधान जहाँ काव्यात्मक शैली में किया जाता है उसे अर्थव्यक्ति कहते हैं। जो अर्थ जिस रूप में काव्य में निरूपित रहता है ठीक उसी रूप में वह लोक में प्राप्त होता है, अतिशयोक्ति से मण्डित नहीं। अभिनवगुप्त से अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं' उदाहरण को प्रस्तुत किया है। इसे ही परवर्ती काल में 'स्वभावोक्ति' अलंकार के नाम से माना गया है—'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्'[1] तथा मम्मट जब दस गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव प्रदर्शित करते हैं उस समय वे अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति में कर लेते हैं।[2]

(९) उदात्त—रचना में जब दिव्यपात्रों की श्रृंगार तथा अद्भुत रस युक्त वर्णना हो तो उसे 'उदारता' गुण कहते हैं। अर्थात् उदात्त गुण लोकोत्तर भाव से पूर्ण एवं श्रृंगार तथा अद्भुत रसों से युक्त होता है। इस प्रकार उदारता में भरत का संरम्भ रस एवं भाव पर विशेष रूप से है।

नाटचशास्त्र के दूसरे पाठ के अनुसार उदात्त गुण वहाँ होता है जहाँ पर अनेकार्थक विशेषणों से युक्त सौष्ठवपूर्ण सूक्ष्म एवं विचित्र अर्थों का योग रहता है।

(१०) कान्ति—जिस रचना में पात्र की श्रृंगार क्रीड़ा का किया जाने वाला वर्णन मन और कानों को आह्लादित कर दे तो उसे 'कान्ति' गुण कहते हैं।

यह कर्णेन्द्रिय के लिये सुखद हो यह कहकर कान्तिगुण में श्रुतिसुखदता का समावेश किया है एवं लीला के द्वारा मन आह्लादित हो—यह कह कर श्रृंगारादि चेष्टाओं की ओर इंगित किया है। लीला नायिका की चेष्टा विशेष को कहा जाता है। ये चेष्टायें श्रृंगार रस की उद्दीपिका होती हैं। सम्भवतः वामन की 'दीप्तरसत्वं कान्ति', भरत के कान्ति गुण से प्रभावित है।

---

१. काव्यप्रकाश, १०.१११.

२. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभाव स्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते।
काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ० ३९२.

इसप्रकार उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भरत के इन दस गुणों का स्वरूप अधिकांशतः अर्थगत है एवं कुछ शब्दार्थोभयगत है। परवर्ती अनेक आलंकारिकों ने भरत के इन गुणों को यथा नाम स्वीकार कर लिया है भले ही इनकी परिभाषाओं में यत्किञ्चित् भेद है। इस प्रकार हम देखते हैं गुणों की आधारशिला अलंकारशास्त्र को भरत ने ही प्रदान की है।

यह सत्य है कि भरत ने काव्यशास्त्र को स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं प्रदान किया किन्तु नाटचकला के वर्णन के प्रसंग में उसे सुव्यक्त तथा लब्धप्रतिष्ठ स्वरूप तो प्रदान किया की है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सभी आलंकारिकों ने भरत को अपने प्रस्थान विन्दु के रूप में स्वीकार किया है एवं अपने सिद्धान्त का निर्माण भरत के आधिकारिक सिद्धान्त को आदर्श बनाकर ही किया है। गुण, अलंकार, दोषादि की अवधारणायें इस तथ्य की घोषणा करती हैं कि उनके हृदय में काव्यशास्त्रीय समीक्षा की कितनी गहरी पैठ थी। साथ ही भरत के द्वारा निरूपित रस सिद्धान्त, जिसने कि सर्वप्रथम सहृदय की दृष्टि से काव्यानन्द के आस्वाद की दृष्टि प्रदान की—भरत की मौलिक प्रतिभा का साक्ष्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र ने अपना नवजात स्वरूप नाटचशास्त्र में ही प्राप्त किया है। यही कारण है कि भरतमुनि को अलंकारशास्त्र का भी जनक माना जाता है।[1] पं० वलदेव उपाध्याय ने अलंकारशास्त्र के इतिहास का काल विभाजन इस प्रकार दर्शाया है—

(क) प्रारम्भिक अवस्था में काव्यशास्त्र नाटच के अन्तर्गत था,

(ख) काव्यशास्त्र और नाटचशास्त्र स्वतन्त्र रूप में विकसित हुये,

(ग) आधुनिक काल में नाटचशास्त्र भी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण किया जाये तो यह स्पष्ट विदित होता है कि नाटच एवं काव्य का व्यावर्तक अभिनय रूप क्रिया ही है। अतः पढ़ते समय नाटच भी काव्य हो जाता है और अभिनीत होते समय काव्य भी नाटच हो जाता है। इस दृष्टि से भी भरत मुनि को काव्यशास्त्र का आद्याचार्य कहा जा सकता है।

---

1. **Being the earliest systematic exponent of the science, in addition to being at the head of the Rasa School, Bharata may justly claim the title of the Father of Sanskrit literary criticim.**

A. Sankaran, The Theories of Rasa and Dhvani, p. 19–20.

तृतीय अध्याय

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार स्वरूप

अलंकारशास्त्र की स्वतन्त्र धारा का प्रवाह भामह से प्रारम्भ हुआ। संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित है, इसमें ध्वनि को विभाजक कड़ी का केन्द्र विन्दु बनाया गया है—(१) ध्वनि पूर्व (२) ध्वनि तथा (३) ध्वन्युत्तर। इनमें विषय प्रतिपादन की दृष्टि से ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों में अलंकार सम्प्रदाय एवं रीति सम्प्रदाय प्रमुख हैं। अलङ्कार सम्प्रदायान्तर्गत परिगणित प्रमुख आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट एवं रुद्रट हैं। यद्यपि वामन में भी अलङ्कार सिद्धान्त सम्वन्धी कुछ मौलिकतायें दृष्टिगत होती हैं किन्तु उनकी गणना विशिष्ट रूप से रीति सम्प्रदायान्तर्गत ही होती है।

'अलंकार' शव्द का अपना एक इतिहास है। अपने प्रारम्भिक काल में 'अलङ्कार' केवल रूपक, दीपक आदि अलङ्कारों के अर्थ में भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त मिलता है। लगभग इसी अर्थ में उद्भट ने भी अलङ्कार शव्द का प्रयोग किया है। किन्तु दण्डी और वामन में आकर 'अलङ्कार' शव्द ने महासंज्ञा का रूप धारण कर लिया। फलत: काव्य की समस्त विशेषताओं का आकलन अलङ्कार संज्ञा के अन्तर्गत ही होने लगा। दण्डी का 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्करान् प्रचक्षते'[1] तथा वामन का 'सौन्दर्यमलङ्कार:'[2] इसी व्यापक अर्थ के द्योतक हैं। ध्वनिवादी एवं ध्वन्युत्तरवादी आचार्यों ने अलङ्कार शव्द के विस्तार क्षेत्र को परिसीमित कर दिया तथा अलङ्कार शव्द मात्र अनुप्रासादि शव्दालङ्कार तथा उपमादि अर्थालङ्कारों का ही द्योतक समझा जाने लगा। पुन: 'अलङ्कार' शव्द को लेकर तात्त्विक दृष्टि से अनुशीलन किया गया जिसके फलस्वरूप अलङ्कार की नवीनतम उपलब्धि उसमें अलंभावात्मक विभुभाव की प्रतिष्ठा है।[3] परिणामत: अलङ्कार का क्षेत्र दण्डी एवं वामन से भी विस्तृत हो गया।

---

१. काव्यादर्श, २·१.

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१.२.

३. इधर भारतीय काव्य समीक्षा की नवीनतम उपलब्धि है 'अलङ्कार' तत्त्व के अलंभावात्मक विभुभाव या भूमाभाव की प्रतिष्ठा। तदनुसार अलंकार शव्द वामन के सौन्दर्य से भी अधिक व्यापक और वस्तुरूप तथा वोधरूप इन दोनों पक्षों को लेकर चलने वाला शव्द है।
रेवा प्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, पृ० २७

यहाँ यह अवधेय है कि श्रव्यकाव्य की सम्यक् समालोचना की अपेक्षा ने अलङ्कार सम्प्रदाय को जन्म दिया है। वस्तुतः इसके पूर्व भरत ने दृश्य काव्य का विस्तृत विवेचन किया था तथा दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में उन्होंने 'रस' को ही अन्तःसार के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि नाटचशास्त्र में भी अलङ्कारों का वर्णन मिलता है किन्तु यह अलङ्कार वर्णन भी रसमुखापेक्षी है। इसीलिये तो भरत कहते हैं—

एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषाञ्च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥[1]

किन्तु रस की शास्त्रीय प्रक्रिया—विभावानुभावव्यभिचारी के रूप में बड़ी ही विस्तृत है। श्रव्यकाव्य का कलेवर सर्गवन्ध के रूप में जहाँ अत्यन्त विस्तृत है वहाँ मुक्तक के रूप में अतिसंक्षिप्त भी। इसीलिये भामहादि आचार्यों ने श्रव्य काव्य के सन्दर्भ में 'रस' की अपेक्षा 'चारुता' पर अधिक वल दिया, क्योंकि काव्य के सन्दर्भ में रस की अपेक्षा 'चारुता' या 'सौन्दर्य' अधिक व्यापक तत्त्व है। मुक्तक काव्य में 'रस' की स्थिति संदिग्ध हो सकती है, किन्तु 'चारुता' का होना असंदिग्ध है।

भामह का वक्रोक्ति के प्रति विशेष बल

भामह ने इस काव्यगत 'चारुता' का दर्शन 'वक्रोक्ति' के रूप में किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य चमत्कार का वीज है। यही कारण है कि भामह हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं मानते क्योंकि उसमें 'वक्रोक्त्यनभिधानतः'—वक्रोक्ति का अभिधान नहीं रहता है। सीधे ढंग से कुछ कह देना तो 'वार्त्ता' है उसमें काव्यत्व कहाँ ?—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्तिवासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥[2]

भामह का संरम्भ पूर्णतया वक्रोक्ति पर है, इसीलिये वे इसे कवि के लिये अत्यन्त उपादेय मानते हैं—

सैषा सर्वेव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥[3]

वस्तुतः चमत्कारपूर्ण वाणी ही तो काव्य है तथा काव्य में यह चमत्कार वक्र-उक्ति से आता है। इसीलिये वक्र शब्द एवं अर्थ का प्रयोग वाणी का अलङ्कार

---

१. नाटचशास्त्र, १७·१०६.
२. भामह, काव्यालंकार, २.८७.
३. वही, २·८५.

माना जाता है—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः[1] प्रकृत स्थल में 'अलंकृतिः' चमत्कार का वाचक है। काव्य की शोभा का आधार तो वक्रोक्ति ही है।

वक्रोक्ति के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण ही भामह को रीति का विभाजन वैदर्भी एवं गौडी के रूप में मान्य नहीं है। वे वक्रोक्ति युक्त काव्य को श्रेष्ठ एवं उससे हीन काव्य को काव्य ही नहीं मानते हैं—वह वार्त्ता या संगीत की श्रेणी में परिगणित हो जाता है।[2] कोई काव्य 'नितान्त सुन्दर' आदि कह देने से ही सुन्दर नहीं हो जाता है, अपितु उसके सौन्दर्य सम्पादन हेतु शब्द एवं अर्थ की वक्रता अपेक्षित है—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः॥[3]

अतः स्पष्ट है कि "यह कलात्मक चारुता शब्दार्थ शरीर में वक्रता के आधान से आती है। 'वक्रता' लोकातिक्रान्त 'अतिशय' का ही दूसरा नाम है। निष्कर्ष यह है कि काव्य की अन्तः सत्ता 'चारुता' है, 'चारुता' का स्रोत 'अलंकार' और अलंकार का निर्वाहक 'वक्रता"।[4]

अतिशयोक्ति की सर्वालंकार मूलकता

उक्त कथन से स्पष्ट है कि भामह की वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। अतिशयोक्ति को भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर वचन कहा है—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया यथा॥[5]

किन्तु देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'काव्यालंकार' की भूमिका में अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्याय नहीं स्वीकार किया है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति में अतिशयता की प्रधानता रहती है जबकि वक्रोक्ति में वक्रता की। अतः "अतिशयोक्ति काव्य में लोकोत्तरता—असाधारणता लाती है और वक्रोक्ति रमणीयता।"[6]

---

१. वही, १.३६.
२. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥ भामह, काव्यालंकार, १।३४,
३. काव्यालङ्कार, १.३६
४. रेवाप्रसाद द्विवेदी की—भारतीय काव्य समीक्षा में अलङ्कार सिद्धान्त नामक पुस्तक में डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा लिखित पातनिका से उद्धृत, पृ॰ × VII
५. काव्यालङ्कार, २.८१
६. भामह के काव्यालङ्कार की देवेन्द्रनाथ शर्मा कृत व्याख्या के भूमिका भाग से उद्धृत, पृ॰ ४२.

किन्तु काव्य के क्षेत्र में प्रायः यह अतिशयोक्ति वक्रता सम्पन्न ही होती है तभी तो उसमें 'काव्यत्व' का आधान होता है। दण्डी ने भी अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना है—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥[1]

इतना ही नहीं ध्वनिवादी आचार्यों ने भी मुक्त कण्ठ से अतिशयोक्ति की सर्वालंकारगर्भता स्वीकार की है। आनन्दवर्धन ने भी भामह की अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति को अन्योन्यवाची मानते हुये, अतिशयोक्ति को महाकवियों की काव्य शोभा को पुष्ट करने वाली बताया है—

'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति।

...सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपा, इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।'[2]

इस प्रकार सब अलंकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से यही अतिशयोक्ति सर्वालङ्काररूपा है।

मम्मट ने भी 'विशेष' अलंकार के निरूपण के प्रसंग में अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है—

'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।'[3]

इस प्रकार भामह ने जिस लोकोत्तर अर्थावबोधक चारुता के स्रोत रूप वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को स्वीकार किया था वह प्रायः सभी आचार्यों को मान्य रहा।

स्वभावोक्ति एवं वार्त्ता में भेद

यहाँ यह अवधारणीय है कि अनेकानेक अलङ्कारशास्त्री यह मानते हैं कि भामह स्वभावोक्ति को स्वीकार नहीं करते।[4] उनके इस कथन के दो आधार हैं एक तो

---

१. काव्यादर्श, २·२२०.

२. ध्वन्यालोक, ३·३७ की वृत्ति, पृ० २९१.

३. काव्यप्रकाश, पृ० ५४९.

४. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥ काव्यालङ्कार, २.९३.

भामह का वक्रोक्तिशून्य काव्य को हेतु, सूक्ष्म, लेशादि अलङ्कारों के प्रसङ्ग में 'वार्त्ता' कहना और दूसरा स्वभावोक्ति अलङ्कार के प्रसंग में 'इतिकेचित्प्रचक्षते' का प्रयोग, किन्तु वास्तविकता यह है कि वार्त्ता और स्वभावोक्ति में अन्तर है। 'वार्त्ता' कथन का सामान्य ढंग है तो स्वभावोक्ति किसी वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप वर्णन। स्वभावोक्ति में जो हृदयाह्लादक आकर्षण है वह वार्त्ता में कहाँ? इसका स्पष्ट निदर्शन कालिदास का काव्य है। यथा शाकुन्तलम् में रथवेग से त्रस्त मृग के दौड़ने की प्रक्रिया का जो वर्णन है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्॥
शष्पैरर्द्धावलीढ़ैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिर्कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥[1]

इसे कौन अकाव्य या वार्त्ता का अभिधायक कह सकता है। सही बात तो यह है कि भामह ने कहीं स्वभावोक्ति का निषेध भी नहीं किया है। भामह की स्वभावोक्ति सम्बन्धी मान्यता के सन्दर्भ में डॉ० राघवन ने डॉ० डे की मान्यता का खण्डन करते हुये भामह को स्वभावोक्ति का समर्थक माना है।[2] यदि भामह को स्वभावोक्ति मान्य नहीं होती तो वार्त्ता एवं स्वभावोक्ति का अलग-अलग उदारहण देने की क्या

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १·७.

2. On p. 61 of Vol. II of his Poetics, Dr. De says: 'When words are used in the ordinary manner of common parlance, as people without a poetic turn of mind use them, there is no special charm of strikingness. Such Svabhavokti or 'natural' mode of speech to which Dandin is so partial but which he also distinguishes from Vakrokti, is not acceptable to Bhamaha and Kuntaka, who refuse to acknowledge it as a poetic figure at all.' One cannot point out any passage in Bhamaha which refutes Svabhavokti......No Alamkarika gives such a definition of Svabhavokti......Svabhavokti is not a bold statement but has necessarily to be 'striking'. V. Raghavan, Studies on Some Concepts of the Alamkara Sastra, P. 112.

आवश्यकता थी ? एक ही उदाहरण से दोनों सिद्ध हो सकते थे। यह दूसरी बात है कि दण्डी ने स्वभावोक्ति का समर्थन स्पष्ट एवं सबल शब्दों में किया है तथा उसके भेद की भी चर्चा की है। दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।[1] शास्त्रात्मक वाङ्मय में स्वभावोक्ति का साम्राज्य होता है और काव्य में वक्रोक्ति का।[2] किन्तु 'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्, के द्वारा काव्य में भी स्वभावोक्ति की सत्ता स्वीकार की है। यहाँ एक बात अवधारणीय है कि दण्डी की 'लोकसीमातिवर्तिनी' अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का ही पर्याय है किन्तु इनके वक्रोक्ति की व्याप्ति भामह की भाँति सर्वालङ्कारमूला नहीं है अपितु उसे स्वभावोक्ति में अव्याप्त मानना होगा। यद्यपि काव्यात्मक स्वभावोक्ति—सुन्दर-स्वभावाख्यान ही है किन्तु वक्रस्वभावाख्यान नहीं।

दण्डी ने स्वभावोक्ति को 'आद्या अलंकृति'[3] के नाम से अभिहित किया है। इससे दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। एक तो यह कि ये स्वभावोक्ति को सभी अलङ्कारों में सर्वाधिक महत्त्व दे रहे हैं और दूसरा यह कि काव्य विकास के क्षेत्र में वक्रोक्ति की प्रक्रिया स्वभावोक्ति से जटिल है। स्वभावोक्ति के अनन्तर वक्रोक्ति क्रमशः विकसित होती है। स्वभावोक्ति यद्यपि वस्तुस्वरूप का प्रकृत कथन है किन्तु उसमें काव्यात्मकता का पुट अवश्य रहता है। क्योंकि—

> गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।
> मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥

यह स्वरूप वर्णन होने पर भी काव्य नहीं है। "स्वभावोक्ति की संकल्पना के माध्यम से दण्डी ने सर्वप्रथम काव्य में कवीय स्वाभाविकता का महत्त्व अंगीकार किया और तद्द्वारा काव्य प्रवन्ध में प्रसंग विशेष अथवा अर्थविशेष की सुस्पष्ट और परिपूर्ण अभिव्यक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया।"[4]

---

१. काव्यादर्श, २.३६३.

२. जातिक्रियागुणद्रव्य स्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ॥ २.१३।

३. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥ २.८

४. दण्डी के 'काव्यादर्श' की धर्मेन्द्र कुमार गुप्त कृत व्याख्या के भूमिका भाग से उद्धृत, पृ० ५३.

कुन्तक की स्वभावोक्ति की अवधारणा

ध्वन्युत्तर काल में भी स्वभावोक्ति स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकृत हुई है किन्तु कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार मानने से सर्वथा अस्वीकार किया है। उनके अनुसार अलंकरण तो अलंकार्य का होता है अतः उसे अलंकार से पृथक् रखना आवश्यक है। स्वभावोक्ति की अलंकारता का निषेध करते हुये कुन्तक का स्पष्ट कथन है कि जिन आलङ्कारिकों की दृष्टि में स्वभावोक्ति ही अलङ्कार है उनकी दृष्टि में फिर अलंकार्य क्या रह जायेगा ?

> अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
> अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥[1]

वस्तुतः कहा जाने वाला ही तो स्वभावोक्ति है 'स्वस्य आत्मनो भावः स्वभावः' यह स्वभाव ही किसी पदार्थ के ज्ञान और कथरूपता का हेतु होता है। यदि इसे ही अलङ्कार मान लिया जाये तो इससे भिन्न काव्यशरीर के तुल्य कौन सी वस्तु अवशिष्ट रहेगी जो भूषित किये जाने योग्य स्थित रहेगी। जिनकी दृष्टि में पदार्थ का धर्म लक्षण ही अलंकार है उनको विवेक के कष्ट से द्वेष रखने वाला ही कहा जा सकता है—'ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः।'[2] किसी भी वस्तु का स्वभाव से विहीन कथन किया ही नहीं जा सकता है। निःस्वभाव वस्तु शब्द के द्वारा अगोचर हो जाती है—"स्वभाव एव वर्ण्यशरीरम्। स एव चेदलंकारो यदि विभूषणं तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तंविद्यतेयदलङ्कुरुते विभूषयति।'[3] यदि यह कहा जाये कि स्वभावोक्तिरूप अलंकार स्वयं को ही अलंकृत करता है तो यह अनुपपत्ति के कारण अयुक्ति युक्त है। क्योंकि यह बात लोक से सिद्ध है कि कोई स्वयं अपने ही कन्धे पर नहीं चढ़ता है—

> शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम् ।
> आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥[4]

अतः स्वभावोक्ति को ही अलंकार्य और अलंकार इन दोनों रूपों में नहीं कल्पित किया जा सकता।

---

१. वक्रोक्तिजीवित, १.११.
२. वही, पृ० ४९.
३. वही, पृ० ५२
४. वही, १.१३.
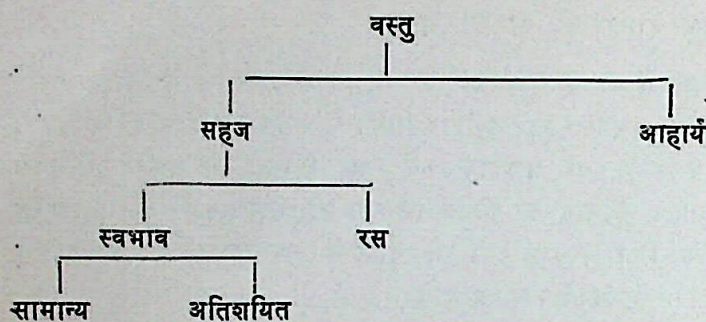
कुन्तक ने वर्ण्य के सहज और आहार्य रूप दो भेद किये हैं, सहज भी स्वभाव और रस के भेद से द्विधा विभक्त हो जाता है। स्वभाव भी सामान्य और अतिशयित इन दो रूपों में दृष्टिगत होता है। कुन्तक का मानना है कि काव्य के वर्ण्य विषय के रूप में स्वभाव का अतिशयित रूप ही ग्राह्य होता है। यदि स्वभाव के सामान्य रूप का भी ग्रहण किया जाने लगे तो काव्य उसी प्रकार हृदयावर्जक नहीं होता जैसे अनुचित भित्ति पर चित्रित किया गया चित्र आकर्षक नहीं होता। स्पष्ट है कि विदग्धता तो काव्य की न्यूनतम अनिवार्यता है। वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति होने मात्र से किसी कथन को अलंकार नहीं कहा जा सकता। स्वभावोक्ति के अलंकाररूप न होने का एक हेतु यह भी है कि जहाँ कहीं स्वभावोक्ति होती है उन स्थलों में अपोद्धार बुद्धि से विवेचन करने पर अलंकार्य और अलङ्कार भाव स्पष्ट लक्षित नहीं हो पाता है।

यदि तुष्यतु दुर्जन न्याय से स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान भी लिया जाये तो सभी कथनों में स्वभाव वर्णन के अनिवार्य रूप से होने से उपमादि समस्त अलङ्कारों में स्वभावोक्ति की स्थिति माननी पड़ेगी। फलतः कोई भी अलङ्कार शुद्ध रूप से प्राप्त न हो सकेगा। स्वभावोक्ति के योग से सर्वत्र संसृष्टि अथवा संकर की स्थिति रहेगी। किन्तु उपमादि अलङ्कारों के साथ स्वभावोक्ति की स्थिति से संकर और संसृष्टि मान लेने पर भी कुछ घटित नहीं होता क्योंकि यह सिद्धान्त स्वभावोक्ति का प्रतिपादन करने वाले आलङ्कारिकों को ही मान्य नहीं है। अतः स्वभावोक्ति का अलङ्काररूप में वर्णन व्यर्थ है। वही वर्णनीय होने से अलङ्कार्य है तथा समस्त अलङ्कारों के द्वारा अलंकृत किया जाता है।

इस दृष्टि से कुन्तक स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का निषेध करते हैं।

दण्डी की काव्यगत चारुता का आधार अलंकार

दण्डी ने काव्य शोभाकारक सभी धर्मों को अलंकार[1] कहा है। वैदर्भ एवं गौड मार्ग का विश्लेषण करते समय उन्होंने गुणों को असाधारण अलंकार तथा 'अलंकार'

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। २·१

को साधारण (अलंकार) माना है।[1] इतना ही नहीं वे सन्धि-सन्ध्यङ्ग, वृत्ति-वृत्त्यङ्ग आदि सभी को अलंकार मानते हैं—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥[2]

दण्डी ने गुणों का भी विस्तृत विवेचन किया है तथा उन्हें असाधारण अलंकार के नाम से अभिहित किया है तथा इन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण स्वीकार करके प्रकारान्तर से उत्तम काव्य के लिये इन गुणों की स्थिति अनिवार्य बतलाई है। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखकर डॉ० डे दण्डी को मुख्यतः रीतिवादी आचार्य मानते हैं। किन्तु परवर्ती अनेक समालोचकों ने इस बात का खण्डन किया है। क्योंकि दण्डी के अलङ्कार जैसा कि उल्लिखित है महाविषयत्व से युक्त हैं अर्थात् उनके गुण अलंकारों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, अलङ्कार गुण में नहीं।[3]

दण्डी की काव्यगत विचार सरणि भरत से अधिक प्रभावित जान पड़ती है। उनके दोष, गुण आदि की संकल्पनायें तो स्पष्टतः प्रभावित हैं ही इसके अतिरिक्त भाविक गुण के निरूपण के प्रसंग में भरत के कवि व्यापार रूप लक्षणों की भी छाया झलक जाती है। भाविक का लक्षण करते हुए वे कहते हैं—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥[4]

इस प्रकार भाविक—अलंकार होते हुये भी गुण है तथा सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्याप्त रहने वाला है तथा कवि की सौन्दर्यतत्त्व से सम्बन्धित संकल्पना का व्यापक है। यह भाविक गुण कृति में आदि से अन्त तक व्याप्त रहने वाला, कथावस्तु को नियमित करने वाला एवं नीरस तथा निष्प्राण विषयवस्तु में प्राण का संचार करने वाला है।[5]

---

१. काव्यादर्श, २·३.

२. काव्यादर्श, २·३६७.

३. Dandin who is accepted to be an adherent of guna-riti school by consensus of opinion, also devotes considerable space to the treatment of alamkaras, so much so that his importance as an authority on alamkara theory is of no mean magnitude.

G. Vijayvardhan, Outlines of Sanskrit Poetics, p. 26.

४. काव्यादर्श, २·३६४.

५. व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ २·३६६

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाविक गुण को कवि के अभिप्राय विशेष से सम्बद्ध करके उसकी परिधि का विस्तार कर दिया है फलतः इसका अन्तर्भाव न तो किसी अलङ्कार विशेष में और न ही किसी गुण विशिष्ट में किया जा सकता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रारम्भिक विकास में दण्डी की मौलिकता एवं विगतानुदर्शन का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण उनकी अप्रतिम प्रतिभा का निदर्शन है। इस प्रकार दण्डी ने न केवल प्राचीन अभिमतों का संशोधन किया अपितु अनेक नवीन विचारों को प्रस्तुत भी किया है।[1]

वामन की काव्यगत चारुता का आधार सौन्दर्य

वामन ने इस 'चारुता' को सौन्दर्य के नाम से अभिहित किया है। यह सौन्दर्य दोषों के त्याग एवं गुणोपादान से आता है। उन्होंने 'सौन्दर्यमलंकारः'[2] के द्वारा सौन्दर्य मात्र को अलङ्कार माना है। एवं काव्य की ग्राह्यता अलङ्कार सापेक्ष मानी है—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'।[3] इस प्रकार वामन ने अलङ्कार को एक विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। यह तो स्वरूपगत सौन्दर्य की वात हुई। इसके अतिरिक्त संघटनागत सौन्दर्य की भी वामन ने चर्चा की है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[4] तथा 'विशिष्टा पद-रचना रीतिः'' 'विशेषो गुणात्मा' कहकर संघटनागत सौन्दर्य का स्रोत वामन ने गुण को माना है। इन गुणों में अतिशयता के साधक के रूप में अलंकारों को स्वीकार किया है—तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार साध्य एवं साधक दोनों है।

वामन ने अलंकार को सौन्दर्य रूप मानकर अलंकारों को बड़ा ही विस्तृत रूप प्रदान किया है। उनके अनुसार 'अलंकार' शब्द तो वस्तुतः सौन्दर्य का ही वाचक है, चूंकि उपमादि भी सौन्दर्य साधक हैं, अतः उपचार से उन्हें भी अलंकार कह दिया जाता है। इसीलिये वामन भामह के 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितानननम्'

---

१. Dandin's work attempts to present many new ideas. Possessing great inventive powers and gift of lucid exposition, as well as a notable degree of Scholastic acumen, he endeavoured not only to refute and correct in many places the earlier views, but sometimes gave a new shape to them.
S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 86.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१.२.
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१.१.
४. वही, १.२.६.
५. वही, ३.१.२.

के दृष्टिकोण से सर्वथा पृथक् सहज सौन्दर्य का समादर करते हैं। युवती यदि सौन्दर्य गुण से सम्पन्न है तो अलंकार विहीना होने पर भी शोभित होगी तथा सौन्दर्यहीन नारी अलंकारों से लदी होने पर भी सुन्दर नहीं लगेगी—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥[1]

वामन की इस 'सौन्दर्य' दृष्टि से प्रभावित होकर रेवाप्रसाद द्विवेदी ने ध्वनिवादी एवं रसवादियों की दृष्टि को भी खण्ड दृष्टि माना है। उनके अनुसार इनमें सौन्दर्य की वह समग्र दृष्टि नहीं है जो वामन में। ध्वनि सौन्दर्य नहीं सौन्दर्य साधन है। इसी प्रकार रस को काव्यतत्त्व नहीं सहृदयगत धर्म कहा जा सकता है। "वस्तुतः अलंकारसंज्ञा एक समग्र संज्ञा है, ठीक वैसी है जैसी ब्रह्म संज्ञा। 'ब्रह्म' ही 'अलं' है और 'अलं' ही 'ब्रह्म'। शब्दसृष्टि में 'अ' से लेकर 'ल' तक की जो प्रत्याहार प्रक्रिया है वह यदि वाग्विश्व की समग्रता के लिये सक्षम शास्त्रीय परिभाषा है, तो कोई कारण नहीं कि उसे ब्रह्म तत्त्व से भिन्न माना जाये, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों सारस्वत समुद्र की दो उर्मियाँ हैं, जो परस्पर में अभिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही अपने मूलरूप में समुद्र हैं।"[2]

वामन की अलंकार सम्बन्धी व्यापक धारणा का अवलोकन करने के उपरान्त 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' तथा 'रीतिरात्मा काव्यस्य' में दृष्टिगत होने वाले विरोधाभास का परिहार हो जाता है। क्योंकि रीति का आधारभूत जो 'गुण' है वह भी तो व्यापक दृष्टि से अलंकार ही है।

किन्तु हम देखते हैं कि वामन ने सौन्दर्य की व्यापक दृष्टि का संकेत तो किया है किन्तु उसकी कोई व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। 'अलंकार' के संकुचित (उपमादि) स्वरूप का ही सर्वत्र वर्णन किया है। गुणों एवं अलंकारों के भेद निरूपण के प्रसंग में भी उपमादि से ही पार्थक्य दिखलाया है।

उनके काव्य का आत्मभूत गुण घूमफिर कर शब्दार्थ की सीमा में ही सिमिट जाता है—'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः'।[3] फिर भी वामन

१. वही, ३.१.२ की वृत्ति
२. वामन की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की बेचन झा कृत व्याख्या में डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत भूमिका से उद्धृत, पृ० ११
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.१ की वृत्ति.

ने परवर्ती विचार सरणि को बहुत अधिक प्रभावित किया है। सौन्दर्य को वे जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहते थे सम्भवतः ध्वनि सिद्धान्त का वही उत्स है। यही कारण है कि 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' कहकर भी वामन अलंकारवादी आचार्य नहीं मानेजाते हैं, क्योंकि वामन ने यहाँ अलंकार को साध्य के रूप में ग्रहण किया है। जहाँ उन्हें साधन (काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः) के रूप में माना है वहाँ उनकी अनित्यता भी स्वीकार की है—

पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।[1]

ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार की संकलपना

ध्वनिवादियों के यहाँ 'अलंकार' पुनः अपने सीमित अर्थ में प्रयुक्त होने लग गया। चारुता का उत्स 'रसध्वनि' मानी जाने लगी तथा अलंकार अपने साध्य अर्थ से च्युत् होकर साधन तक सीमित हो गया। ध्वनिवादियों ने अलंकार की 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यता' की स्थिति को स्वीकार किया।[2] उनके अनुसार सहज प्रतिभा के द्वारा रसावेश में जिन अलंकारों का स्फुरण होता है वे ही वस्तुतः अलंकार हैं, यत्न-साध्य अलंकार—अलंकार नहीं, चित्रकाव्य हैं।[3] ठीक यही बात कुन्तक ने भी कही है कि काव्य अलंकृत ही प्रकट होता है व्यक्त काव्य का अलंकरण नहीं किया जाता—

'तेन अलंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति।'[4]

इसके अतिरिक्त जो सहज प्रतिभा सम्पन्न नहीं हैं उन कवियों की रचनाओं में भी अलंकार—'अलंकार' बन सकें इसके लिये आनन्दवर्धन ने कुछ नियमों का निर्देश किया है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बहंणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥[5]

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.३
२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्यालोक, २.१६.
३. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः।
ध्वन्यालोक ३.४३ की व्याख्या में, पृ० ३११
४. वक्रोक्तिजीवित, १.६ की वृत्ति, पृ० १६.
५. ध्वन्यालोक, २.१८-१९

अर्थात्—(१) अलंकारों की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर ही करनी चाहिये। (२) इनका प्रयोग प्रधान रूप से कदापि नहीं करना चाहिये। (३) उचित समय पर ग्रहण अर्थात् रसोत्कर्ष की अपेक्षा के अनुरूप ग्रहण तथा (४) उचित समय पर त्याग देना चाहिये। (५) अलंकारों के आद्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिये इससे रस व्याघात होता है। (६) यदि कहीं आद्यन्त निर्वाह हो भी जाये तो इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि वे अंग रूप में ही वर्णित हों अंगी तो रस ही है—वे उसका स्थान न ग्रहण कर लें।

आनन्दवर्धन ने रसध्वनि, अलंकारध्वनि एवं वस्तुध्वनि के रूप में ध्वनि के तीन भेद किये हैं एवं इन्हें उत्तम काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया है। अलंकार ध्वनि के महत्त्व को बताते हुये वे कहते हैं कि—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥[1]

अर्थात् जिन अलंकारों की वाच्यावस्था में शरीर रूपता भी निश्चित नहीं है; व्यङ्ग्य होने पर वे ही अलंकार परम चारुत्व को प्राप्त करते हैं। लोचनकार ने इसे और भी स्पष्ट रूप में वर्णित किया हैं—'एतदुक्तं भवति—सुकविर्विदग्ध-पुरन्ध्रीवद्-भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिव।'[2]

अर्थात् किसी नवयौवना के द्वारा सुविचारित रूप से धारण किये गये अलंकार कुंकुमलेप से हुई पीतिमा का भी स्थान नहीं ले पाते। अर्थात् कुंकुमपीतिमा फिर भी अलंकारों की अपेक्षा सन्निकट है। इस प्रकार इन अलंकारों का आत्मस्थानीय होना तो बहुत दूर की बात है। किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल में कुछ समय के लिये राजा आदि बन जाते हैं उसी प्रकार व्यङ्ग्य होने पर यह अलंकार—अलंकार्य हो जाता है।

मम्मट ने अलंकार को परिभाषित करते हुये बड़े ही व्यावहारिक दृष्टि से विवेचन किया है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥[3]

---

१. वही, २·२८.
२. लोचन, पृ० ३००.
३. काव्यप्रकाश, ८·६७, सूत्र ८७.

अर्थात् ये अलंकार रस के रहने पर ही कदाचित अर्थात् अनियत रूप से अंगद्वारेण अंगी का उत्कर्ष करते हैं। अतः तीन स्थितियाँ हो सकती हैं—

(१) रसजन्य चारुता हो किन्तु अलंकार अस्फुट रूप में हों।
(२) अलंकार अङ्गद्वारेण रसोत्कर्षक हों।
(३) अलंकार अङ्गद्वारेण रसापकर्षक हों।

जिस प्रकार दण्डी ने काव्यशोभाकारकअलंकारों के अनन्त भेद माने हैं[1] उसी प्रकार आनन्दवर्धन भी अलंकारों को कथन भंगिमा के अनन्त विकल्प के रूप में परिगणित करते हैं।[2] वस्तुतः स्वरूप की दृष्टि से कथन भंगिमा के फलस्वरूप ही तो काव्य-काव्य है। मात्र भाव एवं विचार तो मनोविज्ञान एवं विज्ञान के विश्लेषण के क्षेत्र होंगे-काव्य के नहीं। इसीलिये तो काव्य को शब्दार्थोभय प्रधान माना जाता है-न तो शब्द की प्रधानता चारुता ला सकती है और न अर्थ की प्रधानता सौन्दर्य निष्पादक होती है अपितु उभय का इतरेतर योग। इसीलिये तो शब्द प्रधान वेद एवं अर्थ प्रधान पुराणादि से विलक्षण कान्तासम्मित उपदेश के तुल्य काव्य को रमणीय माना गया है। अलंकार तो काव्य का स्वरूप है फिर उसे काव्य से पृथक् कैसे देखा जा सकता है।[3] अलंकारों के यदि सौन्दर्ययुक्त स्वरूप को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये तो काव्यशास्त्र को 'अलंकारशास्त्र' के नाम से अभिहित करना अनुपयुक्त न होगा। सम्भवतः इसी परिप्रेक्ष्य में ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने 'अलंकार' नाम पर अधिक बल दिया है, जैसाकि प्रथम अध्याय में हम प्रतिपादित कर चुके हैं।

वस्तुतः अलंकारों के सम्बन्ध में यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि ये काव्य में बाहर से थोपे या लादे जाते हैं। यह बात ठीक है कि कटक कुण्डलादि से उनकी उपमा दी जाती है, किन्तु वहाँ अलंकरणत्व रूप साधारण धर्म ही इष्ट होता है। जिस प्रकार शरीर में आभूषणों को धारण किया जाता है और पुनः उतार भी दिया जाता है वैसी कोई संगति काव्य में अलंकारों के साथ नहीं घटित हो सकती है। यदि किसी काव्य खण्ड को उसके अलंकारों से पृथक् करके देखा जाये तो उसका काव्यत्व ही बाधित हो जायेगा। यह उपमा तो मात्र इसलिये दी जाती है कि जिस प्रकार सुन्दर शरीर अलंकारों से और शोभित हो उठता है उसी प्रकार काव्य में उपयुक्त अलंकार योजन कथन को सशक्त बना देता है और अनुपयुक्त अलंकार

---

१. ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। २.१ काव्यादर्श
२. किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्। ध्वन्यालोक, पृ० ६.
3. It will be easier to dissociate love from its physical aspect than to keep the concept of poetry aloof from its form.
V. Raghavan, Some Concepts of the Alamkara Sastra, p. 55.

योजना उसी प्रकार खटकती है जिस प्रकार वृद्धा के शरीर पर अतिशय आभरण।[1] स्वयं आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रसाभिव्यक्ति के अनुकूल अलंकारों को बहिरंग नहीं माना जा सकता है—"यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः । तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ।"[2]

इसीलिये चन्द्रालोक के व्याख्याकार विद्यानाथ का यह कथन सर्वथा युक्त है कि "संनिवेश इत्युक्तेः तद्रूप (शब्दार्थरूप) एवायं, न तु पुंसः कटकादिवत् पृथग्भूतः…… एवं च हारादिवदिति दृष्टान्तो न सर्वांशे, अपितु रमणीयता मात्रे।'[3]

कुन्तक ने भी तो कहा है कि—अलंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति।[4] यह निर्विवाद सत्य है कि विवेचन विश्लेषण की दृष्टि से ही यह भेद सम्भव है।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि काव्य में कोई न कोई अलंकार रहता अवश्य है चाहे वह अस्फुट रूप से ही क्यों न रहे। तभी तो जयदेव ने कहा है कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥[5]

अतः शंका होती है कि यही तो अलंकारवादियों को भी अभीष्ट है फिर अलंकारवादियों एवं ध्वनिवादियों से अन्तर क्या है? यहाँ अवधारणीय है कि ध्वनिवादी अस्फुट रूप में भी अलंकारों की स्थिति स्वीकार करते हैं जबकि अलंकारवादी सर्वत्र अलंकार की प्राधान्येन स्थिति मानते हैं। इसके अतिरिक्त अलंकारवादियों के यहाँ काव्य के आन्तरिक तत्त्व रस, ध्वनि आदि भी अलंकार ही कहलाते हैं—यही मौलिक भेद है।

---

१. काव्य का उपमादि के साथ समवाय या समवाय जैसा ही सम्बन्ध सम्भव है। फलतः उपमादि भी काव्य के अविभाज्य अंग वैसे ही सिद्ध होते हैं जैसे रसधर्म माने जाने वाले गुण आदि। भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार और काव्य के सम्बन्ध को लेकर जो यह विचार मंथन हुआ इसमें ध्वनिवादी मम्मट की अपेक्षा उनके द्वारा पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थापित प्राचीन आचार्यों का समवाय पक्ष ही अधिक संगत और वैज्ञानिक सिद्ध होता है।
रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, पृ० २५.
२. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृ० १०७.
३. जयदेव, चन्द्रालोक, ५.१ की व्याख्या,
४. वक्रोक्तिजीवित, १.६ की वृत्ति, पृ० १६.
५. जयदेव, चन्द्रालोक, १.१२.

ध्वनिवादियों एवं रसवादियों ने ध्वनि एवं रस को सर्वाधिक महत्त्व देते हुये भी अलंकार का सर्वथा परित्याग नहीं किया है और किया भी नहीं जा सकता है, क्योंकि वचन भंगिमा का आधार अलंकार ही है। यह सही है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकारों के प्रयोग को नियमित किया तथा काव्य को हृदयहारी बनाने में अलंकारों की औचित्यपूर्ण भूमिका पर बल दिया। औचित्य ही वह तत्त्व है जो काव्य में विभिन्न तत्त्वों का उपयुक्त विनियोग, समस्वरता तथा सामञ्जस्य को बनाये रखता है। इन्हीं सब तथ्यों को देखकर क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य को काव्य सर्वस्व घोषित कर दिया—

काव्यस्यालंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥
अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥[1]

ध्वन्यालोककार ने भी औचित्य पर अत्यधिक बल देते हुये स्पष्ट स्वीकार किया है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं हो सकता है—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥[2]

अतः अलंकारों की यथार्थता तभी है जब वे यत्नपूर्वक समीक्षोपरान्त काव्य में विनिवेशित किये जायें—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥[3]

अलंकार की सार्थकता तभी है जब वह अपने अलंकरण रूप कार्य को सिद्ध करे। अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः इस व्युत्पत्ति से अलंकार कभी अंगी नहीं बन सकते, सदैव साधक ही रहेंगे—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥[4]

अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अंगरूप में अलंकारों की स्थिति ही समस्त अलंकारों के अलंकारत्व का साधक हो। काव्य सरस एवं औचित्यपूर्ण होना

---

१. क्षेमेन्द्र; औचित्यविचारचर्चा, कारिका ४-५, पृ० १.
२. ध्वन्यालोक, ३.१४ की वृत्ति, पृ० १९०,
३. ध्वन्यालोक, २.१७.
४. वही, २.५ की वृत्ति, पृ० ८८.

चाहिये इस सम्बन्ध में लोचनकार का भी वक्तव्य वड़ा प्रभावशाली है। नीरस काव्य में अलंकारों का प्रयोग केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र है—ठीक उसीप्रकार जैसे किसी शव अथवा गलित यौवना नारी या वैराग्यवान् यति के शरीर को आभूषणों से सज्जित करने का यत्न—

"तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्।"[1]

वस्तुतः सायास प्रयोग से आये हुये अनभीष्ट अलंकार न केवल वर्ण्यविषय को अपितु काव्यात्म को भी आच्छादित कर देते हैं। इस प्रकार ध्वनिवादियों ने यह सिद्ध कर दिया कि शरीराश्रित होते हुये भी ये अलंकार रस रूप आत्मा की सौन्दर्याभिव्यक्ति में ही अपनी सार्थकता को प्राप्त करते हैं। शव्दलंकारों के द्वारा वैचित्र्य की अधिक सम्भावना रहती है। इसीलिये हम देखते हैं कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास एवं यमक के प्रति अपनी उपेक्षा प्रकट की है—

(१) अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवाद्।[2]
(२) आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते॥[3]

इसी तरह रुद्रट ने भी अनुप्रास की मधुरा, प्रौढ़ा आदि पाँच वृत्तियों का निर्देश करके उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष वल दिया है।[4]

अलंकार : सामान्य समीक्षा

अलंकारवादियों के विरुद्ध सबसे प्रवल आक्षेप यह लगाया जाता है कि वे रस को भी अलंकार मानते हैं। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विवेचन किया जाये तो ऐसा कहना अनौचित्यपूर्ण है। संस्कृत काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करने पर यह तथ्य सुस्पष्टहो जाता है कि यह समीक्षा कवि, काव्य एवं सहृदय तीनों को दृष्टि में रखकर समय-समय पर की गयी है। अतः सहृदय को दृष्टि में रखकर जिसे रस कहा जाता है उसे ही मात्र काव्य की दृष्टि से परीक्षण करने पर अलंकार कहा जा सकता है, क्योंकि रस अलंकारों के द्वारा ही तो व्यङ्ग्य होता है। "फलतः काव्य के सभी तत्त्व जहाँ कवि की दृष्टि से रीति या मार्ग कहे गये हैं और अनुभविता की दृष्टि से रस आदि, वहीं काव्य की दृष्टि से उन्हें अलंकार कहा गया है। इस दृष्टि से रस भी अलंकार है और उसे रसालंकार संज्ञा दी गयी है।…भार-

---

१. लोचन, पृ० २०९.
२. काव्यादर्श, १.४४.
३. वही, १.६१,
४. रुद्रट, काव्यालंकार, २.३२.

तीय काव्य समीक्षा ने आरम्भ में केवल काव्यपरक दृष्टि से समीक्षा प्रस्तुत की और आठवीं शती तक 'अलंकार' को काव्य समीक्षा का मेरुदण्ड माना जाता रहा। उस युग तक अलंकार ही महासंज्ञा रही।"[1]

अतः बिना इस दृष्टि से विचार किये अलंकारवादियों पर सीधा आक्षेप कर देना उचित नहीं। यह सत्य है कि अलंकारवादियों को काव्य में अलंकार का तत्त्व सर्वाधिक अभीष्ट था, इसीलिये रुय्यक ने कहा है--

"अलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यां मतम्" अर्थात् अलंकार ही काव्य में प्रधान है ऐसा प्राचीनों का मत है।

अलंकारों के सम्बन्ध में एक भ्रान्त धारणा यह भी प्रचलित है कि वे कृत्रिम होते हैं, मात्र बुद्धि के विलास हैं, जो चमत्कार जनन करते हैं-हृदय की विश्रान्ति वहाँ नहीं है। यह बात मात्र आयास साध्य अलंकारों के प्रति ही लागू होती है-- सभी अलंकारों के लिये नहीं। प्रतिभा सम्पन्न कवि में तो जैसे-जैसे मनोभाव तीव्र होता है, भाव प्रकट होते हैं, अलंकार स्वयं ही उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने में पथ प्रशस्त करते चलते हैं--

"अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे।"[2]

इस चारुत्व को ही कुछ अलंकारशास्त्रियों ने विच्छित्ति, चमत्कार, वैचित्र्य आदि नामों से अभिहित किया है। निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि अलंकार को काव्यार्थ चिन्तन में महत्त्व मिलने का कारण यही कल्पित किया जा सकता है कि काव्य के अनुभूति पक्ष का सर्वस्व उस शैली पर अवलम्बित है जो अलंकारों से संघटित होती है। अलंकार सम्प्रदाय में काव्यशास्त्र अपनी शैशवावस्था में था अतः विषय प्रतिपादन में शैथिल्य दृष्टिगत हो सकता है किन्तु इसे सौन्दर्य चेतना से हीन नहीं माना जा सकता है। परवर्ती अनेकानेक सिद्धान्तों की पूर्वपीठिका अलंकार सम्प्रदाय है। कुन्तक की वक्रोक्ति का उत्स भामह में ही ढूँढा जाता है। औचित्य की अवधारणा स्फुट किंवा अस्फुट रूप में प्रायः सभी ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में उपलब्ध होती है। अलंकारवादी आचार्य रस से भी सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे, रसवदादि अलंकारों की योजना इसका प्रमाण है। इसके अतिरिक्त भामह एवं दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण के प्रसंग में रस की अनिवार्यता के प्रति संकेत किया है। दीपक, पर्यायोक्त, समासोक्ति

---

१. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, प्राक्कथन, पृ० १

२. ध्वन्यालोक, पृ० १०६-१०७.

आदि अलंकारों में लक्षित अवगमनात्मक व्यापार से ध्वनि की भूमिका निर्मित हुई। किन्तु इतना होते हुये भी कुछ संकीर्णताओं के कारण अलंकार सम्प्रदाय परवर्ती काल में समादृत न हो सका।

ध्वनि सम्प्रदाय ने अलंकारों को अंगीकार तो किया किन्तु रस को प्रधान या उपस्कार्य माना तथा अलंकारों को उपस्कारक। यह प्रधानता-अप्रधानता की चर्चा शास्त्र में समझने-समझाने के लिये कर दी जाती है, वस्तुतः व्यवहार में ऐसा कोई भेद लक्षित नहीं होता है। जैसे "चेतन पुरुष के शरीर में रहने वाली आत्मा को ही हम जीव कहते हैं, देह और शरीर के ही सम्बन्ध से उसका देही अथवा शरीरी कहकर परिचय देते हैं। घटपटादि में व्याप्त आत्मत्व को देही और शरीरी नहीं कहते। इसीप्रकार रमणीय वाच्यवाचक में व्याप्त ध्वनि ही काव्यात्मा है। अस्तु, न केवल अलंकार को सप्राणता के लिये रस ध्वनि की अपेक्षा है अपितु रस ध्वनि को ही वाच्यवाचक रामणीयक रूपी शरीर को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना अपेक्षित है। अलंकृत अथवा चारु शब्दार्थ ही वस्तुतः काव्यात्मा का अवच्छेदक हो सकता है। अलंकार और अलंकार्य का यही सम्बन्ध है।"[1]

वस्तुतः सौन्दर्य पूर्णता का नाम है और काव्य में यह पूर्णता औचित्य के द्वारा आती है तथा 'अलंकार' इस पूर्णता का साधक है। 'अलंकार' शब्द के अर्थगत इतिहास को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल से लेकर अबतक अलंकारों का प्रयोग कथन भंगिमा में आकर्षण एवं बल लाने के लिये किया जाता है। सीधे ढंग से कही गयी बात उतनी प्रभावशाली नहीं होती जितनी अलंकारों से मण्डित। "शास्त्रीय या तार्किक और लोक व्यवहार की वचन सरणि से भिन्न सरणि ही साहित्यिक अभिव्यक्ति की सरणि है और यही साहित्यिक अभिव्यक्ति की विशेषता है।"[2]

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलंकार का लक्षण—'सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वं अलंकारत्वम्' किया है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "अलंकार वही है जो सुन्दर हो तथा सौन्दर्यवर्धक हो; यदि वह प्रतीत (सुन्दर) न हुआ तो सौन्दर्यवर्धन नहीं करता, और यदि केवल सुन्दर है परन्तु पाठक की चेतना का विस्तार नहीं करता है तो भी वह उपकारक नहीं है। अतः अलंकारत्व सौन्दर्य एवं सौन्दर्य वृद्धि का समकाल गुण है। जो इस गुण से रहित है वह अलंकारपद से च्युत होकर

---

१. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ० १४२.
२. रेवाप्रसाद द्विवेदी की—भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त नामक पुस्तक में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा लिखित पातनिका से उद्धृत, पृ० xxxv

उल्लेख्य नहीं रह जाता। ऐसे अलंकार त्याग दिये जाते हैं जिनमें चमत्कार न हो अथवा जिनका अन्यत्र अन्तर्भाव हो सकता हो।"[१]

'अलं' भाव अर्थात् पर्याप्तता या आस्वादयिता की तृप्ति की अवस्था व्यक्तिनिष्ठ भाव है। किसे किस बिन्दु पर आस्वाद मिलता है, यह तो व्यक्ति प्रतिव्यक्ति बदलता रहता है। साथ ही यह अवधारणीय है कि जिस प्रकार रस व्यङ्ग्य होता है उसी-प्रकार अलंकारार्थ भी व्यङ्ग्य होता है। यथा 'कमल नयन' कह देने से कमल और नयन दोनों का बोध होता है, पुनः लक्षणा से कमल जैसा नयन बोध होता है किन्तु ऐसा कहने का जो अतिशयत्व रूप प्रयोजन है वह सदैव व्यञ्जनागम्य ही है। "रस और उपमा आदि की प्रतीयमानता में केवल इतना ही अन्तर है कि रसों में चित्त की स्थायी वृत्तियों का अनुभव होता है जबकि उपमादि में केवल आनन्द का अनुभव होता है जिसे चित्तवृत्ति मात्र कहा जा सकता है। आधुनिक आलोचना में इसे चमत्कारात्मक अनुभूति और रसादि की अनुभूति को रागात्मक अनुभूति कहा जा सकता है। इस प्रकार अलंकार भी किसी भी प्रकार अभिधा और लक्षणा के द्वारा विदित नहीं होते।"[२]

अलंकार के इस महत्त्व एवं प्राचीनता का ही यह परिणाम है कि आलोचना-शास्त्र का सर्वाधिक प्रचलित अभिधान 'अलंकारशास्त्र' है। प्रारम्भ में ही हमने उल्लेख किया है कि अलंकार अपने व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को व्याप्त कर लेता है और संकीर्ण अर्थ में उपमादि की परिधि तक ही सीमित रह जाता है। प्रकृत अध्ययन में अलंकार को इसी संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया गया है।

शब्दालङ्कार एवं अर्थालंकार के पूर्वापर विवेचन का औचित्य

अलंकारों में प्राचीनतम अलंकार उपमा है। भरत मुनि ने तो 'उपमारूपकञ्चैव दीपकं यमकं तथा'[३] कहकर उपमा को सर्वप्रथम परिगणित किया ही है, इनके पूर्व यास्क एवं पाणिनि ने भी उपमा को निरूपित किया है। भरतमुनि के अलंकार विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार रूप कोई विभाग प्रस्तुत नहीं किया है और तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करें तो ऐसा किया भी नहीं जा सकता है क्योंकि शब्द एवं अर्थ का विभाग सम्भव भी नहीं है। शब्द अर्थ के विना व्यर्थ है और अर्थ शब्द के विना असम्भव। इनका अविनाभाव सम्बन्ध कालिदास की इन पंक्तियों का स्मरण करा देता है—

---

१. डॉ० ओमप्रकाश, अलंकारों का स्वरूप विकास, पृ० ३८७.

२. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, पृ० २३.

३. नाट्यशास्त्र, १७.४३.

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।[1]

किसी शब्द का विश्लेषण करें तो उसके दो अंश होते हैं—उच्चारणांश तथा अर्थ । अलंकार केवल उच्चारण का नहीं होता अपितु अर्थ का भी होता है । यह सत्य है कि अनुप्रासादि में इस उच्चारणांश में ही चमत्कार निहित रहता है । अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय को दृष्टि में रखकर उन्हें शब्दालंकारों में अन्तर्भूत कर दिया जाता है ।[2] इसी प्राधान्याप्राधान्य का व्यपदेश मम्मट ने इन शब्दों में किया है—

'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ।।[3]

एक और वात जो भरतमुनि के अलंकार वर्णन के प्रसंग में ध्यान देने की है कि यद्यपि भरत ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार रूप विभाग नहीं किया है, किन्तु यमकालंकार के लक्षण प्रसंग में प्रयुक्त 'शब्दाभ्यासस्तु'[4] शब्द के प्रयोग के आधार पर यमक को शब्दालंकार कहें भी तो उसका वर्णन भरत ने अन्त में किया है । इस प्रकार शब्द एवं अर्थ में प्रधानता भरतमुनि ने अर्थ को ही दी है । वस्तुतः व्यावहारिक जगत् में हम यह देखते हैं कि काव्यात्मक अर्थ शब्दज्ञान से मिला रहता है । यदि किसी को शब्द का ज्ञान नहीं है तो उसमें अर्थ का स्फुरण हो ही नहीं सकता । इसीलिये शब्दार्थ युग्म (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) को काव्य माना जाता है । किन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्येक ज्ञान में प्रत्यायक शब्द की अपेक्षा अर्थ प्रधानतया भासित होता है । इस कारण अर्थ के महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता । दण्डी की विचार सरणि चूँकि भरत से अधिक प्रभावित जान पड़ती है इसीलिये इन्होंने अर्थालंकारों का पहले तथा शब्दालंकारों का बाद में निरूपण किया है । किन्तु बाद के प्रायः सभी आलंकारिकों ने शब्दालंकारों का विवेचन पहले और अर्थालंकारों का बाद में किया है । इसका कारण यह सम्भावित किया जा सकता है कि प्रत्यायक शब्द की प्रतीति प्रत्येय अर्थ प्रतीति के पूर्व होती है । दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि शब्द प्रतीति अपेक्षाकृत बहिरंग है तथा अर्थ प्रतीति अन्तरंग । रस की दृष्टि से

---

१. रघुवंशम्, १·१.
२. किञ्च 'वैचित्र्यमलङ्कारः' इति य एव कवि प्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः ।
मम्मट, काव्यप्रकाश, दशम् उल्लास, पृ० ४३२.
३. काव्यप्रकाश, ३·२३, सूत्र ३८.
४. नाट्यशास्त्र, १७·६०.

यदि विचार किया जाये तो इन शब्दालंकारों की अपेक्षा उपमादि अर्थालंकार रस के अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यासन्न उपकारक प्रतीत होते हैं। सम्भवत: इन्हीं सब कारणों से शब्दालंकारों के पूर्व विवेचन की परम्परा प्रचलित हो उठी।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के विभाग के दो आधार माने जाते हैं—

(१) अन्वय-व्यतिरेक भाव
(२) आश्रयाश्रयिभाव

इसमें मम्मट अलंकारों के अन्वयव्यतिरेक भाव के समर्थक हैं। उनके अनुसार अलंकारों की शब्द निष्ठता, अर्थनिष्ठता एवं उभयनिष्ठता में अन्वय-व्यतिरेक ही नियामक है। इसलिये जो अलंकार शब्द और अर्थ में से जिसके अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह उसका अलंकार माना जाता है। 'तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वय:' एवं 'तदभावे च तदभावो व्यतिरेक:' यह अन्वय व्यतिरेक का अर्थ है। कोई अलंकार किसी विशेष शब्द के रहने पर ही रहे तथा उस शब्द को हटा कर उसका पर्यायवाची भी रख देने पर न रहे तो उस शब्द विशेष के अन्वय व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण वह 'शब्दालंकार' कहलाता है। जो अलंकार किसी शब्द के परिवर्तन कर देने के उपरान्त भी उसके पर्यायवाचक शब्द की सत्ता में बना रहे तो वह अर्थालंकार कहलाता है तथा जो शब्द एवं अर्थ दोनों के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उभयालंकार कहलाता है।

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक इन अलङ्कारों का भेदक हेतु आश्रयाश्रयिभाव को मानते हैं।

मम्मट ने इस आश्रयाश्रयिभाव का पहले ही खण्डन कर दिया है। क्योंकि मम्मट के अनुसार आश्रयाश्रयिभाव का भी नियामक अन्वयव्यतिरेक ही है। अन्वय-व्यतिरेक को माने बिना आश्रयाश्रयिभाव का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। अत: अन्वयव्यतिरेक रूप विभाग ही श्रेयस्कर है—

योऽलङ्कारो यदाश्रित: स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावात्। इत्यलङ्काराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।[1]

यह तो हुई शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के विभेद के आधार की बात। अब क्रमश: भामहादि आलंकारियों के द्वारा वर्णित अलंकारों के क्रमौचित्य पर दृष्टिपात करेंगे।

---

१. काव्यप्रकाश (विश्वेश्वरकृत व्याख्या), पृ० ५६७.

क्रमौचित्य

भामह ने सर्वप्रथम अनुप्रास एवं यमक इन दो शब्दालंकारों का निरूपण किया है। स्वरूप विकास की दृष्टि से यह क्रम उचित भी है क्योंकि यमक अनुप्रास की अपेक्षा जटिल है। भरत ने उपमा को सर्वप्रथम निरूपित करके जिस अर्थ सादृश्य के महत्त्व को ख्यापित किया था उसी सादृश्य को भामह ने वर्णादि सादृश्य के रूप में अनुप्रास में स्वीकार किया है।

यमक में भी स्वरव्यञ्जन समुदाय का तो सादृश्य होता है किन्तु अर्थ में भेद होता है। इन दोनों ही अलंकारों में आवृत्ति पर वल दिया गया है किन्तु जहाँ अनुप्रास में वर्णों के प्रकृष्ट न्यास पर बल दिया जाता है वहाँ यमक में अर्थ भेद भी अपेक्षित है। शब्द की अपेक्षा चूँकि अर्थ अन्तरंग है अतः अनुप्रास के बाद यमक को रखना युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।

अर्थालंकारों के वर्णन में भामह ने क्रमौचित्य पर ध्यान नहीं दिया है। ऐसा लगता है कि भामह ने अपने पूर्व आलंकारिकों के ग्रंथों में उपलब्ध अलंकारों को यथाप्राप्त रूप में संग्रहीत कर लिया है। द्वितीय परिच्छेद में भामह ने रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति इन १२ अलंकारों का इसी क्रम से विवेचन किया है। उक्त क्रम को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थालंकारों में प्रथम विवेचित अलंकार रूपक है। सम्भवतः अलंकारशास्त्र में भामह एवं इनके व्याख्याकार उद्भट को छोड़कर प्रायः सभी आलंकारिकों ने उपमा को रूपक से पहले निरूपित किया है। इसका कारण रूपक की अपेक्षा उपमा की सरल प्रक्रिया है। उपमा में उपमेय एवं उपमान दोनों का अस्तित्व रहता है जवकि रूपक में उपमेय पर उपमान के आरोप से अभेद प्रतीति होती है। दार्शनिक दृष्टि से भी भेद की अपेक्षा अभेद अधिक सूक्ष्म है। अतः क्रमिक विकास की प्रक्रिया में या तो स्थूल से सूक्ष्म की तरफ गमन होना चाहिये या सूक्ष्म से स्थूल के प्रति। परन्तु व्यावहारिक प्रथम ही है। इस व्यावहारिकता से रहित होने के कारण ही ये अलंकार भामह की स्वयं की उद्भूति नहीं प्रतीत होते हैं अपितु संकलित लगते हैं। साथ ही यह भी अवधारणीय है कि जब सादृश्यमूलक अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ ही कर दिया तो फिर उनको ही क्रमशः निरूपित कर देना चाहिये था बीच में आक्षेप, विभावना आदि विरोधगर्भमूलक अलंकारों के निरूपण का क्या औचित्य है? साथ ही सादृश्य-मूलक अलंकारों में भी जिन अलंकारों में यत्किञ्चित् भेद है उन्हें एक के वाद एक रखना चाहिये जिससे अलंकार स्वरूप को समझना सुकर हो जाता है। तृतीय परिच्छेद में भामह ने २४ और अलंकारों का निरूपण किया है, जो इसप्रकार हैं—प्रेय, रसवद्, उर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति,

विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक एवं आशीः। इन अलंकारों में भी उक्त अक्रमता है, किन्तु चित्तवृत्तिमूलक—रसवद्, उर्जस्वी, प्रेय आदि अलंकारों का निरूपण भामह ने एक साथ किया है तथा अनेक अलंकारों के योग से निर्मित संसृष्टि का सबसे अन्त में वर्णन है तथा संसृष्टि के भी उपरान्त भामह ने प्रवन्ध गुण भाविक को स्थान दिया है, जो युक्तियुक्त है। तदुपरांन्त आशीः का वर्णन है जिसकी युक्तता समझ में नहीं आती है।

भामह की अपेक्षा दण्डी में यह क्रमौचित्य अपेक्षाकृत परिष्कृत रूप को प्राप्त है। स्वाभाविक स्वरूप वर्णन रूप स्वभावोक्ति को दण्डी ने सर्वप्रथम निर्दिष्ट किया है। क्योंकि किसी भी अलंकार में स्वरूप वर्णन की अपेक्षा अलंकृत तत्त्व की प्रमुखता रहेगी ही। तदुपरान्त उपमा का विस्तृत वर्णन किया है। इन्होंने उपमा के ३२ भेद माने हैं। सम्भवतः भरतमुनि से प्रभावित होकर ही इन्होंने उपमा, रूपक, दीपक को एक साथ रखा है। इनके अधिकांश अलंकार सादृश्यमूलक हैं, चित्तवृत्तिमूलक अलंकार एकत्र वर्णित हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में पूर्वापर क्रम सुनियोजित नहीं हैं जैसाकि आगे चल कर राजानक रूय्यक ने निर्दिष्ट किया है। रुय्यक ने तीन प्रकार के साधर्म्य की चर्चा की है—भेद प्रधान, अभेद प्रधान तथा भेदाभेदतुल्य। इसमें भी उन्होंने उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा आदि भेदाभेद तुल्य अलंकारों का प्रथम निरूपण एवं अभेद प्रधान के आरोप तथा अध्यवसाय रूप दो भेद करके आरोप मूलक रूपक, सन्देह, अपह्नुति आदि का पहले निरूपण एवं अध्यवसायमूलक उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का बाद में निरूपण निर्दिष्ट किया है। तदुपरान्त सहोक्ति, व्यतिरेक आदि के वर्णन को निर्दिष्ट किया है। किन्तु फिर भी हम उस युग के परिप्रेक्ष्य में दण्डी के प्रयत्न को श्लाघ्य मानने के लिए बाध्य हैं। "आज विगतानुदर्शन करने पर चाहे हमें उनके द्वारा प्रदत्त विकल्पों का प्रपञ्च अनावश्यक सा लगे, परन्तु उसके अपने युग की दृष्टि से उस समय तक के नानाविध विकल्पों का सयत्न संकलन करके उन्हें यथासम्भव वैज्ञानिक रीति से समुपस्थापित करने का उसका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दण्डी द्वारा निर्दिष्ट बहुत से अलंकार भेद उत्तरवर्ती युग में स्वतन्त्र अलंकार बन गये। इन स्वतन्त्र अलंकारों के जन्म की कथा का आकलन करने के लिये दण्डी का काव्यादर्श निःसन्देह एक आकर ग्रन्थ है।... ऐसे उत्तरवर्ती स्वतन्त्र अलंकार जिनका वीज काव्यादर्श में देखा जा सकता है ये हैं—अत्युक्ति, अधिक, अनुमान, असंगति, कारक दीपक, निश्चय, परिसंख्या, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, मीलित, विषम, सम और समाधि।"[1]

---

1. दण्डी के काव्यादर्श की धर्मेन्द्र कुमार गुप्त कृत व्याख्या के भूमिका भाग से उद्धृत, पृ० ५२.

वामन पहले आचार्य हैं जिन्होंने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार रूप विभाग प्रस्तुत किया है। किन्तु शब्दालंकारों में यमक का पहले और अनुप्रास का तदुपरान्त निर्देश सम्भवतः भरतमुनि के प्रभाव से प्रभावित होना इंगित करता है। इसके अतिरिक्त वामन ने उपमा को समस्त अलंकारों के मूल में स्वीकार किया है या दूसरे शब्दों में समस्त अलंकारों को वे उपमा का प्रपञ्च मानते हैं। विरोध, विभावना, श्लेष, वक्रोक्ति आदि कुछ अलंकारों को छोड़कर वामन के प्रायः सभी अलंकार औपम्यमूलक हैं। वामन ने भेद प्रभेदों की चर्चा नहीं की है। इनका अलंकार वर्णन बड़ा ही सुस्पष्ट है तथा परवर्ती अलंकारशास्त्र पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जहाँ भामह एवं दण्डी ने अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल माना है—वहाँ वामन ने उपमा को। "परन्तु फिर भी उसे अलंकार का आधार नहीं माना जा सकता है क्योंकि सभी प्रकार का आलंकारिक चमत्कार साम्यमूलक नहीं होता। वास्तव में···अलंकार विधान के मूल में निश्चित मनोवैज्ञानिक आधार रहता है। और भिन्न-भिन्न अलंकार वर्गों के पीछे हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणा रहती है। जहाँ हमें अपनी भावना को स्पष्ट करना होता है वहाँ हम सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। कौतुहल आदि प्रवृत्तियों के परितोष के लिये, मानसिक सामञ्जस्य के लिये अथवा उत्तेजना की अवस्था में सादृश्यमूलक अलंकारों का विशेष उपयोग नहीं रहता। उक्ति चमत्कार के अनेक रूप ऐसे हैं जिनका सादृश्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उपमा को अलंकारों का मूल मानना अधिक संगत नहीं है।"[1]

वामन का संरम्भ चूँकि सादृश्यमूलक अलंकारों पर ही था अतः अनेक पूर्ववर्ती अलंकार अविवेचित रह गये हैं।

उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसारसंग्रह, में ४१ अकलंारों का निरूपण किया है। इन अलंकारों में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, संकर, काव्य हेतु तथा काव्यदृष्टान्त—ये छः अलंकार भामह में प्राप्त नहीं होते हैं अन्यथा अलंकारों के नाम एवं क्रम हूबहू उद्भट ने भामह के अनुसार ही लिखे हैं। सिर्फ भामह के उपमारूपक एवं उत्प्रेक्षावयव इन दो अलंकारों को इन्होंने नहीं माना है । उद्भट की एक और कृति भामह पर 'भामह विवरण' नामक टीका प्रसिद्ध है, जो आजकल प्राप्त नहीं होती है—इन सबसे यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उद्भट पर भामह का अत्यधिक प्रभाव था। इन्होंने इन अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया है किन्तु क्रम एकदम भामह का ही है। अतः छः वर्गों में विभाजन का औचित्य समझ में नहीं आता। ऐसा भी नहीं है कि समान धर्म वाले अलंकार एक वर्ग में

---

१. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग १, पृ० २१.

निरूपित हों। उद्भट के अलंकार सम्बन्धी लक्षण परवर्ती काल में भी समादृत हुये। किन्तु क्रमौचित्य की तरफ इनका भी ध्यान नहीं गया। उद्भट के द्वारा वर्ग के अन्त में 'इत्येत एवालंकारा वाचां केश्चिदुदाहृताः' तथा 'अलंकारान् परे विदुः' और 'अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ' आदि कथन इन वर्गों के वैज्ञानिक विभाजन क्रम को नहीं अपितु ऐतिहासिक क्रम को लक्षित करता है।

रुद्रट ने ६२ अलंकारों का निरूपण किया है जिनमें पाँच शब्दालंकार एवं ५७ अर्थालंकार हैं। वक्रोक्ति, अनुप्रास, श्लेष, यमक और चित्र—ये पाँच शब्दालंकार हैं। रुद्रट पहले आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति की शब्दालंकार के रूप में गणना की है। यद्यपि इनके पूर्व भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का प्रसू, दण्डी ने अतिशयोक्ति का पर्याय एवं वामन ने अर्थालंकार माना था। रुद्रट ने काकु वक्रोक्ति एवं श्लेष वक्रोक्ति रूप इसके दो भेद भी किये हैं जिसे उसी रूप में ध्वनिवादी आचार्यों ने भी मान लिया है। इसी तरह चित्रालंकार में दण्डी ने मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक, प्रहेलिका आदि का अन्तर्भाव किया था, जिसके सम्बन्ध में रुद्रट की स्पष्ट उक्ति है कि इन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिये—ये मात्र खेल के उपयोग में आते हैं।

रुद्रट ने समस्त अर्थालंकारों को चार वर्ग में विभक्त किया है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रट प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने अलंकारों को वैज्ञानिक ढंग से विभाजित करने का प्रयास किया है। रुद्रट ने जिन चार वर्गों का निर्देश किया है वे निश्चित ही उनकी वैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु इन वर्गों में जिन अलंकारों को उन्होंने निरूपित किया है वे परस्पर संक्रमित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप इनका सिद्धान्त परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ। किन्तु वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष का जो इन्होंने क्रम रखा है वह वड़ा ही वैज्ञानिक है। कभी तो कोई यथार्थ वर्णन ही ऐसा होता है जो सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, कभी कोई तुलना (औपम्य) ऐसी होती है जो हृदयावर्जक होती है, तो कभी कोई वर्णन इतना वढ़ा-चढ़ाकर (अतिशयोक्तिपूर्ण) किया जाता है कि वह साधारण सी बात पर बहुत रंग ला देता है, तो कभी कोई वात इस ढंग से कही जाती है कि एक ही शब्द से अनेक अर्थ (श्लेष) व्यक्त होते हैं, जो सहृदयों को चमत्कृत कर देते हैं। ये ही चार अर्थ काव्य के भूषण हैं—

> अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
> एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥[1]

इन चार वर्गों में निरूपित अलंकारों में जो परस्पर में संक्रमण होता है अर्थात्

---

१. रुद्रट, काव्यलङ्कार, ७.९.

जो अलंकार वास्तव वर्ग में रखे गये हैं वे वास्तवगत ही नहीं हैं उनमें से अनेक अलंकार औपम्य मूलक भी हैं, वह तो होता ही है इसके अतिरिक्त एक वर्ग में निरूपित अलंकारों में भी क्रमौचित्य पर रुद्रट ने ध्यान नहीं दिया है। यथा वास्तव वर्ग के लक्षण[1] की दृष्टि से सर्वाधिक प्रमुख अलंकार स्वभावोक्ति है जिसका प्रथम निर्देश होना चाहिए था किन्तु उसको बाद में निरूपित किया है। औपम्यवर्ग में निरूपित अलंकारों में यह क्रम अपेक्षाकृत अधिक युक्तियुक्त है एवं पूर्ववर्ती आलंकारिकों की अपेक्षा क्रम एवं विषय की दृष्टि से प्रौढ़ है। परन्तु अतिशय मूलक अलंकारों में अतिशयोक्ति की गणना भी नहीं की है। इसके अतिरिक्त उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी हैं और औपम्यगत भी, उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी तथा विषम वास्तवगत भी है और अतिशयगत भी । इसके अतिरिक्त अन्य कई अलंकार हैं जो दो वर्गों में निरूपित हुये हैं किन्तु इनके लक्षणों एवं उदाहरणों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अपने-अपने वर्ग में ये भिन्न-भिन्न हैं, इन्हें नाम साम्य के आधार पर एक नहीं माना जा सकता।

रुद्रट के अनेकानेक अलंकारों को मम्मट ने स्वीकार कर लिया है यथा—वक्रोक्ति, शब्दश्लेष, समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, मीलित, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान, प्रत्यनीक, स्मरण, विशेष, तद्गुण, असंगति, व्याघात और अधिक। अतः स्पष्ट है कि अलंकार वर्ग निरूपण यद्यपि रुद्रट का मान्य नहीं हुआ किन्तु अलंकारशास्त्र के प्रति इनकी अमूल्य देन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह ने ३८, दण्डी ने ३७, वामन ने ३१, उद्भट ने ४१ तथा रुद्रट ने ६२ अलंकारों का निरूपण किया तथा स्वतन्त्र रूप से रुद्रट तक अलंकारों की संख्या ८३ तक पहुँच गयी थी। अब यहाँ क्रमशः उन प्रमुख अलंकारों के स्वरूप विकास पर दृष्टिपात किया जायेगा जो आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं।

अलङ्कारों का स्वरूप विकास

१. अनुप्रास—भामह ने सरूप वर्ण विन्यास को अनुप्रास कहा है। ये अनुप्रास को नानार्थक एवं सदृशाक्षर मानते हैं।[2] इसके ग्राम्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास रूप दो भेद माने हैं।

दण्डी ने गुण वर्णन के प्रसंग में अनुप्रास की चर्चा वैदर्भ एवं गौड मार्ग के विभेद

---

१. वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशमश्लेषम् ॥७·१०.

२. नानार्थवंतोऽनुप्रासा न चाप्यसदृशाक्षराः। २.७,

के सन्दर्भ में की है। इसीलिये अनुप्रास के मुख्य रूप से दो भेद माने हैं—श्रुत्यनुप्रास तथा वर्णानुप्रास। वैदर्भ मार्गी श्रुत्यनुप्रास को श्रेष्ठ मानते हैं जबकि गौडीय वर्णानुप्रास को ही प्रश्रय देते हैं। दण्डी का अनुप्रास लक्षण भामह की अपेक्षा अधिक परिष्कृत है, इसमें तीन तथ्यों का समावेश है।[1]

(१) वर्ण की आवृत्ति अनुप्रास है,

(२) यह आवृत्ति पाद एवं पदों में होती है,

(३) पूर्वानुभवसंस्कार के बोध से युक्त अदूरता होनी चाहिये अर्थात जिस व्यञ्जन का उच्चारण किया गया उसके संस्कार के मिटने के पूर्व ही तत्सदृश वर्ण का उच्चारण कर दिया जाये। जिस अनुप्रास में सदृश श्रुति समीपवर्ती हो उसे ही कवि लोग स्पृहणीय मानते हैं।[2]

वामन ने एकार्थ अथवा अनेकार्थ स्थानानियत पद की अन्य प्रयुक्त पद के साथ तुल्यरूपता को अनुप्रास माना है 'शेषः सरूपोऽनुप्रासः'[3]—इसके दो भेद हैं वर्णानुप्रास तथा पादानुप्रास। अनुल्वण वर्णानुप्रास को इन्होंने श्रेय माना है।

उद्भट ने छेकानुप्रास, अनुप्रास तथा लाटानुप्रास रूप तीन अलग-अलग अनुप्रासों की चर्चा की है। इसमें अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास) 'सरूप व्यञ्जनन्यास' का स्वरूप देकर इसके लक्षण को इन्होंने अधिक पुष्ट बना दिया है।[4] अनुप्रास में इन्होंने परुषा, उपनागरिका एवं ग्राम्या रूप तीन वृत्तियों का समावेश कर दिया है। मम्मट ने उद्भट के इस विवेचन को इसी रूप में स्वीकार कर लिया है। उद्भट ने छेकानुप्रास एवं लाटानुप्रास को स्वतन्त्र अलंकार माना है।

रुद्रट के अनुप्रास लक्षण पर उद्भट का प्रभाव दृष्टिगत होता है। एक व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति अनुप्रास है, इस आवृत्ति के मध्य में एक, दो या तीन व्यञ्जनों का व्यवधान रहता है तथा स्वर की चिन्ता नहीं रहती है।[5] इस अनुप्रास की इन्होंने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ मानी हैं। किन्तु परवर्ती काल में उद्भट सम्मत वृत्तियाँ ही मान्य हुईं।

२. यमक—शब्दालंकारों में प्रथम निरूपित अलंकार यमक है। भरतमुनि ने

---

१. काव्यादर्श, १·५५.

२. इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरांतरश्रुतिम् ॥ १·५८.

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४·१·८,

४. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ. २६०

५. काव्यालंकार, २.१८.

इसका लक्षण मात्र 'शब्दाभ्यास'[1] को माना है। इसके दस भेद किये हैं—पादांत, कांचीय, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल, संदष्ट, पादादि, आम्रेडित, चतुर्व्यवसित तथा माला।

भामह ने अपने लक्षण में इसमें दो नवीन बातों का समावेश किया है—(१) सुनने में समान (तुल्यश्रुतीनां) वर्णों की आवृत्ति हो तथा (२) भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग हो (अभिधेयैः परस्परं भिन्नानां)। यमक के लिये ओज, प्रसादगुण सम्पन्नता तथा सुखोच्चार्यता आवश्यक है। इन्होंने यमक के पाँच—आदि, मध्यान्त, पादाभ्यास, आवली और समस्तपाद रूप पाँच भेद माने हैं।

दण्डी ने यमक का दो जगह लक्षण किया है। प्रथम परिच्छेद में वे कहते हैं कि स्वरसहित व्यञ्जनों की आवृत्ति यमक है।[2] तृतीय परिच्छेद में वे पुनः कहते हैं कि वर्णसंहति की आवृत्ति व्यवधानरहित हो या व्यधान सहित यमक कहलाती है।[3] यद्यपि दण्डी ने यमक की 'एकान्तमधुरता' का निषेध किया है किन्तु फिर भी उन्होंने यमक के ३१५ भेदों की ओर इंगित किया है। इसके अतिरिक्त और भी भेद हो सकते हैं यह माना है।

वामन के अनुसार स्थान नियम के साथ अनेकार्थक पदों तथा अक्षरों की आवृत्ति यमक है।[4] इनके अनुसार पदों में भंग कर देने पर यमक अधिक उत्कृष्ट हो जाता है। यमक भंग तीन प्रकार का होता है—शृंखला, परिवर्तक तथा चूर्ण।

उद्भट ने यमक अलंकार का वर्णन नहीं किया है। रुद्रट के अनुसार समश्रुति एवं भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति ही यमक है जिसमें वर्णों का क्रम समान होता है।[5] 'समानक्रम' का सन्निवेश कहकर पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों में नवीन मत का प्रतिपादन किया है। रुद्रट ने यमक के अनेकानेक भेदों की चर्चा की है।

३. श्लेष—भामह के अनुसार गुण, क्रिया और नाम से उपमान के साथ उपमेय का तादात्म्य बताया जाये तो उसे श्लिष्ट[6] अलंकार कहते हैं। यह लक्षण रूपक में भी संक्रमित हो सकता है। अतः कहते हैं कि रूपक से भिन्न श्लिष्ट में एक

---

१. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्। नाट्यशास्त्र, १७.६०,
२. आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः। काव्यादर्श, १.६१.
३. काव्यादर्श, ३.१.
४. पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम्। ४.१.१.
५. काव्यालंकार, ३.१.
६. काव्यालंकार, ३.१४.

ही पद उपमानोपमेय की समता प्रतिपादित करता है।[1] सहोक्ति, उपमा और हेतु के निर्देश से श्लिष्ट तीन प्रकार का होता है।

दण्डी का श्लेष लक्षण भामह की अपेक्षा परिष्कृत है। उनके अनुसार अनेकार्थक एक रूपान्वित वचन को श्लेष कहते हैं।[2] मुख्य रूप से श्लेष के दो भेद माने हैं—भिन्न पद तथा अभिन्न पद। इसके अतिरिक्त सात और भेदों की चर्चा इन्होंने की है—अभिन्न क्रियाश्लेष, अविरुद्ध क्रियाश्लेष, विरुद्ध कर्माश्लेष, नियमवान् श्लेष, नियमाक्षेपरूपोक्ति श्लेष, अविरोधी श्लेष तथा विरोधी श्लेष। इनके अनुसार श्लेष प्रायः किसी न किसी अलंकार का अंग बनकर आता है। श्लेष प्रायः उन सभी अलंकारों की श्रीवृद्धि करता है जो वक्रोक्ति के कारण आकर्षक लगते हैं।[3]

वामन के अनुसार तंत्र से प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय के धर्मों में जो तत्त्व का आरोप होता है वह श्लेष है।[4] तन्त्र से तात्पर्य है—'अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तन्त्रम्' एक बार उच्चारण करने पर अनेक अर्थों का बोध होना।

उद्भट के अनुसार उन शब्दों के बंध को श्लिष्ट कहते हैं[5] जो (१) भिन्नार्थक होकर भी एक ही ढंग से उच्चरित होते हों (२) अथवा स्वरित आदि गुणों के भेद वश भिन्न होने पर भी ऐसा लगता हो जैसे एक ही प्रकार के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले ये शब्द उच्चरित होते हों। दो प्रकार के पदों पर आश्रित, अलंकारान्तर्गता प्रतिभा का प्रकाशक यह सौन्दर्य शब्द और अर्थ के कारण दो प्रकार का होता है। इसप्रकार उद्भट ने शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष का भेदक तत्त्व उच्चारण स्थान की भिन्नता को माना है। उद्भट ने पहली बार यह शब्द श्लेष एवं अर्थ श्लेष रूप विभाग प्रस्तुत किया है। उद्भट,दण्डी की इस मान्यता से प्रभावित हैं कि श्लेष अन्य अलंकारों का अंग बनकर आता है। अतः ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में उद्भट का कथन है कि अन्य अलंकारों को छोड़कर वहाँ श्लेष को ही प्रमुखता देनी चाहिये। 'एकप्रयत्नोच्चारणता' की प्रेरणा इन्हें वामन से सम्भवतः मिली है।

मम्मट का शब्दश्लेष लक्षण 'वाच्चभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशाः' उद्भट से प्रभावित है। किन्तु अन्य अलंकारों के सन्दर्भ में श्लेष को ही प्रमुखता देना मम्मट को इष्ट नहीं है। उद्भट को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करके मम्मट ने इस सम्बन्ध में बड़ा विस्तृत विवेचन किया है।

---

१. इष्टः प्रयोगो युगपदुमानोपमेययोः। काव्यालंकार, ३.१५.
२. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः॥ काव्यादर्श, २.३१०.
३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषुश्रियम्॥ वही, २.३६३.
४. स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः॥ ४.३.७.
५. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४.९-१०. (५०-५१)

रुद्रट ने भी शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष रूप दो विभाग माना है। शब्दश्लेष के लक्षण में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित समस्त विशेषताओं का आकलन है।[1] किन्तु शब्दश्लेष के जो वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन रूप आठ भेद किये हैं यह इनकी मौलिक उद्भावना है। जिसको बाद में मम्मट ने इसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

अर्थश्लेष के निरूपण के प्रसंग में रुद्रट ने श्लेषमूलक अलंकारों का एक वर्ग माना है तथा इसमें दस अलंकारों को निरूपित किया है—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास।

४. वक्रोक्ति

यद्यपि भामह ने ही सर्वप्रथम वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया एवं समस्त अलंकारों का प्रसू इसे माना, किन्तु एक स्वतन्त्र अलंकार का स्वरूप इसे वामन ने ही दिया है। 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[2] अर्थात् सादृश्य के कारण की गयी लक्षणा ही वक्रोक्ति है। इसे इन्होंने अर्थालंकार के अन्तर्गत परिगणित किया है, जो कि लक्षणा पर आधारित है।

रुद्रट ने इसे शब्दालङ्कार के अन्तर्गत परिगणित किया है तथा इसके श्लेष एवं काकु रूप दो भेद माने हैं जो परवर्ती काल में भी इसी रूप में प्रचलित रहे।[3]

५. पुनरुक्तवदाभास

इसका सर्वप्रथम विवेचन उद्भट ने किया है। यह उद्भट के प्रथम वर्ग का प्रथम अलङ्कार है। आकार की दृष्टि से जहाँ भिन्न रूप वाले पद एकार्थक से जान पड़ें वहाँ पुनरुक्ताभास नामक अलङ्कार होता है।[4] मम्मट ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया है तथा इसके सभंग एवं अभंग रूप दो भेद माने हैं।

अर्थालंकार[5]

---

१. वक्तुं सुमर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेषः॥ ४.१.

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४.३.८.

३. काव्यालङ्कार, २·१४ और १६.

४. पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासे भिन्नरूपपदम्॥ पृ० २५०

५. यहाँ यह अवधारणीय है कि अर्थालंकारों का विवेचन हमने क्रमौचित्य को ध्यान में रखकर नहीं किया है अपितु क्रमिक विकास के अनुरूप किया है अर्थात् सर्वप्रथम भरत निरूपित अलंकारों को लिया है फिर भामह द्वारा उद्भावित अलंकार, फिर दण्डी द्वारा उद्भावित उन अलंकारों को जिनका विवेचन

१. उपमा

भरतमुनि ने चार अलङ्कारों का निरूपण किया है जिसमें प्रथम निरूपित अलङ्कार उपमा है। इनके अनुसार गुण एवं आकृति के आधार पर दो पदार्थों में सादृश्य निबन्धन उपमा है।[१] इस प्रकार इन्होंने 'सादृश्यमूलकता' तथा इस सादृश्य मूलकता का आधार 'गुणाकृतिसमाश्रय' इन दो तत्त्वों पर विशेष बल दिया है। उपमा के चार रूप हो सकते हैं—एक की एक के साथ, एक की अनेक के साथ, अनेक की एक के साथ, अनेक की अनेक के साथ। इन्होंने उपमा के पाँच भेद माने हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित्सदृशी।

भामह के अनुसार विरुद्ध उपमान के साथ देश, काल एवं क्रियादि के द्वारा उपमेय का साम्य यदि गुणलेश से हो तो उपमा अलंकार होगा।[२] इस प्रकार भामह ने उपमेय एवं उपमान शब्दों का स्पष्ट प्रयोग किया है तथा उपमा के चमत्कार के लिये भिन्न कोटिक उपमान की अवस्थिति को स्वीकार किया है। उपमा में सर्वात्मना साम्य नहीं होता अपितु 'गुणलेश' साम्य होने पर भी उपमा स्वीकार कर ली जाती है। भामह ने उपमा के तीन प्रकारों का निर्देश किया है—

(१) यथा, इव आदि सादृश्यं वाचक शब्दों पर आश्रित उपमा
(२) समास पर आधृत समासगा उपमा
(३) वति प्रत्यय के द्वारा क्रिया साम्य को निर्दिष्ट करने वाली उपमा।

इन्होंने निन्दा, प्रशंसा एवं आचिख्यासा आदि भेदों का अन्तर्भाव सामान्य गुणों के निर्देश में कर लिया है एवं मालोपमा आदि भेदों को व्यर्थ का विस्तार माना है।

दण्डी के अनुसार यथाकथञ्चित् उद्भूत सादृश्य को उपमा कहते हैं।[३] दण्डी ने उपमामूलक वाचक पदों का विस्तार से विवेचन किया है।[४] दण्डी ने उपमा के ३२ भेद माने है। वामन का लक्षण भामह से प्रभावित है।[५] इनके अनुसार उपमेय न्यून गुण वाला तथा उपमान अधिक गुण वाला होना चाहिये। उपमेय एवं उपमान

भामह में नहीं है। इसी क्रम से रुद्रट तक वर्णित अलंकारों का वर्णन किया गया है।

१. नाट्यशास्त्र, १७·४४.
२. काव्यालंकर, २·३०.
३. काव्यादर्श, २·१४.
४. इववद्वायथा शब्दाः समाननिभसन्निभाः।
तुल्यशंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥ वही, २·५७.
५. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ॥ ४·२·१.

दोनों का ही लोकप्रसिद्ध होना आवश्यक है। अन्यथा उपमा उपपन्न ही नहीं हो सकेगी। इन्होंने उपमा को अत्यधिक महत्त्व देते हुये उसे समस्त अलंकारों के मूल में स्वीकार किया है। उपमा के प्रयोग क्षेत्र का निरूपण करते हुये इन्होंने कहा है कि यह स्तुति, निन्दा या तत्त्व कथन में प्रयुक्त होती है। इन्होंने वैसे समस्त अलंकारों को ही उपमा का प्रपंच माना है किन्तु उपमालंकार के प्रसंग में उपमा के छः भेद निर्दिष्ट किये हैं। एक दृष्टि से उपमा के दो भेद माने हैं—लौकिकी और कल्पिता। पुनः प्रकारान्त से पदार्थवृत्ति एवं वाक्यार्थवृत्ति रूप दो भेद तथा पुनः पूर्णा और लुप्ता की दृष्टि से दो भेद।

उद्भट का लक्षण भामह से प्रभावित है। इनके अनुसार उपमेय एवं उपमान में आकर्षक साम्य होता है, जिसके देश, काल, गुण एवं क्रिया आदि भिन्न होते हैं तथा जिसकी अभिव्यक्ति उपमा वाचक पदों द्वारा होती है।[1] चमत्काराधायकत्व के लिये इन्होंने 'चेतोहारि' विशेषण का प्रयोग किया है। इन्होंने उपमा के पूर्णा एवं लुप्ता दो प्रमुख भेद माने हैं तथा पूर्णा के ५ एवं लुप्ता के १२ भेदों का निरूपण किया है।

रुद्रट के अनुसार उपमान एवं उपमेय में एक स्वीकृत समान गुण के कारण समता स्थापन ही उपमा है।[2] इनका लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित है। इन्होंने गुण साम्य पर बल दिया है। उपमा के वाक्योपमा, समासोपमा तथा प्रत्ययोपमा रूप तीन प्रमुख भेद एवं वाक्योपमा के छः अवान्तर भेद माने हैं।

२. रूपक

भरतमुनि के अनुसार अनेक द्रव्यों के सम्बन्ध में उपमा के गुणों का आश्रय लेकर जिसके स्वरूप का सम्यक् वर्णन हो उसे 'रूपक' कहते हैं।[3] रूपक औपम्य पर आश्रित है। रूपक में आकृति सादृश्य न होते हुये भी प्रस्तुत–अप्रस्तुत में रूपाभेद (रूपनिर्वर्णना) कल्पित रहती है।

भामह के अनुसार गुण साम्य के आधार पर उपमेय में उपमान का आरोप रूपक है।[4] इस प्रकार भामह ने गुण-साम्य और उपमेय एवं उपमान के अभेदत्व पर बल दिया है। भामह ने समस्तवस्तुविषय एवं एकदेशविवर्ति रूप दो भेद माने हैं।

दण्डी के अनुसार उपमा में ही भेद के लुप्त हो जाने पर रूपक होता है।[5] इस

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, १·१५.
२. काव्यालंकार, ८·४.
३. नाट्यशास्त्र, १७·५८.
४. काव्यालंकार, २·२१.
५. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। २·६६.

प्रकार दण्डी ने अभेद प्रतिपादन पर बल दिया है एवं रूपक को उपमा मूलक अलंकार स्वीकार किया है। इसके इन्होंने २१ भेद माने हैं।

वामन का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रभावित है।[1] इन्होंने गुणसाम्य एवं अभेदत्व पर बल दिया है।

उद्भट के अनुसार अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थों का सम्बन्ध न बन सकने के कारण गुणवृत्ति या लक्षणा के द्वारा एक पद का अन्य पद के साथ योग ही रूपक है।[2] उद्भट का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है। इन्होंने अभिधा के अतिरिक्त लक्षणाशक्ति को रूपकार्थ बोध के लिये स्वीकार किया है, यद्यपि यह लक्षण परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ। इसके दो भेद माने हैं समस्तवस्तुविषय एवं एकदेशविवर्ति। इसमें समस्तवस्तुविषय को ही ये मालारूपक भी मानते हैं।

रुद्रट का लक्षण भामहादि से प्रभावित है। इनके अनुसार सामान्य धर्म के कथन के बिना ही जहाँ गुण साम्य के आधार पर उपमानोपमेय का अभेद कल्पित किया जाये वहाँ रूपक होता है[3]। इन्होंने सर्वप्रथम रूपक के समासोक्त रूप एक भेद का निर्देश किया है। पुनः इसके तीन भेद माने हैं—सावयव, निरवयव एवं संकीर्ण। सावयव रूपक अवयवों के सहज, आहार्य और उभयकोटिक होने से तीन प्रकार का होता है। निरवयव रूपक–शुद्ध, माला, रशना और परम्परित के भेद से चार प्रकार का होता है। ये समस्त भेद समस्तविषयरूपक के हैं। इसके अतिरिक्त एकदेशि रूपक भी होता है।

३. दीपक

भरत के अनुसार नानाधिकरणों में स्थित शब्दों का एक वाक्य में संयोग होना दीपक है।[4] भरत ने दीपक के भेदों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनका उदाहरण बड़ा ही स्पष्ट है। जिसमें इन्होंने एक क्रिया द्वारा नानाधिकरणों के अर्थों का द्योतन करने वाले शब्दों का एकत्र संयोग लक्षित किया है। इसे ही मम्मट ने बाद में कारक दीपक का उदाहरण माना है।

भामह[5] ने दीपक का लक्षण न देकर मात्र उसके भेदों का ही निर्देश किया है। ये भेद अर्थ को प्रकाशित करते हुये दीपक नाम को सार्थक करते हैं। पद्य के आदि,

---

१. उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् ॥ ४.३.६.
२. काव्यालंकारसारसंग्रह, १.११.
३. काव्यालंकार, ८.३८.
४. नाट्यशास्त्र, १७.५६.
५. काव्यालंकार, २.२५ और २६.

मध्य एवं अन्त में एक क्रिया का अन्वय कर देने पर क्रमशः आदि, मध्य एवं अन्त—ये दीपक के तीन भेद होते हैं।

दण्डी के अनुसार एकत्र (अर्थात् श्लोक के किसी एक वाक्य में आदि, मध्य या अन्त में) स्थित जाति, क्रिया एवं गुण तथा द्रव्यवाची पदों का सम्पूर्ण वाक्य का उपकार करना दीपक अलंकार कहलाता है।[1] जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्यवाचक पदों की स्थिति के आधार पर दीपक के १२ भेद होते हैं। इसके अतिरिक्त माला दीपक, विरुद्धार्थ, एकार्थ एवं श्लिष्टार्थ के भेद से चार भेद और होते हैं।

वामन का लक्षण अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत है। उनके अनुसार उपमेय और उपमान वाक्यों में एक क्रिया के साथ सम्बन्ध दिखाने पर दीपकालंकार होता है।[2] वामन ने इसे औपम्यमूलक अलंकार माना है। उसके आदि, मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार होते हैं।

उद्भट के अनुसार दीपक की स्थिति वहाँ होती है जहाँ उपमानोपमेय भाव शब्दतः न कहे गये हों अपितु आर्थ हों, उपमेय एवं उपमान के साथ सम्बन्ध रखने से जो प्रधान अथवा अप्रधान भाव का भी संवहन करता हो तथा कभी आदि, मध्य एवं कभी अन्त में स्थित हो।[3] यह ध्यातव्य है कि दीपक में धर्मों का उपादान एक ही वार होता है। इसप्रकार उद्भट का लक्षण भामह एवं वामन से प्रभावित है।

रुद्रट के अनुसार अनेक वाक्यार्थों का एक क्रियापद अथवा कारकपद दीपक है।[4] यह वास्तववर्ग का अलंकार है। इसके मुख्यतः दो भेद हैं—क्रियादीपक एवं कारक-दीपक। प्रत्येक के पुनः आदि, मध्य एवं अन्तगत तीन उपभेद हैं।

४. आक्षेप

सर्वप्रथम भामह ने ही आक्षेपालंकार का वर्णन किया है। भामह के अनुसार किसी कथन में विशिष्टता लाने के लिये इष्ट अर्थ का प्रतिषेध जैसा वर्णन आक्षेप है। इसके दो भेद हैं—वक्ष्यमाण तथा उक्तविषय। इन्हीं दो भेदों को वाद में चल-कर मम्मट ने स्वीकार किया है।[5]

दण्डी के अनुसार प्रतिषेध कथन को आक्षेप कहते हैं। तीनों कालों से सम्बन्धित अर्थ की अपेक्षा से यह तीन प्रकार का होता है—वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप एवं

---

१. काव्यादर्श, २.९७.
२. उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ॥ ४.३.१८.
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, १.१४.
४. काव्यालंकार, ७.६४.
५. काव्यालंकार, २.६८.

भविष्याक्षेप। आक्षेप योग्य अर्थ के भेदों की अनन्तता के कारण इसके अनन्त भेद सम्भव हैं।[१] उक्त तीन भेदों के अतिरिक्त दण्डी ने २१ अन्य उपभेदों को निर्दिष्ट किया है।

वामन ने उपमान के आक्षेप को आक्षेपालंकार माना है।[२] इसके दो रूप हैं तुल्यकार्यार्थ की निरर्थकता का कथन तथा उपमान का आक्षेप के द्वारा ज्ञान। किन्तु यह लक्षण परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ। भामह सम्मत लक्षण ही सबने स्वीकार किया।

उद्भट ने भामह के लक्षण को ही स्वीकार कर लिया है। तथा उन्हीं दो भेदों को भी माना है।[३]

रुद्रट के अनुसार वक्ता लोकप्रसिद्ध अथवा विरुद्ध वस्तु का कथन कर उसका आक्षेप करते हुये उसकी पुष्टि या समर्थन के लिये अन्य वस्तु का कथन करे तो वहाँ आक्षेपालंकार होता है।[४] रुद्रट ने आक्षेप को औपम्यमूलक वर्ग में निरूपित किया है।

५. अर्थान्तरन्यास

भामह के अनुसार कथित अर्थ के साथ ही साथ यदि अन्य अर्थ का वर्णन हो एवं वह पूर्व अर्थ से सम्वद्ध रहे तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[५] 'हि' शब्द के प्रयोग से भी हेत्वर्थ सिद्ध हो जाता है और अर्थान्तरन्यास स्पष्ट हो जाता है। भामह ने भेद का निर्देश नहीं किया है केवल दो उदाहरण दिये हैं जिससे दो भेद माने जा सकते हैं। 'हि' के प्रयोग एवं अप्रयोग को भेदक हेतु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

दण्डी के अनुसार प्रस्तुत पदार्थ का उपन्यास करके उसके समर्थन में अन्य वस्तु का न्यास अर्थान्तरन्यास है।[६] इसप्रकार प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत में समर्थ्य–समर्थक भाव का उल्लेख सर्वप्रथम दण्डी ने ही किया है। दण्डी ने इसके आठ भेद माने हैं।

वामन का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित है। उनके अनुसार कथित अर्थ की सिद्धि के लिये अन्य अर्थ के न्यास को अर्थान्तरन्यास कहा जाता है।[७]

---

१. काव्यादर्श, २.१२०.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४.३.२७.
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, २.२–३. (२५-२६)
४. काव्यालंकार, ८.८९.
५. काव्यालंकार, २.७१.
६. काव्यादर्श, २.१६९.
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४.३.२१.

उद्‌भट ने अर्थान्तरन्यास का कोई लक्षण नहीं दिया है[1] केवल उसके चार भेदों का निरूपण किया है जो इसप्रकार हैं—

(१) समर्थक का पहले कथन फिर समर्थ्य का—'हि' शब्द का प्रयोग
(२) समर्थक का पहले कथन फिर समर्थ्य का—'हि' शब्द का अप्रयोग
(३) समर्थ्य का पहले कथन फिर समर्थक का—'हि' शब्द का प्रयोग
(४) समर्थ्य का पहले कथन फिर समर्थक कहा—'हि' शब्द का अप्रयोग

रुद्रट के अनुसार जहाँ सामान्य अथवा विशेष अर्थ वाले धर्मी का कथन करके उसकी पुष्टि के लिये समान धर्म वाले सामान्य अथवा विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाता है—वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है।[2] इसप्रकार सर्वप्रथम रुद्रट ने ही अर्थान्तरन्यास की उपमामूलकता तथा समान्य-विशेष भाव की स्थिति को स्वीकार किया है। इनके उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इन्हें विशेष का सामान्य के साथ तथा सामान्य का विशेष के साथ समर्थन अभीष्ट है। मम्मटादि का अर्थान्तरन्यास लक्षण—सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तिरन्यास: साधर्म्येणेतरेण वा ।।[3]—रुद्रट से प्रभावित है।

५. व्यतिरेक

भामह के अनुसार उपमान की तुलना में उपमेय के उत्कर्ष प्रदर्शन को ही व्यतिरेक माना जाना है। विशेषता के प्रतिपादन के कारण ही इसके व्यतिरेक नाम की सार्थकता है।[4]

दण्डी के अनुसार यदि दो वस्तुओं या उपमान एवं उपमेय का सादृश्य शब्दतः कथित हो या प्रतीत सादृश्य हो तो दोनों में भेद दिखाई पड़ने पर व्यतिरेक अलंकार होगा।[5] इन्होंने व्यतिरेक के आठ भेद माने हैं।

वामन ने निश्चयपूर्वक कहा है कि उपमेय के गुणाधिक्य वर्णन में ही व्यतिरेक अलंकार होता है।[6] इनका लक्षण भामह से प्रभावित है। कालान्तर में मम्मट ने इसी लक्षण को स्वीकार किया है।[7]

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ३१८.
२. काव्यालंकार, ८.७९.
३. मम्मट, काव्यप्रकाश, १०.१०९.
४. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।। २. ७५.
५. काव्यादर्श, २.१८०.
६. उपमेय गुणातिरेकित्वं व्यतिरेक: ।। ४.३.२२.
७. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स: ।। १०.१५८.

उद्भट के अनुसार उपमान एवं उपमेय के वैशिष्टच प्रतिपादन में व्यतिरेकालंकार होता है। इस वैशिष्टच के निमित्त दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों होते हैं अर्थात् कहीं यह निमित्त शब्दोपापत्त भी हो सकता है, कहीं अकथित भी।[1] इन्होंने इसके चार भेद माने हैं—उपात्तनिमित्त, अनुपात्तनिमित्त, वैधर्म्येण दृष्टान्त, श्लिष्टोक्ति योग्य।

रुद्रट के अनुसार जो गुण उपमेय में हो उसका विरोधी दोष उपमान में वर्णित करना व्यतिरेक है।[2] इसके तीन भेद हैं—(१) उपमेय में गुण परन्तु उपमान में दोष नहीं (२) उपमान में दोष परन्तु उपमेय में गुण नहीं (३) उपमेय में गुण परन्तु उपमान में दोष।

७. विभावना

भामह के अनुसार क्रिया के प्रतिषेध में भी फल का वर्णन विभावना है, परन्तु इस विचित्र कार्य का समाधान सुलभ होना चाहिये।[3] समाधान मिलने पर ही विभावनालंकार होगा।

दण्डी के अनुसार जहाँ किसी कार्य के लोकप्रसिद्ध कारण (हेतु) का अभाव दिखाकर—किसी अन्य कारण की विशेष कल्पना की जाये अथवा उस कार्य की स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाये वहाँ विभावनालंकार होता है।[4] दण्डी ने स्वाभाविक एवं कारणान्तर के भेद से दो भेद माने हैं।

वामन के अनुसार क्रिया का निषेध होने पर उसी क्रिया के प्रसिद्ध फल का वर्णन विभावना है।[5] वामन का लक्षण भामह से प्रभावित है।

उद्भट का लक्षण स्पष्टतः भामह के लक्षण से प्रभावित कहना तो दूर शब्दशः वही लक्षण है।[6]

रुद्रट ने विभावना के तीन भेदों का उल्लेख किया है। (१) लोक में विवक्षित अर्थ जिस कारण से घटित होता है उस कारण के बिना भी घटित हो जाये वहाँ विभावना होती है।[7] (२) किसी वस्तु का विकार कारण के बिना प्रकट हो।[8]

---

१. विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः। २.६. (२९)

२. काव्यालंकार, ७.८६.

३. काव्यालंकार, २.७७.

४. काव्यादर्श २.१९९.

५. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना ॥ ४.३.१३.

६. काव्यालंकारसारसंग्रह, २.९. (३२)

७. रुद्रट, काव्यालंकार, ९.१६.

८. वही, ९.१८.

(३) जिस अर्थ का जैसा धर्म लोक में प्रसिद्ध है वैसा ही धर्म किसी अन्य अर्थ का वर्णित करना।[१] यथा विना मदिरा के ही मद का हेतु लक्ष्मी होती है।

८. समासोक्ति

भामह के अनुसार एक वस्तु के कथन से उसके समान विशेषताओं से युक्त कोई अन्य अर्थगम्य हो तो वहाँ संक्षिप्तार्थता के कारण समासोक्ति कहलाती है।[२]

दण्डी का लक्षण भामह से प्रभावित है। दण्डी के अनुसार एक वस्तु के कथन के द्वारा तत्तुल्य अन्य वस्तु की प्रतीति समासोक्ति अलंकार है।[3] दण्डी ने उसके दो भेदों की चर्चा की है।

वामन के अनुसार उपमेय के न रहने पर भी उपमान के वर्णन को समासोक्ति कहते हैं।[४] संक्षिप्त वचन के कारण यह समासोक्ति कहलाती है। किन्तु यह लक्षण परवर्तीकाल में मान्य नहीं हुआ।

उद्भट के अनुसार प्रकृतार्थ का वर्णन करने वाले वाक्य में तत्समान विशेषणों द्वारा यदि अप्रस्तुतार्थ का कथन हो तो समासोक्ति अलंकार होता है। उद्भट के इस लक्षण की स्पष्ट छाया परवर्ती काल में दृष्टिगत होती है। इन्होंने पहली बार यह स्पष्टरूपेण निर्दिष्ट किया कि समासोक्ति में प्रकृतार्थ वर्णित होना चाहिये तथा विशेषण के महात्म्य से अप्रस्तुतार्थ गम्य।[५]

रुद्रट का लक्षण पूर्वाचार्यों से प्रभावित है। उनके अनुसार उपमेय का उपमान से घटित होने वाले विशेषणों से कथित होने पर जहाँ उपमान की प्रतीति हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।[६]

९. अतिशयोक्ति

भामह के अनुसार जब कोई कथन किसी निमित्तवश लोकातिक्रान्तगोचर वर्णित किया जाता है तो वह अतिशयोक्ति अलंकार कहलाता है।[७] भामह ने अतिशयोक्ति

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार, ९.२०.
२. यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः। २.७९.
३. काव्यादर्श, २.२०५.
४. अनुक्तौ समासोक्तिः। ४.३.३.
५. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥ २.१०.(३३)
६. काव्यालंकार, ८.६७.
७. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्॥ २.८१.

को वक्रोक्ति का पर्याय मानकर इसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत स्थापित किया है। अतिशयोक्ति के लक्षण के अनन्तर वे कहते हैं—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥[1]

इससे स्पष्ट है कि वे काव्य में इसके सर्वाधिक महत्त्व को असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हैं। काव्य का काव्यत्व वक्रोक्ति से अनुभावित है।

दण्डी ने प्रस्तुतविषय के लोकातिक्रान्त रूप में वर्णन को अतिशयोक्ति स्वीकार किया है तथा इसे उत्तम अलंकार माना है।[2] इन्होंने अतिशयोक्ति के तीन उदाहरण देकर संशय, निर्णय एवं आधिक्यातिशयोक्ति नामक तीन भेदों की कल्पना की है।

वामन के अनुसार सम्भाव्य धर्म एवं उसका उत्कर्ष वर्णन अतिशयोक्ति है।[3]

उद्भट का अतिशयोक्ति लक्षण हूबहू भामह का लक्षण है किन्तु इससे भेद विस्तार में मौलिकता है।[4] उद्भट ने इसके चार भेद किये हैं—भेद में अभेद, अभेद में नानात्व, सम्भाव्यमानार्थ निबन्धन तथा कार्यकारण पौर्वापर्य विपर्यय। उद्भट के इन भेदों की झलक आगे चलकर मम्मट में देखी जा सकती है।

रुद्रट ने अतिशयोक्ति को एक पृथक् अलंकार न मानकर अलंकारों का एक वर्ग माना है जिसके अन्तर्गत १२ अलंकार परिगणित किये हैं।

१०. हेतु

भामह ने अतिशयोक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करने के उपरान्त हेतु, सूक्ष्म, लेश के अनलंकारत्व को—वक्रोक्ति हीन होने के कारण—सिद्ध किया है। हेतु के उदाहरण को इन्होंने 'वार्त्ता' नाम से अभिहित किया है।[5]

दण्डी ने इन तीनों को सिर्फ अलंकार ही नहीं स्वीकार किया है अपितु इन्हें 'वाचामुत्तमभूषणम्' के महत्त्व से भी मण्डित किया है।[6] हेतु के मुख्य दो भेद हैं—कारक हेतु एवं ज्ञापक हेतु। कारक हेतु के भी दो भेद हैं—क्रियार्थ सम्पादक एवं कर्मार्थ सम्पादक। इसमें भी कर्मार्थ सम्पादक के तीन भेद हैं—निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य। ज्ञापक हेतु के मुख्य रूप से दो भेद हैं—भाव हेतु एवं अभाव हेतु। अभाव

---

१. काव्यालंकार, २·८५.
२. काव्यादर्श, २·२१४.
३. सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः ॥ ४.३.१०.
४. काव्यालंकारसारसंग्रह, २.११–१३. (३४–३६)
५. काव्यालंकार, २·८६,
६. हेतुश्च सूक्ष्मलेशो च वाचामुत्तमभूषणम् ॥ २·२३५.

हेतु के चार उपभेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इसके अतिरिक्त दूर कार्य, सहज कार्यान्तरण, अयुक्त कार्य, युक्त कार्य आदि का वर्णन किया है। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भामह ने जिसकी अनलंकारता सिद्ध की थी उसे दण्डी ने न केवल अलंकार ही स्वीकार किया अपितु उसके भेदोपभेदों की भी विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की।

वामन एवं उद्भट में इसका वर्णन नहीं मिलता। रुद्रट के अनुसार जहाँ कार्य के साथ कारण का कथन अभेद रूप से उपन्यस्त होता है वहाँ अन्य अलंकारों से विलक्षण हेतु नामक अलंकार होता है।[1] रुद्रट ने इसे वास्तव वर्ग में परिगणित किया है।

परवर्ती काल में विश्वनाथ एवं अप्पय दीक्षित आदि ने हेतु को अलंकार रूप में स्वीकार किया है।

११. सूक्ष्म

भामह ने सूक्ष्मालंकार का खण्डन किया है किन्तु दण्डी ने इसे स्वीकार किया है। दण्डी के अनुसार इंगित और आकार से लक्ष्य अर्थ का वर्णन सूक्ष्म अलंकार है। इंगित तथा आकार के भेद से इसके दो भेद हैं।

वामन एवं उद्भट में इसकी चर्चा नहीं प्राप्त होती है। रुद्रट के अनुसार जहाँ शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध अयुक्त, किन्तु उपपत्तियुक्त अन्य अर्थ की प्रतीति करता हैं वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।[2]

परवर्ती काल में मम्मट, रूय्यक, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार रूप में स्वीकार किया है।

१२. लेश

भामह ने इसे भी अलंकार नहीं स्वीकार किया है। दण्डी के अनुसार लेशतः प्रकटीभूत वस्तु का निगूहन लेश अलंकार कहलाता है।[3] इसके दो उदाहरण दिये हैं—

(१) अनिष्ट की आशंका से निगूहन,

(२) लज्जा से निगूहन।

रुद्रट के अनुसार जहाँ गुण के दोष हो जाने अथवा दोष के गुण हो जाने का

---

१. काव्यालंकार, ७·८२.

२. वही, ७·९८.

३. लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ २·२६५.

कथन होता है वहाँ उसप्रकार के कर्म का निमित्त लेश अलंकार होता है।[1] इसके दो भेद होते हैं—(१) गुण का दोष हो जाना तथा (२) दोष का गुण हो जाना।

१३. यथासंख्य

भामह के अनुसार विभिन्न धर्म वाले पूर्व निर्दिष्ट अनेक पदार्थों का उसी क्रम से निर्देश करना यथासंख्य अलंकार है।[2]

दण्डी के अनुसार प्रथमोदिष्ट पदार्थों का उसी क्रम से अनुद्देश्य ही क्रमालंकार है। इसे ही यथासंख्य या संख्यान आदि नामों से जाना जाता है।[3]

वामन ने पूर्वोद्दिष्ट उपमेयों एवं बाद में कहे गये उपमानों के क्रम सम्बन्ध को क्रमालंकार माना है।[4] इस प्रकार वामन उपमान एवं उपमेय के क्रमिक वर्णन में क्रमालंकार स्वीकार करते हैं।

उद्भट ने भामह के लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है। रुद्रट के अनुसार जिसमें अनेक अर्थों का जिस क्रम से निर्देश किया गया पुनः उसी क्रम से वे अर्थ निर्दिष्ट किये जायें तो वहाँ यथासंख्य अलंकार होगा।[5] 'यथासंख्य' अनेक निर्दिष्ट अर्थों में दो या तीन विशेषण रखने पर अधिक वैज्ञानिक है एवं इनके लक्षण की छाया परवर्ती काल में देखी जा सकती है।

१४. उत्प्रेक्षा

भामह के अनुसार उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ सादृश्य विवक्षित न हो किन्तु उपमा का कुछ पुट हो, उपमेय में वैसे गुण या क्रिया का योग बताया जाये जो वस्तुतः उसमें न हों तथा जो अतिशय से अन्वित हों।[6]

दण्डी के अनुसार चेतन अथवा जड़ की अन्यथा स्थित वृत्ति को जहाँ दूसरे रूप में सम्भावित किया जाता है वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। दण्डी ने उत्प्रेक्षा व्यञ्जक शब्दों की सूची देकर अपेक्षाकृत परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है।

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥[7]

---

१. काव्यालंकार, ७.१००
२. काव्यालंकार, २.८९,
३. काव्यादर्श, २.२७३.
४. उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ॥४.३.१७.
५. काव्यालंकार, ७.३४.
६. काव्यालंकार, २.९१.
७. काव्यादर्श, २.२३४.

इन्होंने चेतनगता एवं अचेतनगता के भेद से उत्प्रेक्षा के दो भेद माने हैं।

वामन के अनुसार जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका अतिशय द्योतन के निमित्त अन्यथा अध्यवसाय उत्प्रेक्षा है।[1] उत्प्रेक्षा में चूँकि अतद्रूप में अध्यवसान होता है, अतः भ्रान्तिमान् से पृथक् सिद्ध करने के लिये वक्ता को वर्ण्यवस्तु के यथार्थ रूप को जानकर भी अतिशय द्योतित करने के लिये अतद्रूप में उसकी संभावना करनी होती है।

उद्भट के अनुसार जब प्रकृत एवं अप्रकृत में साम्य रूप प्रदर्शित करना विवक्षित न हो, किन्तु अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से अप्रकृत के गुण एवं क्रिया का विधान प्रकृत में किया गया हो तो वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है।[2] उत्प्रेक्षा इवादि शब्दों के द्वारा बोध्य होती है। उद्भट ने सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा के सन्दर्भ में 'संभावना' शब्द का प्रयोग किया है। इनके अनुसार यह उत्प्रेक्षा एक प्रकार की संभावना है, जो वस्तु जिस रूप में विश्व में संभव नहीं—उसका उस रूप में वर्णन होता है। इसप्रकार उत्प्रेक्षा के दो भेद हैं—(१) विश्व में उस वर्ण्य विषय का सद्भाव (२) वर्ण्यविषय का अभाव।

रुद्रट ने उत्प्रेक्षा का निरूपण दो जगह किया है। आठवें अध्याय में औपम्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत तथा नवें अध्याय में अतिशयमूलक अलंकारों के अन्तर्गत। औपम्यमूलक उत्प्रेक्षा के भी तीन भेद हैं।[3]

१. अत्यधिक सारूप्य के कारण अभेद की कल्पना करके उपमान के जो गुण आदि नहीं हो सकते उनका भी उस उपमान में आरोप करना।

२. द्वितीय प्रकार की उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उपमानगत अन्य उपमान के सादृश्य पर उपमेयगत अन्य उपमेय की सम्भावना की जाती है।

३. तृतीय प्रकार की उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ विशेषण विशिष्ट वस्तु में आपत्ति-पूर्वक सम्भावना करके अविद्यमान भी अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है।

अतिशयमूलक उत्प्रेक्षा के भी तीन भेद हैं[4]—

१. अतिशय के कारण असंभाव्य क्रियादि की सम्भावना

२. असम्भाव्य क्रियादि की विद्यमानता का वर्णन

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४.३.९.

२. काव्यालंकारसारसंग्रह, ३.३. (३९)

३. काव्यालंकार, ८.३२,३४,३६.

४. वही, ९.११.

३. जो वस्तु अन्य प्रकार से जो रूप प्राप्त करती है उससे भिन्न प्रकार के हेतु का आरोप।[1]

किन्तु रुद्रट का यह विस्तृत वर्णन परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ। मम्मटादि ने उत्प्रेक्षा का मूल सम्भावना में देखा है जो कि उद्भट के मत से प्रभावित प्रतीत होता है।

१५. स्वभावोक्ति

भामह के अनुसार अर्थ का उसी अवस्था में वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।[2]

दण्डी के अनुसार विभिन्न स्थितियों में स्थित पदार्थों के रूप को साक्षात् रूप से दिखलाने वाले अलंकार को स्वभावोक्ति या जाति कहते हैं।[3] दण्डी के नानावस्थाओं से अभिप्राय जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्यगत अवस्थाओं से है। इन्हीं के आधार पर दण्डी ने स्वभावोक्ति के चार भेद भी माने हैं। दण्डी ने स्वभावोक्ति के अत्यधिक महत्त्व को इंगित करते हुये यह कहा है कि शास्त्र में इसी का साम्राज्य है तथा काव्य में भी यह ईप्सित है इसप्रकार दण्डी ने वस्तुस्वरूप के वर्णन रूप स्वाभावोक्ति को काव्य में आवश्यक माना है। इन्होंने वाङ्मय का विभाजन स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति रूप दो भेदों में किया है।[4]

वामन में इसका वर्णन नहीं मिलता।

उद्भट के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त मृग एवं बालकों की स्वाभाविक चेष्टाओं का निबन्धन ही स्वाभावोक्ति है।[5]

रुद्रट ने स्वभावोक्ति को वास्तवमूलक अलंकारों के अन्तर्गत परिगणित किया है। इनके अनुसार किसी पदार्थ की क्रिया, रूप अथवा स्थानादि का तद्रूप वर्णन ही जाति है।[6] इस प्रकार रुद्रट ने स्वभावोक्ति को 'जाति' नाम से अभिहित किया है। इनके अनुसार शिशु, मुग्ध युवती, कातर पशु-पक्षी, मद विलसित एवं हीन पात्रों की कालोचित एवं अवस्थोचित चेष्टा एवं क्रिया के वर्णन में यह अधिक रमणीय प्रतीत होती है।

---

१. वही, ९.१४.
२. अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥ २.९३.
३. काव्यादर्श, २.८.
४. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ २.३६३.
५. काव्यालंकारसारसंग्रह, ३.५. (४१)
६. काव्यालंकार, ७.३०.

१५. प्रेयस्

भामह ने प्रेयस् का लक्षण नहीं दिया है केवल उदाहृण दिया है,[१] जिसमें कृष्ण के आगमन पर विदुर के आनन्द का वर्णन है जिससे यह कहा जा सकता है कि प्रेय: प्रीति की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति है।

दण्डी के अनुसार किसी प्रियतर वस्तु का वर्णन प्रेय अलंकार है।[२] इन्होंने प्रेय के दो उदाहरण दिये हैं।

१. श्रोता की प्रीति का तथा
२. वक्ता के प्रीति प्रकाशन का।

वामन में इसका वर्णन नहीं मिलता।

उद्भट के अनुसार रत्यादि स्थायीभाव जहाँ अनुभावों के द्वारा सूचित हों वहाँ प्रेयस्वत् अलंकार होता है।[३]

रुद्रट में इसका वर्णन नहीं मिलता।

१७. रसवद्

भामह के अनुसार शृंगारादि रस जहाँ स्पष्ट रूप से लक्षित हों वहाँ रसवद् अलंकार होता है।[४]

दण्डी ने रसवत् का लक्षण 'रसवद्रसपेशलम्' दिया है, तथा आठों रसों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और अन्त में इन्होंने कहा है कि 'इह त्वष्ट-रसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्'।[५] इससे स्पष्ट है कि दण्डी भी भामह से प्रभावित हैं और इन्हें भी रस का चमत्कारमय वर्णन ही रसवद् अलंकार के रूप में इष्ट है।

वामन में इसका वर्णन नहीं मिलता।

उद्भट का रसवद् अलंकार का लक्षण ठीक भामह का ही है उसमें इन्होंने यत्किंचित् विस्तार किया है। इनके अनुसार रसवद् अलंकार स्पष्ट रूप से शृंगारादि रसों के सद्भाव पर निर्भर है। स्ववाचक शब्द, स्थायी, संचारी, विभाव एवं अनुभाव युक्त काव्य में औपचारिक रूप से रसवत्ता सम्भव है।[६] नाटच में रस ९ होते

---

१. काव्यालंकार, ३.५.
२. प्रेय: प्रियतराख्यानम्। २.२७५.
३. रत्यादिकानां भावानामनुभावादि सूचनैः ॥४.२. (४३)
४. रसवद् दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसं यथा॥ ३.६.
५. काव्यादर्श, २.२९२.
६. रसवद्दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ ४.३. (४४)

हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत् तथा शान्त। इसप्रकार स्पष्ट है कि उद्‌भट ने भी रस को ही रसवत् अलंकार माना है।

रुद्रट में इसकी चर्चा नहीं है। इन्होंने स्पष्ट रूप से रसों का विवेचन किया है।

१८. उर्जस्वि

भामह ने उर्जस्वि का लक्षण नहीं दिया किन्तु उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि दर्पपूर्ण चमत्कारिक अभिव्यक्ति को वे उर्जस्वि अलंकार मानते हैं।[1]

दण्डी ने भी इसका कोई लक्षण नहीं दिया है, केवल उदाहरण दिया है—जिसमें कि गर्व की प्रधान रूप से अभिव्यक्ति हो रही है।[2]

उद्‌भट ने उर्जस्वि का सम्बन्ध रसाभास एवं भावाभास से माना है।[3] उद्‌भट के अनुसार कामक्रोधादि के कारण अनौचित्यप्रवृत्त रसों और भावों का वर्णन उर्जस्वि है।

वामन एवं रुद्रट में इसका वर्णन नहीं है।

१९. पर्यायोक्त

भामह के अनुसार किसी अर्थ का किसी अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त है।[4]

इसी तथ्य को दण्डी ने दूसरे शब्दों में कहा है कि इष्ट अर्थ को साक्षात् न कह-कर उसकी सिद्धि के लिये प्रकारान्तर से कहना पर्यायोक्त है।[5]

वामन एवं रुद्रट में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

उद्‌भट ने भामह के लक्षण को ही यथावत स्वीकार करते हुये उसमें अपने मत का विस्तार किया है। उद्‌भट के अनुसार किसी अर्थ का किसी अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त है[6] जिसकी वाच्य वाचक वृत्तियों से भिन्न अन्य प्रकार से अर्थ की अवगति होती है। इस प्रकार उद्‌भट के इस लक्षण में ध्वनि की झलक मिलती है। इसमें उद्‌भट ने अभिधा व्यापार के अतिरिक्त व्यापार की ओर इंगित किया है।

---

१. काव्यालंकार, ३.७.
२. काव्यादर्श, २.२९३.
३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
   भावानां च रसानां च वंध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ ४.५. (४६)
४. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। ३·८.
५. काव्यादर्श, २·२९५.
६. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·६, (४७)

२०. समाहित

भामह ने समाहित का लक्षण नहीं दिया है किन्तु इनके उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि किसी अर्थ के सम्पादन में आकस्मिक दैवयोग को इन्होंने समाहित नाम से अभिहित किया है।[१]

दण्डी ने भी समाहित का लक्षण नहीं दिया है किन्तु उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि किसी कार्य को आरम्भ करते ही दैववशात् उस कार्य का सम्पादन दूसरे साधन से अनायास ही हो जाना समाहित है।[२]

उद्भट के अनुसार समाहित का सम्बन्ध रस, भाव, रसाभास, भावाभास की शान्ति से है।[३]

वामन एवं रुद्रट में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

२१. उदात्त

भामह ने उदात्त के दो रूपों का वर्णन किया है— १. प्रथम उदात्त में चरित्र की उदात्तता का वर्णन है २. द्वितीय उदात्त में नानारत्नों से युक्त होने का वर्णन है। प्रथम का लक्षण नहीं दिया है किन्तु द्वितीय को लक्षण द्वारा निरूपित किया है।[४]

दण्डी के अनुसार किसी आशय अथवा ऐश्वर्य के अलौकिक गौरवपूर्ण वर्णन को उदात्त अलंकार कहा जाता है।[५]

वामन में इसका वर्णन नहीं है।

उद्भट के अनुसार जहाँ अप्रधान रूप से किसी सम्पत्तिशील वस्तु का वर्णन किया गया हो या किसी महात्मा के चरित का उपस्थापन किया गया हो किन्तु वह बड़ा वर्णनात्मक न हो वहाँ उदात्त अलंकार होता है।[६]

मम्मट का 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्'[७] उद्भट के लक्षण से प्रभावित है।

रुद्रट में इसका वर्णन नहीं है।

---

१. काव्यालंकार, ३·१०.
२. काव्यादर्श, २·२९८.
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·७ (४८)
४. नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते ॥ ३·१२.
५. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ॥ २·३००.
६. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·८, (४९)
७. काव्यप्रकाश, १०·११५, सूत्र १७५–७६

२२. अपह्नुति

भामह के अनुसार इसे अपह्नुति इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें वास्तविक अर्थ को छिपाया जाता है। इसमें कुछ उपमा रहती है।[१] इस प्रकार भामह ने अपह्नुति को औपम्य मूलक अलंकार माना है।

दण्डी के अनुसार प्रकृत के वास्तविक रूप को छिपाकर उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तुरूप को दिखाना अपह्नुति अलंकार है।[२] दण्डी ने अपह्नुति के तीन भेदों का निर्देश किया है—विषयापह्नुति, स्वरूपाह्नुति तथा उपमापह्नुति।

वामन के अनुसार समान वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का निषेध ही अपह्नुति है।[3]

उद्भट का लक्षण भामह से पूर्णतः प्रभावित है। इन्होंने भी भामह के समान अपह्नुति के उपमानोपमेय भाव के आधारत्व का निर्देश किया है।[४] उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अपह्नुति को औपम्यमूलक माना है तथा उपमेय के अपह्नव पर बल दिया है।

रुद्रट के अनुसार अत्यन्त साम्य के कारण उपमेय के होने पर भी उसका निषेध करके उपमान की सत्यता सिद्ध करने में अपह्नुति होती है।[५]

२३. विशेषोक्ति

भामह के अनुसार एक गुण के समाप्त हो जाने पर भी अन्य गुण विद्यमान रहकर और भी अधिक विशेषता का प्रतिपादन करे तो वहाँ विशेषोक्ति होती है।[६] भामह के विशेषोक्ति उदाहरण को मम्मट ने भी अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण माना है—

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥[७]

दण्डी के अनुसार कार्योत्पत्ति रूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए गुण, जाति, क्रिया आदि के अभाव के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।[८] इन्होंने विशेषोक्ति

---

१. काव्यालंकार, ३.२.
२. अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्॥ २·३०४.
३. समेन वस्तुनाऽन्यालापलापोऽपह्नुतिः॥ ४·३·५.
४. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५·३. (५४)
५. काव्यालंकार, ८·५७.
६. काव्यालंकार, ३·२३.
७. वही, ३·२४.
८. काव्यादर्श, २.३२३.

के पाँच भेद माने हैं—गुणवैकल्य, जातिवैकल्य, क्रियावैकल्य, द्रव्य वैकल्य तथा हेतु विशेषोक्ति।

वामन ने विशेषोक्ति को रूपक से अनुप्राणित माना है। उनके अनुसार एक गुण की हानि की कल्पना पर शेष गुणों से साम्य की दृढ़ता का वर्णन विशेषोक्ति है।[1] वामन का यह लक्षण परवर्ती काल में मान्य नहीं हुआ।

उद्भट के अनुसार समस्त कारणों के विद्यमान रहने पर भी विशेषता प्रतिपादन हेतु फल की अनुत्पत्ति का वर्णन विशेषोक्ति है।[2] निमित्त के दर्शन एवं अदर्शन के आधार पर विशेषोक्ति के दो भेद माने हैं। मम्मट ने विशेषोक्ति लक्षण में 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः'[3] उद्भट को ही आधार माना है।

रुद्रट में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

२४. विरोध

भामह के अनुसार विशेषता बतलाने के लिये किसी गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन हो तो उसे विरोध कहते हैं।[4]

दण्डी के अनुसार विशेष दर्शन के निमित्त विरुद्ध पदार्थों का संसर्ग दर्शन विरोध अलंकार है।[5] इन्होंने क्रियाविरोध, गुणविरोध एवं द्रव्यविरोध रूप तीन भेदों का उल्लेख किया है।

वामन अर्थ के विरोधाभासत्व मात्र को ही विरोध मानते हैं।[6] अर्थात् विरोध न होते हुये भी विरुद्ध अर्थ के सदृश प्रतीत होने को ये विरोध मानते हैं।

उद्भट के अनुसार वैशिट्य प्रतिपादन हेतु जहाँ वर्ण्यवस्तु की क्रिया एवं गुण से विरुद्ध एवं विभिन्न किसी वस्तु का कथन हो—वहाँ विरोध अलंकार कहा गया है।[7]

रुद्रट के अनुसार परस्पर विरुद्ध द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति का एकत्र समकाल में अवस्थान विरोध है। रुद्रट ने द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के सजातीय विरोध से चार भेद एवं विजातीय विरोध के पाँच भेद माने हैं—द्रव्य और गुण में, द्रव्य

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४·३·२३.
२. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५·४. (५५)
३. काव्यप्रकाश, सूत्र १६२.
४ काव्यालंकार, ३.२५.
५. काव्यादर्श, २.३३३.
६. विरुद्धाभासत्वं विरोधः ॥ ४.३.१२.
७. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.६.६(५७)

और क्रिया में, गुण और क्रिया में, गुण और जाति में, क्रिया और जाति में।[1]

२५. तुल्ययोगिता

भामह के अनुसार न्यून का विशिष्ट के साथ गुण साम्य वताने की इच्छा से तुल्य कार्य एवं क्रिया का योग प्रतिपादन तुल्ययोगितालंकार होता है।[2]

दण्डी के अनुसार स्तुति अथवा निन्दा के निमित्त प्रस्तुत के गुणों का उत्कृष्ट गुणों के साथ समता स्थापित करना तुल्ययोगिता अलंकार है।[3] इसप्रकार दण्डी ने स्तुति एवं निन्दा के भेद से इसके दो भेद माने हैं।

वामन के अनुसार विशिष्ट गुण वाले उपमान के साथ न्यूनगुण वाले उपमेय की समता दर्शित करने हेतु दोनों में एक काल में होने वाली क्रिया के साथ योग दिखाने के वर्णन में तुल्ययोगिता अलंकार होता है।[4]

उद्भट के अनुसार उपमेय एवं उपमान की उक्ति से रहित प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साम्याभिधायी वचन तुल्ययोगिता है।[5] मम्मट के 'नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता'[6] लक्षण पर उद्भट का स्पष्ट प्रभाव है।

२६. अप्रस्तुतप्रशंसा

भामह के अनुसार किसी वस्तु के सन्दर्भ में प्रसंग से अलग वस्तु की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है।[7]

दण्डी के अनुसार प्रस्तुत की निन्दा के लिये की गयी अप्रस्तुत की प्रशंसा में अप्रस्तुतप्रशंशालंकार होता है।[8]

वामन के अनुसार उपमेय के किंचित् लिंगमात्र से कथन करने पर समान वस्तु के न्यास को अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं।[9] पुनः वृत्ति में वे कहते हैं कि अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा अप्रस्तुतप्रशंसा है।

---

१. काव्यालंकार, ९.३०.
२. काव्यालंकार, ३.२७.
३. काव्यादर्श, २.३३०.
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४.३.२६.
५. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.७. (५८)
६. काव्यप्रकाश, १०.१०४.
७. काव्यालंकार, ३.२९.
८. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥ २.३४०.
९. किंचिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा। ४.३.४.

उद्भट के अनुसार प्रस्तुतार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनधिकृत अन्य वस्तु का वर्णन जहाँ हो वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालंकार होता है।[१]

२७. व्याजस्तुति

भामह के अनुसार अत्यन्त गुणवान् व्यक्ति की प्रशंसा के बहाने उसकी समता वाले अन्य व्यक्ति की निन्दा करना ही व्याजस्तुति है।[२]

दण्डी के अनुसार निन्दामुखेन ही स्तुति व्याजस्तुति है। इसमें जो दोष प्रतीत होते हैं वस्तुतः वे भी गुण ही होते हैं।[३] इसके अतिरिक्त दण्डी ने शब्दश्लेषमूला एवं अर्थश्लेषमूला रूप दो भेदों का उल्लेख किया है।

वामन के अनुसार अप्रस्तुत विशिष्ट व्यक्ति के कर्म को न करने के कारण प्रस्तुत की निन्दा के वर्णन में व्याजस्तुति अलंकार होता है।[४]

उद्भट के अनुसार शब्दशक्ति के बल से निन्दा के वर्णन में स्तुति का बोध होना ही व्याजस्तुति है।[५]

रुद्रट में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

२८. निदर्शना

भामह के अनुसार यथा, इव, वत् आदि शब्दों के बिना क्रिया द्वारा ही विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन निदर्शनालंकार है।[६]

दण्डी के अनुसार किसी अन्य कार्य में लगे किसी वस्तु द्वारा यदि उस कार्य के समान ही कोई इष्ट अथवा अनिष्ट फल प्रतिपादित किया जाये तो वहाँ निदर्शन नामक अलंकार होता है।[७] इष्ट एवं अनिष्ट फल के दण्डी ने अलग-अलग उदाहरण दिये हैं।

वामन के अनुसार केवल क्रिया के द्वारा अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का ख्यापन निदर्शन है।[८] इन्होंने नाम दण्डी का अपनाया है किन्तु लक्षण पर भामह का प्रभाव है।

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.८. (५९)
२. काव्यालंकार, ३ ३१.
३. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ मता। २.३४३.
४. सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दास्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। ४.३.२४.
५. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.९. (६०)
६. काव्यालंकार, ३.३३.
७. काव्यादर्श, २.३४८.
८. क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्। ४.३.२०.

उद्‌भट के अनुसार दो वस्तुओं में जहाँ असम्भव किंवा सम्भव सम्बन्ध द्वारा उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जाये वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[1] उद्‌भट के 'काव्या-लंकारसारसंग्रह' में 'निदर्शना' 'विदर्शना' लिखा हुआ है—इसका जो भी कारण हो।

रुद्रट में इसका विवेचन नहीं मिलता। परवर्ती आलंकारिकों पर उद्‌भट के लक्षण का प्रभाव है।

२९. उपमारूपक

भामह ने उपमारूपक का वर्णन किया है[2] किन्तु दण्डी ने इसका खण्डन यह कर किया है कि 'उपमारूपकं चापि रूपकेश्वेव दर्शितम्'[3] अर्थात् रूपक के भेदों में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। परवर्ती अन्य आचार्यों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

३०. उपमेयोपमा

भामह के अनुसार जहाँ उपमेय और उपमान पर्याय से उपमान और उपमेय बन जायें वहाँ उपमेयोपमा होती है।[4]

दण्डी ने उपमेयोपमा को अलग अलंकार न मानकर उपमा के भेदों में ही इसका अन्तर्भाव कर दिया है।

वामन ने एक ही अर्थ के क्रमशः उपमेय एवं उपमान रूप में वर्णन करने को उपमेयोपमा माना है।[5] इनका लक्षण भामह से प्रभावित है।

उद्‌भट के अनुसार जहाँ उपमान एवं उपमेय में परस्पर उपमानोपमेयता हो तथा पक्षान्तर की हानि हो अर्थात् किसी तीसरे उपमान का वर्णन न हो वहाँ उपमेयोपमा होती है।[6]

३१. सहोक्ति

भामह के अनुसार जहाँ दो वस्तुओं में रहने वाला एवं एक ही समय में घटित होनेवाली क्रियायें एक ही पद से कथित हों वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।[7]

---

१. अभवन्वस्तुसम्वन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना।। ५.१०. (६१)

२. काव्यालंकार, ३.३५.

३. काव्यादर्श, २.३५८.

४. उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्। ३.३७

५. क्रमेणोपमेयोपमा। ४.३.१५.

६. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.१४. (६५)

७. काव्यालंकार, ३.३९.

दण्डी के अनुसार गुण एवं क्रिया का सहभावेन कथन सहोक्ति है।[1]

वामन[2] एवं उद्भट का लक्षण ठीक भामह के लक्षण का अनुवाद ही है।

रुद्रट ने सहोक्ति अलंकार का वर्णन वास्तवमूलक अलंकारों में एवं औपम्य मूलक दोनों ही वर्गों में किया है। वास्तवमूलक वर्ग में इन्होंने तीन प्रकार की सहोक्ति का निर्देश किया है—

१. एक प्रधान अर्थ जिस गुण से युक्त हो, दूसरे अप्रधान अर्थ को भी उस गुण से युक्त कर दे तो वहाँ दोनों के साथ कथन को सहोक्ति कहते हैं।[3]

२. समानधर्म से युक्त कर्मभूत अर्थ का कर्तृभूत अर्थ के साथ कथन होने पर दूसरे प्रकार की सहोक्ति होती है।[4]

३. परस्पर निरपेक्ष एक ही प्रकार की, एक ही काल में जो दो क्रियायें होती हैं— उनके कथन को भी सहोक्ति कहते हैं।[5]

इसके अतिरिक्त औपम्यवर्ग में भी इन्होंने दो प्रकार की सहोक्ति का निर्देश किया है—

१. रुद्रट के अनुसार इस सहोक्ति में प्रसिद्ध एवं अत्यधिक क्रिया व्यापार वाले उपमान के साथ उपमेय को समान क्रिया व्यापार वाला कहना सहोक्ति है। वास्तव मूलक सहोक्ति में कार्य-कारण भाव होता है तथा औपम्यमूलक सहोक्ति में उपमानोपमेय भाव होता है।[6]

२. इसके द्वितीय भेद का उल्लेख करते हुये वे कहते हैं कि जहाँ एक कर्तृ की क्रिया अनेक कर्मों के आश्रित होती है और एक प्रधान उपमेय कर्म अन्य उपमान कर्म के साथ कहा जाता है वहाँ द्वितीय प्रकार की सहोक्ति होती है।[7] किन्तु परवर्ती काल में रुद्रट का लक्षण मान्य नहीं हुआ।

३२. परिवृत्ति

भामह के अनुसार अन्य पदार्थ का त्याग कर विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति परिवृत्ति

---

१. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्। २.३५१.
२. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः। ४.३.२८.
३. काव्यालंकार, ७.१३.
४. वही, ७.१५.
५. वही, ७.१७.
६. वही, ८.९९.
७. वही, ८. १०१.

है जिसमें अर्थान्तरन्यास का योग रहता है।[1]

दण्डी के अनुसार अर्थों का विनिमय परिवृत्ति है।[2]

वामन के अनुसार समान या असमान वस्तुओं का परिवर्तन परिवृत्ति है।[3]

उद्भट के अनुसार किसी वस्तु का सम, न्यून अथवा अधिक के साथ परिवर्तन परिवृत्ति अलंकार है। यह परिवर्तन अर्थस्वभाव भी होता है तथा अनर्थस्वभाव भी होता है जिसे उद्भट ने उदाहृण द्वारा स्पष्ट किया है कि क्रम विपर्यय से अर्थात् सम-न्यून के साथ परिवर्तन होने पर अनर्थस्वभाव एवं विशिष्ट के साथ परिवर्तन होने पर अर्थस्वभाव होता है।[4] मम्मट का परिवृत्ति अलंकार लक्षण 'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः'[5] उद्भट से प्रभावित है।

रुद्रट ने दो वस्तुओं के एक ही समय त्याग एवं ग्रहण को परिवृत्ति माना है।[6] इनका लक्षण भामह से प्रभावित है।

३३. ससन्देह

भामह के अनुसार उपमेय की स्तुति के निमित्त उपमान के साथ उसके भेद या अभेद का संदेहयुक्त कथन ससंदेह अलंकार कहलाता है।[7]

दण्डी ने ससंदेह नामक किसी स्वतन्त्र अलंकार का विवेचन न कर उपमा के संशयोपमा नामक भेद में इसका अन्तर्भाव कर दिया है।[8]

वामन के अनुसार चमत्काराधान हेतु उपमेय में उपमान के संशय को संदेह कहते हैं।[9]

उद्भट के अनुसार ससंदेह अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमेय की स्तुति के लिये उसे उपमान से कभी तो भिन्न रूप में और कभी अभिन्न रूप में वर्णित किया जाता है। ससंदेह के अन्य भेद संदेह का भी उद्भट ने निरूपण किया है। इनके अनुसार अन्य

---

१. काव्यालंकार, ३.४१

२. अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा स्मृता ॥ २.३५१.

३. समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः ॥ ४.३.१६.

४. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५.१६. (६७)

५. काव्यप्रकाश, १०.११३.

६. काव्यालंकार, ७.७७.

७. काव्यालंकार, ३.४३

८. काव्यादर्श, २.३५८.

९. उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः ॥ ४.३.११.

अलंकार के सौन्दर्योत्पत्ति के निमित्त संदेह के अभाव में भी संदेह का कथन संदेहालंकार है ।[1]

रुद्रट ने संदेह को संशय नाम से अभिहित किया है । इनके अनुसार जहाँ उपमेय एवं उपमान में सादृश्य के कारण अनेक वस्तुओं का संदेह होता है, वहाँ अनिश्चय में पर्यवसान होने से संशय नामक अलंकार होता है ।[2] इन्होंने संशय के निश्चयगर्भ एवं निश्चयान्त रूप दो भेदों का उल्लेख किया है । निश्चयगर्भ के दो भेद हो सकते हैं—

१. उपमेय में असंभव वस्तु की विद्यमानता अथवा संभव वस्तु की अविद्यमानता का वर्णन ।

२. उपमान में असंभव वस्तु की विद्यमानता या संभव वस्तु की अविद्यमानता का वर्णन ।[3]

निश्चयान्तरूप भेद में प्रारम्भ में तो संशय रहता है किन्तु अन्त में निश्चय हो हो जाता है ।

रुद्रट ने एक और संशय का उल्लेख किया है जिसमें सादृश्य के कारण किसी क्रिया का कारक उपमेय है या उपमान यह निश्चित नहीं हो पाता है एवं संशय बना रहता है ।[4]

३४. अनन्वय

भामह के अनुसार असादृश्य की विवक्षा में किसी वस्तु की उसी के साथ उपमेयता एवं उपमानता को बतलाना अनन्वय है ।[5]

दण्डी ने अनन्वय को उपमा भेद (असाधारणोपमा) में अन्तर्भूत कर लिया है, पृथक् विवेचन नहीं किया है ।[6]

वामन के अनुसार एक पदार्थ का उपमानत्व एवं उपमेयत्व प्रदर्शित करना अनन्वयालंकार है ।[7]

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, ६.३. (७०)
२. काव्यालंकार, ८.५९.
३. वही, ८.६१.
४. वही, ८.६५.
५. काव्यालंकार, ३.४५.
६. काव्यादर्श, २.३७.
७. एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः । ४.३.१४.

उद्भट के अनुसार असादृश्य की विवक्षावश उसी की उसी से उपमानोपमेयता प्रदर्शित करना अनन्वय अलंकार है।[1] भामह से प्रभावित यह लक्षण है, परवर्ती आलंकारिकों ने इसे ही स्वीकार किया है।

रुद्रट ने इसका विवेचन नहीं किया है।

३५. उत्प्रेक्षावयव

इसका उल्लेख मात्र भामह ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में किया है।[2] दण्डी ने इसे उत्प्रेक्षा का एक भेद मात्र माना है।[3] वामन ने संसृष्टि के दो भेद माने हैं—१. उपमारूपक तथा २. उत्प्रेक्षावयव। इस प्रकार इन्होंने भी इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं स्वीकार किया है। इनके अनुसार उत्प्रेक्षा के हेतु रूप अन्य अलंकार उत्प्रेक्षावयव कहलाते हैं।[4]

उत्तरवर्ती आचार्यों में भी इसका वर्णन नहीं मिलता है।

३६. संसृष्टि

भामह के अनुसार संसृष्टि एक श्रेष्ठ अलंकार है, जिसमें अनेक अलंकारों का योग रहता है।[5]

दण्डी ने भी अनेक अलंकारों की संसृष्टि को संसृष्टि अलंकार माना है।[6] इसके दो भेद किये हैं। संसृष्ट हो रहे अलंकारों की परस्पर में—

१. गौण एवं प्रधान भाव से स्थिति,
२. समकक्ष रूप में स्थिति।

वामन के अनुसार एक अलंकार का दूसरे अलंकार के साथ कार्य कारण सम्बन्ध संसृष्टि है।[7] संसृष्टि का अर्थ 'संसर्ग' है। इसके दो भेद हैं—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव।

उद्भट के अनुसार अनेक या केवल दो परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित अलंकारों की समाश्रयता संसृष्टि है।[8]

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, ६·४. (७१)
२. काव्यालंकार, ३·४७.
३. काव्यादर्श, २·३५९
४. उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः। ४·३·३३.
५. वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः। ३·४९.
६. नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते॥ २·३५९.
७. अलंकारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः। ४·३.३०.
८. काव्यालंकारसारसंग्रह, ६·५. (७२)

रुद्रट में इसका वर्णन नहीं है।

३७. भाविक

भामह के अनुसार भाविक प्रबन्ध गुण है जिसमें भूतार्थ एवं भव्यार्थ प्रत्यक्ष के समान दिखलाई पड़ते हैं। अर्थ में चित्रता, उदात्तता एवं अद्‍भुतत्व, कथा में अभि-नीतता और शब्दों में अनाकुलता आदि इस गुण के सहायक हैं।[1]

दण्डी के अनुसार काव्य की समाप्तिपर्यन्त स्थित रहने वाला कवि का अभिप्राय विशेष ही भाव है जिसपर भाविक आधारित है, जो कि प्रबन्ध विषयक गुण है।[2] तदुपरान्त भाविक गुण की कुछ विशिष्टताओं का भी दण्डी ने उल्लेख किया है।

उद्‍भट के अनुसार वाणी के चमत्कार से भूत और भविष्य की वस्तुयें यदि प्रत्यक्ष जैसी दृष्टिगत हों तो वहाँ भाविक अलंकार होता है।[3] मम्मट का भाविक लक्षण 'प्रत्यक्षा इव यद्‍भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः'[4] स्पष्टतः उद्‍भटादि से प्रभावित है।

वामन एवं रुद्रट में इसका वर्णन नहीं है।

३८. आशीः

भामह एवं दण्डी ने ही सिर्फ इसे अलंकार रूप में उपन्यस्त किया है। भामह के अनुसार सौहार्द्र एवं अविरोध की उक्ति में आशीः अलंकार होता है।[5]

दण्डी के अनुसार अभिलषित वस्तु में शुभ प्रार्थना आशी है।[6]

दण्डी द्वारा वर्णित नवीन अलंकार

३९. आवृत्ति

दण्डी ने ही सर्वप्रथम इसकी उद्‍भावना की है। किन्तु इन्होंने इसका लक्षण नहीं दिया है। अर्थावृत्ति, पदावृत्ति एवं उभयावृत्ति रूप तीन भेदों का उल्लेख करके वे इन्हें दीपक जातीय अलंकार स्वीकार करते हैं।[7]

उत्तरवर्ती आलंकारियों ने भी इस अलंकार का वर्णन नहीं किया है।

---

१. काव्यालंकार, ३·५४.
२. काव्यादर्श, २.३६४.
३. काव्यालंकारसारसंग्रह, ६·६ (७३)
४. काव्यप्रकाश, सूत्र १७२.
५. काव्यालंकार, ३.५५
६. आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा॥ २·३५७.
७. काव्यादर्श, २·११६.

४०. चित्र

दण्डी ने सर्वप्रथम चित्रालंकार का 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में विस्तृत वर्णन किया है। चित्रालंकार में इन्होंने गोमूत्रिका, अर्थभ्रम तथा सर्वतोभद्र आदि का विस्तृत विवेचन करके स्वरस्थानवर्णनियम का विवेचन किया है।

दण्डी ने इसी प्रसंग में प्रहेलिका को भी अलंकार माना है तथा इससे १६ भेदों का वर्णन किया है।

वामन तथा उद्भट में इसका वर्णन नहीं प्राप्त होता है।

रुद्रट ने पंचम अध्याय में चित्र अलंकार को शब्दालंकार मानते हुये विस्तृत वर्णन किया है। चित्रालंकार के सम्बन्ध में रुद्रट का कथन है कि ये असंख्य भेद वाले हो सकते हैं जिनकी गणना सम्भव नहीं है। साथ ही इन्होंने इसी प्रसंग में यह भी निर्दिष्ट किया है कि मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक, प्रहेलिका आदि का प्रयोग क्रीड़ा मात्र के लिये किया जाता है, अलंकारों में इनकी गणना नहीं करनी चाहिये।

वामन द्वारा वर्णित नवीन अलंकार

४१. प्रतिवस्तूपमा

उपमा भेदों का वर्णन करते समय भामह ने प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार दो वाक्यों में यथा, इव आदि शब्दों के विना ही समान वस्तु के न्यास के द्वारा गुण साम्य की प्रतीति जहाँ हो वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है।[१]

दण्डी ने भी उपमाभेद के निरूपण के प्रसंग में इसी बात को कहा है—किसी वस्तु को उपन्यस्त करके उसके समान धर्म वाले अन्य वस्तु का उपस्थापन करने से जो सादृश्य प्रतीति होती है वह प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।[२]

किन्तु स्वतन्त्र अलंकार के रूप में इसका सर्वप्रथम विवेचन वामन ने किया है। वामन के अनुसार उपमेय उक्त होने पर समान वस्तु का वर्णन करना प्रतिवस्तूपमा है।[3]

उद्भट के अनुसार उपमान तथा उपमेय के सन्निधान में जहाँ साम्यवाची शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है।[४]

---

१. काव्यालंकार, २.३४.

२. काव्यादर्श, २.४६.

३. उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥ ४.३.२

४. काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ३०७.

४२. व्याजोक्ति

वामन के अनुसार व्याजस्तुति एवं व्याजोक्ति दो भिन्न अलंकार हैं, इन्होंने दोनों का अलग-अलग वर्णन भी किया है। वामन के अनुसार व्याज अर्थात् छल से प्रतिपादित विजय का सत्य के साथ सारूप्य दिखलाना व्याजोक्ति है।[1] इसे ही कुछ आलंकारिक मायोक्ति कहते हैं। परवर्ती काल में मम्मटादि आचार्यों ने भी इस अलंकार का निरूपण किया है यद्यपि उनके लक्षण में भिन्नता है।

उद्भट द्वारा वर्णित नवीन अलंकार

४३. संकर

उद्भट ने सर्वप्रथम काव्यालंकारसारसंग्रह के पञ्चमवर्ग में संकर का वर्णन किया है। इन्होंने संकर के चार भेदों का उल्लेख किया है—संदेह संकर, शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर, एकशब्दाभिधान संकर, अंगागिभाव संकर।

१. जहाँ एक से अधिक अलंकार ज्ञात हो रहे हों परन्तु सबका स्वतन्त्र अस्तित्व असम्भव हो तथा किसी एक को ग्रहण करने या त्यागने का कोई आधार न हो—इस अलंकार मिश्रण की स्थिति को संदेह संकर कहते हैं।[2]

२. जहाँ एक ही वाक्य में शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित अलंकार भासित हो रहे हों वहाँ शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर होता है।[3]

३. एक वाक्यांश में अर्थात् वाक्य के एक भाग में अनेकालंकार के प्रवेश से एकशब्दाभिधान संकर होता है।[4]

४. जहाँ अलंकार परस्पर उपकार करें अर्थात् स्वतन्त्र भाव से स्थित न हों वहाँ अंगागिभाव संकर होता है।[5]

रुद्रट ने अर्थालंकारों के विवेचन के अनन्तर अलंकारों की संकीर्णता का विवेचन किया है जिसे उन्होंने संकर नाम से अभिहित किया है।[6] इनके अनुसार वास्तव

---

१. व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ॥ ४·३·२५.
२. काव्यालंकारसारसंग्रह, ५ ११, (६२)
३. वही, पृ० ३८८
४. वही, ५·१२, (६३)
५. वही, ५·१३, (६४)
६. योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥ १०·२५.

आदि अलंकारों के तिल और चावल, दूध और जल के समान मिश्रण होने पर उनके अंशों के स्फुट और अस्फुट होने के भेद से संकर अलंकार दो प्रकार का होता है। इस प्रकार इन्होंने स्फुटत्व एवं अस्फुटत्व के भेद से दो प्रकार माने हैं। परवर्ती काल में नीरक्षीरन्यायेन स्थित अलंकारों को संकर तथा तिलतण्डुलवत् स्थित अलंकारों को संसृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है।

४४. काव्यलिंग

काव्यलिंग अलंकार के प्रथम उद्भावक आचार्य उद्भट हैं। इनके अनुसार जव एक सुनी हुई वस्तु किसी अन्य की स्मृति या अनुभव का कारण वने तो काव्यलिंग अलंकार होता है।[1]

रुद्रट में इसका विवेचन नहीं मिलता किन्तु परवर्ती आलंकारिकों में यह अलंकार रूप में स्वीकृत हुआ है।

४५. दृष्टान्त

उद्भट के अनुसार अभीप्सित अर्थ का जहाँ स्पष्ट प्रतिविम्ब दर्शित किया जाये और यथा, इव, वा आदि का प्रयोग न हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।[2] वस्तुतः यथा, इव, वा आदि के प्रयोग से उपमालंकार हो जायेगा तथा साधारण धर्म के प्रयोग से प्रतिवस्तूमा। इसीलिये दृष्टान्त में उद्भट ने प्रतिविम्व निदर्शन पर वल दिया है।

रुद्रट के अनुसार विवक्षित या अविवक्षित में जिस धर्म से युक्त अर्थ विशेष का पहले उपन्यास हो चुका हो उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ का उपन्यास जहाँ होता है उसे दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं।[3]

रुद्रट ने विवक्षित एवं अविवक्षित रूप भेद के आधार पर इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

रुद्रट द्वारा उद्भावित अलंकार

४६. समुच्चय

यह वास्तव वर्ग का अलंकार है। रुद्रट के अनुसार जहाँ एक ही आधार में अनेक वस्तु अत्यन्त सुखावह आदि हो वहाँ समुच्चयालंकार होता है। इसके सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग के आधार पर तीन भेद किये हैं।[4]

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, ६·७ (७४)
२. वही, ६·८, (७५)
३· काव्यालंकार, ८·९४,
४. काव्यालंकार, ७·१९.

इसके अतिरिक्त समुच्चय वहाँ भी होता है जहाँ एक ही देश में, एक ही काल में—गुण अथवा क्रिया भिन्न आधार में होती है। गुण और क्रिया के भेद से इसके दो भेद होते हैं।[1]

इसके साथ ही औपम्य वर्ग में भी रुद्रट ने समुच्चय का वर्णन किया है। इनके अनुसार जहाँ उपमान एवं उपमेय रूप अर्थ विना, इव आदि उपमा वाचक के उप-योग में उपमानोपमेय के होने पर प्रयुक्त हों वहाँ समुच्चयालंकार होता है।[2]

मम्मट ने समुच्चय के भेदों का निर्देश करते हुये कहा है—'एष एव समुच्चयः सद्योगे, असद्योगे, सदसद्योगे व पर्यवस्यतीति च पृथक् लक्ष्यते।'[3] इसपर स्पष्टतः रुद्रट के भेदों का प्रभाव है।

४७. भाव

यह वास्तववर्ग का अलंकार है। रुद्रट के अनुसार जिसका विकार जिस अनियत कारण से उत्पन्न होकर उसके अभिप्राय एवं उसके प्रतिबन्ध का बोध करा देता है वहाँ भाव नामक अलंकार होता है।[4] भाव के दूसरे भेद का उल्लेख करते हुये वे कहते हैं कि जहाँ पर वाक्य अभिधेयार्थ को बताकर उससे भिन्न गुण दोष युक्त अर्थान्तर का बोध कराता है—वहाँ द्वितीय प्रकार का भाव अलंकार होता है।

किन्तु परवर्ती किसी आलंकारिक ने भाव को अलंकार नहीं माना है।

४८. पर्याय

रुद्रट के अनुसार विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ उस वाच्य वस्तु के असमान जो वस्तु होती है तथा जो उसका कारण या कार्य नहीं होता है—उसका जो कथन है उसे पर्याय कहते हैं।[5]

द्वितीय पर्याय का उल्लेख करते हुये रुद्रट ने कहा है कि जहाँ एक वस्तु अनेक आधारों अथवा अनेक वस्तु एक ही आधार में सुख आदि स्वरूप की हो—वहाँ पर्याय होता है।[6]

---

१. वही, ७·२७.
२. वही, ८·१०३,
३. काव्यप्रकाश, पृ० ५२६
४. काव्यालंकार, ७·३८.
५. काव्यालंकार, ७·४२,
६. वही, ७·४४

मम्मट का पर्याय लक्षण—'एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः । अन्यस्ततोऽन्यथा' ।[1] रुद्रट के द्वितीय पर्याय लक्षण से प्रभावित है ।

४६. विषम

रुद्रट ने विषम अलंकार का विस्तृत वर्णन किया है । उनके अनुसार जहाँ दो पदार्थों के बीच सम्बन्ध के अभाव में भी दूसरों के मन में उस सम्बन्ध को मानकर वक्ता उस सम्बन्ध का खण्डन करता है वहाँ विषम अलंकार होता है यथा "क्वखलाः क्व च सज्जनस्तुतयः" ।[2]

२. जहाँ दो अर्थों में विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य या असंभाव्य अर्थ का अस्तित्व वर्णित किया जाये वहाँ द्वितीय प्रकार का विषम होता है ।[3]

३. कार्य की विषमता के आधार पर विषम के चार भेद होते हैं—

(अ) कर्त्ता स्वल्प कार्य भी न करे,

(ब) कर्त्ता गुरु कार्य कर डाले,

(स) जहाँ अशक्त होने पर भी कर्त्ता कार्य कर डाले,

(द) वहाँ अधिक होने पर भी कर्त्ता कार्य न करे ।[4]

४. चतुर्थ प्रकार का विषम वहाँ होता है जहाँ कर्म के नाश से न केवल कर्त्ता का क्रियाफल ही नष्ट होता है अपितु उल्टे अनर्थ आ पड़ता है ।[5]

अतिशयमूलक वर्ग में भी रुद्रट ने विषम का वर्णन किया है—जहाँ कार्य और कारण के गुणों में विरोध हो अथवा उसीप्रकार क्रियाओं में परस्पर विरोध हो वहाँ विषम अलंकार होता है ।[6] इसप्रकार इसके दो भेद हुये—

१. कार्य का गुण कारण के गुण का विरोधी,

२. कार्य की क्रिया कारण की क्रिया की विरोधी । इन दोनों के रुद्रट ने अलग-अलग उदाहरण दिये हैं ।

---

१ काव्यप्रकाश, सूत्र १७९,

२. विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम् ।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे ।। ७·४७,

३. काव्यालंकार, ७·४९,

४. वही, ७·५१,

५. वही, ७·५४,

६. वही, ९·४५,

मम्मट ने विषम अलंकार के जिन चार भेदों का निर्देश किया है वे सभी भेद रुद्रट में विद्यमान हैं।[1]

५०. अनुमान

रुद्रट के अनुसार जहाँ परोक्ष साध्य वस्तु का पहले उपन्यास करके उसके पश्चात् साधक हेतु का उपन्यास किया जाये या साधक का पहले उपन्यास करके फिर साध्य का उपन्यास किया जाये वहाँ अनुमान अलंकार होता है।[2]

इसके अतिरिक्त जहाँ बलवत्तर कारण को देखकर अघटित कार्य के घट जाने अथवा भविष्य में घटित होने का कथन किया जाता है वहाँ द्वितीय प्रकार का अनुमान होता है।[3] किन्तु रुद्रट के अनुमान लक्षण को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है।

५१. परिकर

रुद्रट के अनुसार वस्तु का साभिप्राय विशेषणों द्वारा विशेषित होना परिकर है–यह द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप भेद से चार प्रकार का होता है।[4]

मम्मट का 'विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तुः सः'[5] परिकर लक्षण रुद्रट के लक्षण से प्रभावित है।

५२. परिसंख्या

रुद्रट के अनुसार किसी आधार में विद्यमान साधारण गुण आदि पूछे जाने पर या बिना पूछे गये ही जहाँ बताये जाते हैं तथा अन्यत्र उन गुणादि का अभाव प्रतीत होता है वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।[6] पृष्टपूर्विका एवं अपृष्टपूर्विका के भेद से इसके दो भेद होते हैं।

---

१. क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत्॥ १२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥ १२७॥
काव्यप्रकाश, सूत्र १९३

२. काव्यालंकार, ७·५६

३. वही, ७·५९

४. वही, ७·७२

५. काव्यप्रकाश, सूत्र १८२

६. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ ७·७९.

मम्मट का—

किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।[1]

यह परिसंख्या लक्षण रुद्रट के अनुसार है ।

५३. कारणमाला

रुद्रट के अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व कार्य उत्तरोत्तर कारण बनता जाये वहाँ कारण माला अलंकार होता है ।[2] मम्मट ने इसी तथ्य को सुव्यवस्थित रूप में इस प्रकार कहा है—

यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।[3]

५४. अन्योन्य

रुद्रट के अनुसार जहाँ दो पदार्थों में परस्पर एक कर्त्ता आदि भाव क्रिया के द्वारा किसी विशिष्ट धर्म का पोषण करें वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है ।[4]

मम्मट का अन्योन्य लक्षण भी रुद्रट के लक्षण का परिष्कृत रूप है—

क्रियया तु परस्परम् ।
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् ।।[5]

५५. उत्तर

रुद्रट ने उत्तर अलंकार का निरूपण वास्तव एवं औपम्य दोनों ही वर्गों में किया है । वास्तववर्गान्तर्गत परिगणित उत्तर के दो भेदों को निरूपित करते हुये वे कहते हैं[6] —

१. उत्तर वचन को सुनकर जहाँ पूर्ववचन की उद्भावना की जाती है वहाँ उत्तर अलंकार होता है अथवा

---

१. काव्यप्रकाश, १०·११९, सूत्र १८४.
२. कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम् ।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ।। ७·८४.
३. काव्यप्रकाश, सूत्र १८५.
४. यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया ।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ।। ७·९१.
५. काव्यप्रकाश, १०·१२०, सूत्र १८६.
६. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम् ।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ।। ७·९३.

२. प्रश्न वाक्य से जहाँ उत्तर की उद्भावना की जाती है वहाँ भी उत्तरालंकार होता है।

औपम्यवर्ग में उत्तर को निरूपित करते हुये वे कहते हैं–वक्ता जहाँ ज्ञात प्रसिद्ध उपमान से भिन्न वस्तु उपमेय के पूछे जाने पर उपमान के सदृश वस्तु का कथन करता है वहाँ उत्तर अलंकार होता है।[1]

रुद्रट के वास्तव वर्ग में वर्णित उत्तर अलंकार के लक्षण की स्पष्ट झलक मम्मट के—

"उत्तर श्रुतिमात्रतः।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति॥"[2]

उत्तरालंकार लक्षण में दृष्टिगत होती है। मम्मट ने उत्तर के द्वितीय भेद का उल्लेख करते हुये जो यह कहा है—'असकृद्यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात् तदुत्तरम्'—वह रुद्रट के औपम्यवर्ग के उत्तर अलंकार से मेल खाता है।

५६. सार

रुद्रट के अनुसार जो-जो समुदाय हैं उनके एक-एक देश को क्रमशः जहाँ चरम सीमा तक अत्यन्तगुणवान् निश्चित किया जाता है वहाँ 'सार' अलंकार होता है।[3] मम्मट का लक्षण–'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः'[4] स्पष्टतः रुद्रट से प्रभावित है तथा उदाहरण तो ठीक रुद्रट का ही मम्मट ने उद्धृत कर दिया है–

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्॥[5]

५७. अवसर

रुद्रट के अनुसार कथन के प्रसंग में अर्थ को अन्य अर्थ से उत्कृष्ट अथवा सरस बनाने के लिये जो उपलक्षण किया जाता है उसे अवसर अलंकार कहते हैं।[6] परवर्ती अलंकारिकों में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

---

१. यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥ ८·७२,

२. काव्यप्रकाश, १०·१२१, सूत्र १८७.

३. यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम्॥ ७.९६.

४. काव्यप्रकाश, १०·१२३, सूत्र १८९.

५. काव्यालंकार, ७.९७,

६. वही, ७·१०३,

५८. मीलित

रुद्रट के अनुसार जहाँ प्रसन्नता, क्रोधादि को स्वाभाविक अथवा औपाधिक समान चिह्न से तिरस्कृत कर दिया जाता है वहाँ मीलित अलंकार होता है।[1] रुद्रट ने इसके स्वाभाविक एवं औपाधिक रूप दो उदाहरण दिये हैं। ठीक इसी तथ्य को मम्मट ने—

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥[2]

इन शब्दों में प्रकट किया है।

५९. एकावली

जहाँ उत्तर-उत्तर अर्थ के विशेषणों से युक्त अर्थराशि की क्रमशः स्थापना अथवा निषेध होता है, उसे एकावली अलंकार कहते हैं। विधि एवं निषेध के आधार पर उसके दो भेद होते हैं।[3]

मम्मट ने रुद्रट के ही आधार पर एकावली का लक्षण एवं भेद निरूपित किया है—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥[4]

६०. मत

यह औपम्य वर्ग का अलंकार है। रुद्रट के अनुसार जहाँ वक्ता दूसरों के अभिप्रेत उपमेय को कहकर अपने अभिप्रेत उपमेय के धर्मों से युक्त उपमान को उपन्यस्त करता है, वहाँ मत अलंकार होता है। इस अलंकार की विशेषता 'मन्येऽहम्' स्वमत का प्रकाशन है, परवर्ती आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है।[5]

६१. प्रतीप

रुद्रट के अनुसार जहाँ उपमेय की अत्यधिक प्रशंसा के लिये उपमान की तुलना

---

१. तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥ ७·१०६.

२. काव्यप्रकाश, १०·१३०.

३. एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयन्ते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ॥ ७·१०९,

४. काव्यप्रकाश, १०·१३१, सूत्र १९७,

५. तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥ ८·६९,

में विकृत उपमेय या तो उपकृत होता है या निन्दित होता है वहाँ प्रतीप अलंकार होता है। प्रशंसा एवं निन्दा रूप भेद से इसके दो प्रकार हैं।[1] मम्मट का प्रतीप लक्षण—

> आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
> तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धम्॥[2]

यद्यपि परिष्कृत रूप में उपस्थित हुआ है किन्तु इसके द्वितीय भेद में रुद्रट के लक्षण की स्पष्ट छाया है।

६२. उभयन्यास

रुद्रट के अनुसार उपमा के स्वरूप से भिन्न जहाँ दो सामान्य अर्थ निर्दिष्ट हों वहाँ उभयन्यास अलंकार होता है।[3] परवर्ती आलंकारिकों में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

६३. भ्रान्तिमान्

रुद्रट के अनुसार जहाँ किसी अर्थविशेष को देखकर प्रतिपत्ता को उसके सदृश अन्य वस्तु की सन्देहरहित प्रतीति होती है वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है।[4]

मम्मट के अनुसार "भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्य दर्शने"[5] अर्थात् अन्य अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अप्राकरणिक अर्थ का भान होता है वह भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। अतः स्पष्ट है कि मम्मट का लक्षण रुद्रट से प्रभावित है।

६४. प्रत्यनीक

रुद्रट के अनुसार जहाँ उपमेय को उत्तम बनाने के लिये, उपमेय को जीतने की इच्छा के कारण जहाँ उपमेय के विरोधी रूप में उपमान की कल्पना की जाये वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है।[6]

---

१. यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात्॥ ८.७६.

२. काव्यप्रकाश, १०.१३३.

३. काव्यालंकार, ८.८५.

४. अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्।
निःसंदेहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान्स इति॥ ८.८७.

५. काव्यप्रकाश, १०.१३२, सूत्र १९९.

६. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥ ८.९२॥

मम्मट का प्रत्यनीक लक्षण—

प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥[1]

स्पष्टतः रुद्रट से प्रभावित है।

६५. पूर्व

रुद्रट ने इसका विवेचन औपम्य एवं अतिशत दोनों ही वर्गों में किया है। औपम्यवर्गान्तर्गत पूर्व को लक्षित करते हुये इन्होंने कहा है—साथ-साथ घटित होने वाले उपमानोपमेय में पूर्वघटित न होने पर भी उपमेय का उपमान से पूर्व घटित होना वर्णित करना पूर्व अलंकार है।[2]

अतिशय वर्ग में इसको निरूपित करते हुये रुद्रट ने कहा है—जहाँ कार्य के अत्यन्त प्रबल होने के कारण कार्य की उत्पत्ति पहले और कारण की बाद में निरूपित की जाये वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है।[3]

परवर्ती आचार्यों में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

६६. साम्य

रुद्रट के अनुसार साधारण रूप से विद्यमान गुण आदि के कारण रूप अर्थ व्यापार के कारण जहाँ उपमान और उपमेय में साम्य उक्त होता है—वहाँ साम्य अलंकार होता है।[4]

इसके अतिरिक्त जहाँ उपमान और उपमेय में सर्वात्मना साम्य प्रदर्शित करने के लिये उपमेय के उत्कर्ष विधायक वैशिष्ट्य का कवि उपन्यास करता है वहाँ साम्य नामक द्वितीय प्रकार का अलंकार होता है।

साम्य अलंकार की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने नहीं की है।

६७. स्मरण

रुद्रट के अनुसार जहाँ किसी विशेष वस्तु को देखकर प्रतिपत्ता अतीत में अद्भुत किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है वहाँ स्मरण अलंकार होता है।[5]

मम्मट का स्मरण अलंकार का लक्षण—"यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति :। स्मरणम्।"[6] रुद्रट से स्पष्टतः प्रभावित है।

---

१. काव्यप्रकाश, १०.१२९. सूत्र १९५.
२. काव्यालंकार, ८.९७.
३. काव्यालंकार, ९.३.
४. वही, ८.१०५.
५. वही, ८.१०९.
६. काव्यप्रकाश, सूत्र १९८.

६८ विशेष

रुद्रट ने विशेष के तीन भेदों का उल्लेख किया है— १. आधार के विद्यमान रहने पर भी वस्तु को निराधार बताकर उसका उस रूप में वर्णन।[1]

२. एक वस्तु अनेक आधारों में एक साथ विद्यमान वर्णित की जाये।[2]

३. एक कार्य को करता हुआ कर्त्ता दूसरे असम्भव कार्य को भी कर डाले।[3]

मम्मट का विशेषालंकार निरूपण ठीक रुद्रट के अनुसार है। इन्हीं भेदों का मम्मट ने भी निर्देश किया है—

> विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
> एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा॥
> अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
> तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥[4]

६९. तद्गुण

रुद्रट ने इसके दो भेदों का उल्लेख किया है।[5] १. समान गुण वाले अर्थों में सम्बन्ध होने पर भेद का लक्षित न होना।

२ भिन्न गुण वाली वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु से संसृष्ट होकर उसके गुण को धारण कर ले वहाँ द्वितीय प्रकार का तद्गुण होता है।[6]

मम्मट ने तद्गुण को निरूपित करते हुये कहा है—

> स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
> वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः॥[7]

यह वस्तुतः रुद्रट के द्वितीय तद्गुण का ही रूपान्तर है।

७०. अधिक

रुद्रट ने इसके दो भेदों की चर्चा की है।

---

१. काव्यालंकार, ९.५.

२. वही, ९.७.

३. वही, ९.९.

४. काव्यप्रकाश, १०.१३५, सूत्र २०२.

५. काव्यालंकार, ९.२२.

६. असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति॥९.२४

७. काव्यप्रकाश, १०.१३७, सूत्र २०३.

१. इनके अनुसार जहाँ एक ही कारण से दो वस्तुयें[1] उत्पन्न होती हैं वहाँ अधिक अलंकार होता है। इसके भी दो भेद हैं—(अ) जहाँ दोनों वस्तुयें विरुद्ध हों अथवा (ब) जहाँ दोनों वस्तुयें विरुद्ध बलवर्ती क्रियाओं वाली प्रसिद्ध हों।

२. इसके अतिरिक्त द्वितीय प्रकार का अधिक वहाँ होता है जहाँ विशाल आधार में भी स्वल्प आधेय अवस्थित होकर किसी कारणवश न समा सके।[2]

मम्मट के अधिक अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

"महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्॥[3]

यह रुद्रट के द्वितीय अधिक से प्रभावित है।

७१. असंगति

रुद्रट के अनुसार जहाँ स्पष्ट रूप से एक ही समय में कारण अन्यत्र तथा कार्य अन्यत्र हो वहाँ असंगति अलंकार होता है।[4]

मम्मट का असंगति लक्षण रुद्रट के लक्षण के समान है—

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः॥[5]

७२. पिहित

रुद्रट के अनुसार अति प्रबलता के कारण जब कोई गुण समानाधार किन्तु असमान गुण वाली वस्तु आविर्भूत होने पर भी तिरोभूत कर दे वहाँ पिहित अलंकार होता है।[6]

मम्मटादि आलंकारिकों में इसका वर्णन नहीं उपलब्ध होता है।

७३. व्याघात

रुद्रट के अनुसार जहाँ किसी अन्य निमित्त से कारण के प्रतिहत न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती वहाँ व्याघात अलंकार होता है।[7]

---

१. काव्यालंकार, ९.२६

२. यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्॥ ९.२८.

३. काव्यप्रकाश, १०.१२८, सूत्र १९४.

४. विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगति सेयम्॥९.४८.

५. काव्यप्रकाश, १०.१२४, सूत्र १९०.

६. काव्यालंकार, ९.५०.

७. वही, ९.५२.

मम्मटादि में इस अलंकार का वर्णन मिलता है किन्तु उनके लक्षण में भिन्नता है ।

७४. अहेतु

रुद्रट के अनुसार बलवान् विकार के कारण के होने पर भी वस्तु स्थैर्य के कारण विकृत नहीं होती वहाँ अहेतु नामक अलंकार होता है ।[1] परवर्ती आलंकारिकों में इसका वर्णन नहीं मिलता है ।

७५. अर्थश्लेष

श्लेष को अर्थश्लेष के रूप में सर्वप्रथम रुद्रट ने ही निरूपित किया है तथा अर्थालंकारों के वर्गीकरण में 'श्लेष वर्ग' को स्थान देकर इसका विस्तृत वर्णन भी किया है । अर्थश्लेष को निरूपित करते हुये रुद्रट का कथन है कि—जहाँ अनेकार्थक पदों के द्वारा रचा गया एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है उसे अर्थश्लेष कहते हैं ।[2] इन्होंने अर्थश्लेष के दस भेदों का उल्लेख किया है—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास ।

मम्मटादि परवर्ती आचार्यों ने इनके अर्थश्लेष लक्षण का तो अनुगमन किया है किन्तु इतने विस्तृत भेदोपभेदों का निर्देश नहीं किया है । यथा मम्मट के अनुसार 'श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्'[3] अर्थात् एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ हों, वहाँ श्लेष अर्थालंकार होता है । इस प्रकार लक्षण तो रुद्रट से प्रभावित है किन्तु भेदोपभेदों की चर्चा न करके इसका संक्षेप कर दिया है जो कि बाद में भी सभी आलंकारिकों को मान्य रहा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत मुनि ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक के रूप में अलंकारों के जिस प्ररोह का वपन किया था उसने कालान्तर में अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज तक आते आते विशालवट वृक्ष का रूप धारण कर लिया । उक्त विवेचन में हमने रुद्रट तक अलंकारों की ८० संख्या तक के विकास को परिलक्षित किया है । यदि अनुप्रास के छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास रूप भेदों को स्वतन्त्र अलंकार मान लें जैसाकि उद्भट ने किया है (किन्तु आगे चलकर इनकी गणना भेदों में की जाने लगी) तथा दण्डी द्वारा वर्णित प्रहेलिका को भी अलंकार मान लें, जिसे रुद्रट ने मात्र विनोद साधन स्वीकार किया है, तो अलंकारों की संख्या

---

१. काव्यालंकार, ९.५४.
२. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ।। १०.१.
३. काव्यप्रकाश, १०.९६, सूत्र १४६.

८३ तक परिगणित होने लगेगी। अलंकारों के इस विकास का आधार आलंकारिकों की प्रतिभा एवं विवेचन शक्ति दोनों ही है। कथन भंगिमा ही अलंकार हैं तथा ये वाग्विकल्प अनन्त हैं। दण्डी ने तो आरम्भ में ही कह दिया है कि 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम्' और ये सूक्ष्म भेदोपभेद परवर्ती काल में प्रकट होते चले गये। अलंकारों के इस विकास क्रम ने यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य सृष्टि की प्रक्रिया में अलंकारों के व्यावहारिक उपयोग की उपेक्षा कथमपि सम्भव नहीं है।

अलंकारों के वर्गीकरण का आधार

अनेकानेक आलंकारिकों ने जिन अलंकारों का विवेचन किया है वे अलंकार निर्मूल नहीं हैं, अपितु उनका कोई न कोई उत्स है, उनका कोई न कोई आधार है। यदि ऐसा न होता तो किसी भी कथन भंगिमा को किसी भी अलंकार के नाम से अभिहित किया जा सकता था, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अलंकारों के विवेचन क्रम में हमने यह सुस्पष्ट रूप से देखा है कि क्रमविकास की प्रक्रिया में एक अलंकार से दूसरे अलंकार में कितना सूक्ष्म अन्तर होता है। उदाहरण के लिये उपमा और अनन्वय को लिया जा सकता है। दोनों ही साधर्म्यमूलक अलंकार हैं, किन्तु उपमा का क्षेत्र जहाँ अत्यन्त विस्तृत है वहाँ अनन्वय का संकुचित। उपमान तथा उपमेय में भेद होने पर भी रनके साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है जबकि एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय दोनों होने पर अनन्वय होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन अलंकार भेदों में वैज्ञानिकता का पुट है। इन्हें मन का स्वच्छन्द विलास नहीं माना जा सकता है। यहाँ यह अवधारणीय है कि काव्य में अलंकार प्रयोग तो कवि के मानसिक विलास के परिणाम ही होते हैं, किन्तु यहाँ हमारा मन्तव्य यह है कि जब किसी विशिष्ट अलंकार का निर्वचन किया जाता है तो वहाँ मात्र उस अलंकार के परिप्रेक्ष्य में वह स्वतन्त्र नहीं होता है। वहाँ वह विशिष्ट अलंकार अपने लक्षण की सीमा से अनुविद्ध रहता है। यहाँ हमारा ध्येय उन आधारों की ओर इंगित करना है जो अलंकार वर्गों के निर्धारक हैं। अलंकारों के मूल आधार के प्रति सर्वप्रथम भामह ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते' के द्वारा इंगित किया था। तदनन्तर वामन ने उपमा को समस्त अलंकारों का मूल माना। किन्तु इन आधारों की सुस्पष्ट अवधारणा रुद्रट में आकर ही वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के रूप में प्रकट हुई। यह दूसरी बात है कि दोषयुक्त होने से परवर्ती काल में रुद्रट का यह मत मान्य न हो सका किन्तु एक व्यवस्थित दिशा निर्देशन का कार्य तो इससे हुआ ही। अलंकारों के वर्गीकरण के आधार के प्रति सर्वप्रथम ध्यान रुय्यक का इस दिशा में आकृष्ट हुआ। रुय्यक ने अर्थालंकारों के मूलाधार को आठ प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है—सादृश्य, विरोध, शृंखलाबन्ध;

तर्कन्याय, वाच्य न्याय, लोक न्याय, गूढ़ार्थ प्रतीति तथा चित्तवृत्ति। परवर्ती आलंकारिकों ने और भी सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन किया एवं अलंकारों के विभाजन के आधार को इस रूप में प्रस्तुत किया है—१. सादृश्यमूलक २. गम्यसादृश्य मूलक ३. एकाधिक अर्थमूलक ४. हेतुतामूलक ५. विरोधमूलक ६. शृंखलामूलक ७. विविध अलंकार ८. मिश्रित अलंकार ९. चित्तवृत्यात्मक अलंकार।[1]

१. सादृश्यमूलक अलंकार

सादृश्य काव्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध अलंकार है। इसे ही औपम्य, साधर्म्य आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस सादृश्यविधान पर आश्रित अलंकारों को सादृश्यमूलक अलंकार कहा जाता है। विभिन्न अलंकारशास्त्रियों ने अलंकारविधान में सादृश्य के अत्यधिक महत्त्व का निर्देश किया है। वामन ने 'प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमा-प्रपञ्चः'[2] कहकर समस्त अलंकारों को औपम्याश्रित मानकर सादृश्यमूलकता को स्पष्टतः स्वीकार किया है। रुय्यक ने अलंकारों के मूल तत्त्वों में औपम्य को स्वीकार किया है। अप्पय दीक्षित भी वामन की ही भाँति उपमा को समस्त अलंकारों के मूल में स्वीकार करते हैं—उनके अनुसार एक उपमा ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हुई भिन्न भिन्न अलंकारों में परिवर्तित हो जाती है—

> उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
> रञ्जयन्ती काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।[3]

सादृश्य हेतु साधारण धर्म अपेक्षित होता है जो दो या दो से अधिक वस्तुओं में विद्यमान रहे। इस प्रकार सादृश्य एक सम्बन्ध विशेष है तथा साधारण धर्म उस सम्बन्ध का हेतु। रुय्यक ने सादृश्य के तीन रूपों का उल्लेख किया है—भेदाभेद-तुल्य, अभेदप्रधान तथा भेदप्रधान। जब दो पदार्थों में कुछ भेद के तत्त्व हों एवं कुछ अभेद के और दोनों का ही अभिधान समान रूप से अभीष्ट हो तो उसे भेदाभेदप्रधान कहते हैं। इसमें उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा स्मरणादि अलंकार आते हैं। अभेद प्रधान अलंकारों में अभेद की अभिव्यक्ति आरोप एवं अध्यवसाय इन दो रूपों में होती है। रुय्यक ने आरोपगर्भ अलंकार में—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को समाविष्ट किया है। पुनः अध्यवसाय के साध्य एवं सिद्ध रूप दो भेद किये हैं। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य होता है तथा अतिशयोक्ति में सिद्ध। सादृश्य के तृतीय भेद—भेदप्रधान का उल्लेख न कर रुय्यक ने गम्यमानौपम्य

---

१. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, विषय सूची, xii–xiii

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४·३·१.

३. चित्रमीमांसा, अथ उपमानिरूपणम्, (प्रसङ्ग) १, पृ० ३३.

पर आश्रित अलंकारों का निरूपण प्रारम्भ कर दिया है।[1] इस प्रकार उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में–उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति आदि अलंकार परिगणित होते हैं।

२. गम्यसादृश्यमूलक अलंकार

इस वर्ग में दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, व्यतिरेक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकार आते हैं। इन अलंकारों के स्वरूप पर विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट विदित हो जाता है कि इनमें सादृश्य मूलक अलंकारों की भाँति न तो भेदाभेदतुल्यत्व होता है और न अभेद प्राधान्य ही अभीप्सित रहता है। यद्यपि इन अलंकारों में भी सादृश्य अपेक्षित रहता है, किन्तु यह सादृश्य किसी शब्द द्वारा साक्षात् उपात्त नहीं होता बल्कि यह सादृश्य गम्यमान होता है। अतः चूँकि इन अलंकारों में उपमानोपमेय भाव गम्यमान ही रहता है अतएव इन्हें गम्यसादृश्यमूलक अलंकारों में परिगणित किया गया है।

३. एकाधिक अर्थमूलक

इसके अन्तर्गत श्लेष, पर्यायोक्ति; व्याजस्तुति, आक्षेप, सहोक्ति, विनोक्त, परिकर, अर्थान्तरन्यास और उदाहरण आदि अलंकार आते हैं। एकाधिक अर्थमूलक अलंकारों से जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एक से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसा नहीं होता कि कोई अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत हो तथा कोई व्यञ्जनागम्य हो जैसा अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में दृष्टिगत होता है। अपितु बुद्धिधारा दोनों अर्थों के प्रति समान रूप से उन्मुख होती है। उनमें से प्राकरणिक अर्थ को संयोगादि अवच्छेदों या वक्तृबोधव्य आदि के द्वारा नियन्त्रित पर लिया जाता है।

४. हेतुतामूलक अलंकार

इसके अन्तर्गत काव्यलिंग और अनुमान—ये दो अलंकार आते हैं। हेतु पर आधारित होने के कारण इन्हें हेतुतामूलक अलंकार कहा जाता है। यथा काव्यलिंग का मम्मटकृत लक्षण है—काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता'[2] अर्थात् हेतु का वाक्यार्थ तथा पदार्थरूप में कथन करना काव्यलिङ्ग है। इसीप्रकार अनुमान का लक्षण 'अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः'[3] अर्थात् साध्य और

---

१. एवमध्यवसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानी· मुच्यते, पृ० २३६.

२. काव्यप्रकाश, १०·११४, सूत्र १७३.

३. वही, १०·११७, सूत्र १८१

साधन का जो कथन है वह अनुमान अलंकार कहा गया है। साधन को व्याख्यायित करते हुये मम्मट ने कहा—'पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्'[1] अर्थात् तीनों रूपों से युक्त हेतु का ही यहाँ साधन शब्द से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार उक्त दोनों ही अलंकार हेतुमूलक हैं।

५. विरोधमूलक अलंकार

इसके अन्तर्गत विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, विशेष, व्याघात एवं अन्योन्य अलंकार परिगणित किये जाते हैं। इन अलंकारों में काव्यजनित चमत्कार के कारण आपाततः विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविक कारण का बोध होने पर विरोध हट जाता है। क्योंकि वास्तविक विरोध तो दोष है वह अलंकार कैसे बन सकता है? इस प्रकार इन अलंकारों में विरोध की झलक भर होने के कारण इन्हें विरोधमूलक अलंकार कहा जाता है।

६. शृंखलामूलक अलंकार

इसमें कारणमाला तथा एकावली अलंकार परिगणित किये जाते हैं। इन्हें ही शृंखलाबन्ध नाम से भी अभिहित किया गया है। शृंखलाबंध का अर्थ है साँकल की भाँति एक के बाद दूसरी वस्तु का क्रम से ग्रथन। यथा कारणमाला अलंकार में अगले-अगले अर्थ के प्रति पहिले-पहिले अर्थ हेतु के रूप में वर्णित रहते हैं।[2] इस प्रकार उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की हेतुता उपलक्षित होने के कारण प्रत्येक अर्थ एक दूसरे से (शृंखला की भाँति) बँधा रहता है। यह बात उदाहरण से और स्पष्ट हो जायेगी। इसका अत्यन्त सरल एवं लोक प्रचलित उदाहरण है—

> विद्याददाति विनयं विनायाद्याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनात् धर्मः ततः सुखम्॥

इसी प्रकार एकावली का लक्षण है—

> स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथा पूर्वं परं परम्।
> विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥[3]

अर्थात् जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषण रूप से रखी जाये या हटायी जाये। इसप्रकार इसमें भी एक अर्थ दूसरे अर्थ से विशेषणविशेष्यभाव रूप से सम्बन्धित होने के कारण शृंखलामूलक ही है।

---

१. वही, पृ० ५२२
२. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्यहेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्॥ काव्यप्रकाश, सूत्र १८५.
३. काव्यप्रकाश, १०·१३१, सूत्र १९७.

७. विविध अलंकार

भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण जिन अलंकारों को किसी विशिष्ट वर्ग में अन्तर्हित नहीं किया जा सकता है उन्हें विविध अलंकार के नाम से अभिहित किया गया है। इस वर्ग के अन्तर्गत परिगणित अलंकार किसी एक ही प्रकार की विशेषता से भावित नहीं होते हैं वल्कि सबकी अपनी-अपनी अलग विशेषतायें होती हैं। इसी-लिये इन्हें 'विविध' कहा गया है। इसके अन्तर्गत–सार, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, उत्तर, व्याजोक्ति, सूक्ष्म, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, उदात्त, भाविक, स्वभावोक्ति, यथासंख्य, तद्गुण एवं अतद्गुण आदि अलंकार आते हैं।

८. मिश्रित अलंकार

इसमें संसृष्टि एवं संकर परिगणित किये गये हैं। वस्तुतः इन्हें मिश्रित अलंकार इसलिये कहा जाता है क्योंकि इनमें किसी एक स्वतन्त्र अलंकार की स्थिति नहीं होती है। अपितु दो या दो से अधिक अलंकार तिलतण्डुलवत् या नीरक्षीरवत् मिश्रित रूप में रहते हैं। नीरक्षीरन्यायेन स्थित अलंकार संकर कहलाते हैं अर्थात् जिसप्रकार दूध में जल को मिला देने से पुनः उसे अलग नहीं किया जा सकता उसी तरह से संकीर्ण अलंकारों को संकर अलंकार कहा जाता है। तिलतण्डुल न्याय से संसृष्ट अलंकार संसृष्टि कहलाते हैं। इसमें अलंकारों का मिश्रण होने पर भी अलंकार पृथक्-पृथक् प्रतीत भी होते हैं।

९. चित्तवृत्तिमूलक अलंकार

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित इसके अन्तर्गत आते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार की चित्तवृत्ति पैदा करती है—'न च तदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति।' इतना ही नहीं "ध्वनिकार ने रस आदि को चित्तवृत्ति का विभिन्न रूप माना है। 'चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः।' संम्भवतः इसी आधार पर रुय्यक ने चित्तवृत्तिगत के रूप में एक नवीन श्रेणी वनाई है। इसमें रसवान्, प्रेयान्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशवलता—इन अलंकारों का परिगणन किया गया है।"[1]

प्राचीन आलंकारिकों ने केवल रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित का वर्णन किया है। भावोदय, भावसन्धि तथा भावशवलता का वर्णन उनमें नहीं प्राप्त होता है। भावशान्ति को ही प्राचीन आचार्यों ने समाहित नाम से अभिहित किया है। रसयुक्त काव्य रसवत् नाम से, अप्रधान भाव प्रेयस् के नाम से तथा रसाभास एवं भावाभासादि ऊर्जस्वि के नाम से अभिहित किये गये हैं। "अच्छा हो यदि इन सबको

१. रामचन्द्र द्विवेदी, अलंकार मीमांसा, पृ० १९४.

केवल दो भागों में रखकर समझा जाये १. रसालंकार और २. भावालंकार। हमारी इस मान्यता का आधार यह है कि रस आदि काव्य के आस्वादयिता में रहते हैं, न कि काव्य में। काव्य इनका व्यञ्जक है न कि आधार, काव्य में जो कुछ रहता है वह है रस आदि की अभिव्यंजक सामग्री। उस सामग्री को रस नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसे उपमा आदि के समान काव्य धर्म ही मानना होगा और आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों के समान उसे अलंकार कहना होगा।"[1]

इस प्रकार इस विवेचन से अलंकारों के विभाजन के प्रमुख आधार स्पष्ट हो जाते हैं।

वस्तुतः सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र का गवेषणात्मक लक्ष्य अलंकार्य की अवाप्ति है। अलंकार्य वह है जो अलंकृत किया जाता है—इस प्रकार काव्य में अलंकृतत्त्व भी अलंकार सापेक्ष है। अलंकारों के बिना अलंकार्य स्फुटरूपेण प्रकट ही नहीं हो सकता। फिर भी भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट एवं इसी परम्परा में जयदेव तथा अप्पय दीक्षित आदि को अलंकारवादी तथा आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि को अलंकार्यवादी जो कहा जाता है इसका एकमात्र कारण इनका क्रमशः अलंकार तथा अलंकार्य पर संरम्भ होना है। इसीलिये रस का वर्णन करके भी रुद्रट अलंकारवादी हैं तथा अलंकारों का वर्णन करके भी मम्मट रसवादी हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि अलंकारवादियों ने अलंकारों का विस्तृत विवेचन करके उनको काव्य में अत्यधिक महत्त्व दिया किन्तु 'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' से ये अलंकार किसे अलंकृत करते हैं इस ओर तनिक भी अपनी दृष्टि नहीं फेरते। इसी कारण अभिनवगुप्तादि ने शवशरीर पर मण्डित अलंकारों की व्यर्थता के साथ इनकी तुलना की है।[2] अलंकार की सार्थकता सजीव शरीर के शोभावर्धन में है तथा ध्वनिवादियों एवं रसवादियों ने इसी सजीव शरीर को, रसप्लावित शरीर को उपस्थापित किया है। इसी कारण समस्त उत्तरवर्ती सिद्धान्तों की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करने वाला अलंकार सम्प्रदाय मान्य नहीं हो सका।

---

१. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, पृ० १८५.
२. लोचन, पृ० २०९.

चतुर्थ अध्याय

रीति एवं गुण सम्प्रदाय

रीति

गत्यर्थक रीङ् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर रीति शब्द निष्पन्न हुआ है। 'रीति' शब्द का अर्थ मार्ग या पद्धति है। वास्तविकता तो यह है कि रीतिशब्द का अभिधेय अर्थ (मार्ग) रीति शब्द की अपेक्षा काव्यशास्त्र में अधिक प्राचीन है। रीति शब्द के प्रयोक्ता आचार्य वामन हैं, "पर यह भी ध्यान में रखना है कि भरत के बाद अस्तित्व में आने वाला काव्य मार्ग या रीति सिद्धान्त स्वरूप और संघटना इन दोनों ही दृष्टियों से भरत की पांचाली प्रभृति प्रवृत्तियों से और कैशिकी प्रभृति वृत्तियों से अनुदान का ऋणी है।"[१] रीति तत्त्व का विवेचन करने के पूर्व सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक होगा कि रीति की अवधारणा के तीन सोपान हैं—

१. काव्यशास्त्र में रीतियों का प्रथम स्वरूप भौगोलिक है।

२. द्वितीय स्वरूप वैयक्तिक है।

३. रीति का तृतीय स्वरूप विषयोचित है।

ये तथ्य आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेंगे। भरतमुनि ने देश प्रदेश की वेष-भूषा तथा रहन-सहन के आधार पर अभिनय के प्रसंग में चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—

'चतुर्विधा प्रवृतिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगक्तृभिः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ॥[२]

अर्थात् आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी और पाञ्चालीये चार प्रवृत्तियाँ हैं; जिनमें से आवन्ती भारत के पश्चिम भाग की, दाक्षिणात्या भारत के दक्षिण भाग की, औड्रमागधी भारत के उड़ीसा तथा मगध प्रदेश की और पञ्चाली भारत के मध्यदेश की प्रवृत्ति कहलाती है। यह भौगोलिक आधार पर किया गया काव्य प्रवृत्तियों का विचार है जिसे आलंकारिक रीति सिद्धान्त का प्रस्थान विन्दु मानते हैं। किन्तु ध्यान से देखा जाये तो रीति एवं प्रवृत्ति में पार्थक्य है। प्रवृति वेष भूषादि से सम्बद्ध है जबकि रीति विशुद्ध रूप से भाषिक संरचना है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इस पार्थक्य का स्पष्ट निर्देश किया है, जिसका विवेचन आगे हम करेंगे।

---

१. डॉ० शंकरदेव अवतरे, काव्यांग प्रक्रिया, पृ० २७५.

२. नाट्यशास्त्र, १४·३६.

रीतियाँ अक्षरविन्यासात्मक होती हैं, जिसका साक्षात्कार सर्वप्रथम हमें वाणभट्ट के हर्षचरित में होता है। वाणभट्ट ने देशभेद से चार पद्धतियों का उल्लेख किया है—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ॥[1]

अर्थात् उत्तरी क्षेत्र के कवि प्रायः श्लिष्ट भाषा का, पश्चिम के कवि अनलंकृत भाषा का, दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा अलंकार प्रधान भाषा का तथा पूर्वी भारत के कवियों की भाषा में अक्षरों का आडम्बर अधिक रहता है। इसप्रकार वाणभट्ट ने भौगोलिक आधार पर भाषिक निर्धारण किया है। किन्तु ध्यातव्य है कि उनका उद्देश्य अलग-अलग प्रदेश की विशिष्टता वतलाना नहीं था अपितु वे उत्कृष्ट काव्य शैली का विवेचन करते हुये यह कहते है कि इन चारों विशिष्टताओं का एकत्र समागम दुर्लभ हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥[2]

भामह

आगे चलकर उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य और गौड जैसा विभाग नहीं रह गया। काव्यशैली वैदर्भ और गौड इन दो भागों में विभाजित हो गयी, जिसका स्पष्ट संकेत भामह में प्राप्त होता है। वस्तुतः भरत एवं भामह के मध्य अनेकानेक आलंकारिकों के होने की परम्परा का ज्ञान तो होता है किन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः भामह के समय में वैदर्भ मार्ग की श्रेष्ठता को आँख मूंद कर स्वीकार कर लिया जाता था, यही कारण है कि भामह ने रीत्यभिधेय किसी भी शब्द का प्रयोग किये बिना सीधे वैदर्भ एवं गौड इन दोनों (रीतियों) में पूर्वापर श्रेष्ठता का खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

'वैदेर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥[3]

वैदर्भ मार्ग ही श्रेष्ठ है और वही मान्य है, किन्तु 'सदर्थ' होते हुए भी अपर अर्थात् गौडीय मार्ग नहीं। यह गौडीय है और यह वैदर्भ है इस प्रकार का प्रयोग

१. हर्षचरित, १.७
२. वही, १.८.
३. काव्यालंकार, १.३१-३२.

गतानुगतिकतावश बुद्धिहीन लोग ही करते हैं। फिर उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि 'अश्मकवंश' नामक काव्य को लोग वैदर्भ के नाम से पुकारते हैं। 'वैदर्भ' संज्ञा का तात्पर्य ही श्रेष्ठता को प्रतिपादित करना है। आज वह काव्य उपलब्ध नहीं है और सम्भवतः भामह उस काव्य को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सुन्दर नहीं मानते हैं, इसीसे उसे वैदर्भ मात्र कहकर श्रेष्ठता की श्रेणी में रखना उन्हें श्रेयस्कर नहीं है।[1] क्योंकि संज्ञा तो स्वेच्छासिद्ध होती है, वह गुणानुकूल हो ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। उनका कथन है कि वैदर्भ काव्य का मानदण्ड मात्र स्पष्टता, सरलता तथा लालित्यादि गुणों के सन्निवेश को ही नहीं माना जा सकता है। क्योंकि ये गुण तो संगीत में भी पाये जाते हैं। संगीत और काव्य का भेदक गुण अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति है। यदि ये गुण किसी काव्य में हैं तो वह काव्य-काव्य कहलाने का अधिकारी है अन्यथा नहीं। वे स्पष्टतया कहते हैं कि—

अलकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥[2]

इस प्रकार भामह ने उत्तम काव्य का मानदण्ड रीति को न मानकर वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। चूँकि भामह वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति में अभेद मानते हैं अतः जहाँ वक्रोक्ति होगी वहाँ उक्ति स्वयमेव अतिशयता से पूर्ण होगी। वक्रोक्ति ही काव्य की साधिका है।

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वचामलंकृतिः॥[3]

इतना ही नहीं वे वक्रोक्ति हीन काव्य को मात्र वार्त्ता मानते हैं।[4] इस प्रकार हम

---

१. वही, १·३३.
२. काव्यालंकार, १·३५.
३. वही, १·३६.
४. The most important factor in terms of which he is inclined to judge poetic beauty is a striking mode of speech together with a cleverness of ideas, which forms the character of his vakrokti, the fundamental principle of all alamkaras in his theory of poetry. And if that is existing in the Gudiya Poetry, he has no objection to accept it in preference to the Vaidarbha.

P.C. Lahiri, Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, p. 51.

देखते हैं कि भामह के अनुसार काव्य के सामान्य गुण अलंकृति, अग्राम्यता, अर्थसौन्दर्य, अनाकुलता एवं वक्र उक्ति आदि हैं। वैदर्भ एवं गौड काव्य अपने आप में सत्काव्य नहीं हैं अपितु उक्त गुण जिनमें होंगे वही काव्य सुशोभित हो उठेगा।

दण्डी

आचार्य दण्डी पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'रीति' शब्द के प्रचलन के पूर्व 'रीति' के अभिधेय अर्थ में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था। वाणी के अनेकानेक सूक्ष्म भेदों की अवस्थिति होने पर भी दण्डी ने वैदर्भ एवं गौड इन दो ही भेदों को स्वीकार किया है। क्योंकि इन्हीं दोनों में स्पष्टतया अन्तर किया जा सकता है—

> अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
> तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥[1]

यद्यपि वैदर्भ एवं गौडीय ये नाम भौगोलिक आधार को ही सूचित करते हैं, किन्तु नाम ग्रहण में मात्र परम्परागत प्रभाव समझना चाहिये। क्योंकि दण्डी पहले आचार्य हैं जो रीतियों का निर्धारण व्यक्तिनिष्ठ ढंग से करते हैं।

साथ ही दण्डी का एक और महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने रीति का सम्बन्ध गुण से जोड़ दिया है। दण्डी ने दस गुण माने हैं[2] तथा इन गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण स्वीकार किया है। प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुये दण्डी ने गुण वाहुल्य के आधार पर वैदर्भ मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की है। 'प्रायः' कहकर दण्डी अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषों से वच गये हैं। क्योंकि कुछ अंशों में दोनों रीतियों में समानता पायी जाती है। यथा ग्राम्यत्व दोष दोनों ही मार्गों के लिये परिहार्य दोष है। इसके अतिरिक्त अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि गुणों की सत्ता दोनों ही मार्गों में स्वीकार्य है। क्योंकि दण्डी काव्यत्व हेतु इन गुणों को अनिवार्य मानते हैं।

सामान्य रूप में देखने से तो यह प्रतीत होता है कि दण्डी ने सिर्फ दस ही गुण स्वीकार किये हैं, किन्तु 'एषां विपर्ययः प्रायः दृश्यते गौडवर्त्मनि' से उक्त दस गुणों के विपर्यय गौड मार्ग में स्वीकृत गुण हैं। अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि दोनों मार्गों में समान रूप से स्वीकृत गुण हैं किन्तु गौड मार्ग में विपर्यय के रूप में इनके गुणों का स्वरूप इस प्रकार है—

---

१. काव्यादर्श, १·४०.

२. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥ १·४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥१·४२॥

श्लेष–शैथिल्य, सौकुमार्य–दीप्त, गद्यगतओज–पद्यगत ओज, प्रसाद–व्युत्पन्न, समता–वैषम्य, माधुर्य–वर्णानुप्रास, कान्ति–अत्युक्ति।

इस प्रकार सामान्य रूप से देखने पर जिन गुणों की संख्या १० प्रतीत होती है, सूक्ष्मतया निरीक्षण करने पर ये गुण स्पष्टत: १७ हो जाते हैं।

दण्डी की यह मान्यता है कि रीति प्रतिकवि के साथ बदलती रहती है। अत: रीति के सूक्ष्म भेदोपभेदों की गणना नहीं की जा सकती है।[1] क्योंकि ईख, गुड़ और दूध में वर्तमान माधुर्य में अन्तर है, वह अन्तर महान् है किन्तु सरस्वती भी उसके भेद वर्णन में अशक्य हैं।[2] उसी प्रकार गौड, वैदर्भ सम्प्रदायान्तर्गत उपभेदों के बीच वर्तमान महान् भेदों का वर्णन असम्भव है। इसीलिये मोटे तौर पर केवल वैदर्भ एवं गौड मार्ग के ही भिन्नस्वरूप को प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दण्डी ने गुण का सम्बन्ध मार्ग (रीति) से स्थापित किया है, रस एवं ध्वनि से नहीं जैसा कि ध्वनिवादी आचार्यों ने किया है।[3] साथ ही वैदर्भ मार्ग को श्रेय बतलाया हैं। किन्तु वैदर्भी के प्रति यह आकर्षण होने के उपरान्त भी गौडी की सर्वथा उपेक्षा दण्डी नहीं कर सके। क्योंकि यद्यपि वैदर्भी रीति की प्रतिष्ठित परम्परा चली आ रही थी किन्तु गौडी को भी उसी प्रकार प्राचीन काल से मान्यता मिलती चली आ रही थी, जिसका निर्देश भामह के काव्यालंकार में भी प्राप्त होता है।[4] भामह ने तो इसप्रकार के अधमत्व एवं उत्तमत्व के मानदण्ड को ही हेय माना है।

---

१. तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिता: ॥ १·१०१॥

२. इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥ १·१०२ ॥

३. P. C. Lahiri, Concepts of Riti ard Guna in Sanskrit Poetics, P. 58.

4. In spite of his decided partiality for the vai darbha and a mild aversion for the gauda manner, we are not convinced that he meant to deprive the latter of the recognition that was its due. S. P. Bhattacharyya has already shown that even long before the time of Dandin the Gaudi riti had, side by side with the widely accepted vaidarbhi an established tradition of its own, which Dandin himself could not ignore.

P.C. Lahiri, Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, P. 61.

अतः निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि गौड मार्ग काव्य का 'प्राण' नहीं है तभी भी उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, उसका अपना मूल्य है तथा यदि उत्तम काव्य वैदर्भ में दस गुण हैं तो उन गुणों में से चार-पाँच गुण गौड में भी विद्यमान हैं। रीति सम्वन्धी दण्डी की मान्यता 'तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति-कविस्थिताः' आधुनिक मान्यता के समकक्ष है। वस्तुतः रीति प्रति कवि के साथ बदलती है। महाकवि कालिदास एवं महाकवि भारवि में 'महाकवित्व' का साम्य होते हुये भी रीत्यात्मक पार्थक्य है। यही नहीं एक ही कवि में रचना भेद के साथ रीति भेद देखने में आता है। वस्तुतः कवि रीति के माध्यम से ही उपस्थित होता है। काव्य की संरचनात्मक विशेषता ही काव्य की विशेषता है।[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दण्डी दसों गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हैं, किन्तु इन गुणों में भी समाधि को दण्डी ने सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। काव्य में चमत्कार का आधायक होने के कारण, वे उसे काव्य का जीवन मानते हैं।

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥[2]

और इसीलिये यह समाधि गुण कवियों के द्वारा उपादेय है। गौड एवं वैदर्भ दोनों ही सम्प्रदायों के अनुगामी कविगण इसे अपनाते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि दण्डी में गुणों का सर्वातिशायी रूप उभरा है और अन्त में गुणात्मक मार्ग (रीति) की प्रतिष्ठा में उसका पर्यवसान हुआ है।

वामन

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही नहीं अपितु 'रीति' शब्द के प्रथम प्रयोक्ता एवं लक्षणकर्त्ता हैं। वामन के पूर्व यद्यपि इसी अर्थ में दण्डी ने 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था किन्तु उसका लक्षण नहीं निरूपित किया था। साथ ही वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त

---

१. Hence, style is not an objective concept; and it is incapable of being named and described except in very broad general-terms. It cannot be limited to a particular number. It does not allow isolation from the work that embodies it, as it is intimately related with the literary theme. Style is organic not the clothes a man wears, but the flesh, bone and blood of his body.

G. Vijayvardhan, out lines of Sanskrit Poetics, pp. 65–66.

2. काव्यादर्श, १·१००.

की है। उनके अनुसार शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रीति आत्मा है।[1] वामन रीति को विशिष्ट पद रचना मानते हैं तथा विशिष्ट का अर्थ गुणयुक्त होना मानते हैं। अतः सारांश यह हुआ कि गुण सम्पन्न पद रचना ही काव्य की आत्मा है। गुणों में भी वामन ने दण्डी के समान दस गुण तो माने हैं किन्तु उनके शब्दगत तथा अर्थगत विभाग से २० भेद कर दिये हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि वामन आत्मा की सत्ता तो मानते हैं किन्तु उनका वर्णन उन्हें देहवादी ही सिद्ध करता है। वस्तुतः वामन की काव्यात्मा रीति चार्वाक दर्शन के देहात्मवाद से मिलती-जुलती है। जिस प्रकार प्रत्यक्षवादी चार्वाक अवयव संस्थान को ही आत्मा स्वीकार करते हैं तथा शरीर के नाश के साथ ही आत्मा का भी नाश हो जाता है यह मानते हैं, उसी प्रकार वामन भी काव्य को वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली इन तीन रीतियों के अन्दर समाविष्ट मानते हैं, जिस-प्रकार रेखाओं के अन्दर चित्र समाविष्ट होता है।[2] तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार रेखाओं के मिट जाने पर चित्र की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी उसीप्रकार इन रीतियों के अभाव में काव्यत्व की हानि हो जायेगी। वस्तुतः चित्र के साथ काव्य की उपमा देकर वामन ध्वनिवादियों के बहुत निकट आ गये हैं। क्योंकि रेखा ही तो चित्र नहीं होता है अपितु रेखा चित्र की परम साधिका होती है। उसी प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति में परम साधन तो रीति ही है, उसके द्वारा ही काव्य व्यक्त होता है। इसप्रकार वामन प्रतीयमानार्थ का संस्पर्श कर रहे हैं, किन्तु 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर इन्होंने चूँकि रीति को ही साध्य मान लिया है, अतः यह तथ्य उभरकर सामने नहीं आ पाता है।

वामन रीति का लक्षण करते समय 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहते तो हैं किन्तु 'विशिष्टा पदरचना रीति' कहकर वे रीति को विशेष प्रकार के शब्द एवं अर्थ तक ही सीमित कर देते हैं। अतः सब मिला-जुलाकर वामन देहात्मवादी आचार्य ही ठहरते हैं। इसीलिये समालोचकों ने वामन की तुलना चार्वाक दार्शनिकों से की है जो कि देह को ही आत्मा मानते हैं।

वामन के द्वारा ध्वनि तत्त्व का मनाक् स्पर्श

यह सत्य है कि वामन ने जो काव्यात्मा की गवेषणा की—वह आलोचकों की आलोचनाओं के प्रहार से वञ्चित नहीं रहा, किन्तु इसे तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया, जो ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। १·२·६.
२. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
१·२·१३ की वृत्ति।

में सहायक हुआ। इसीलिए अलंकारशास्त्र के इतिहास में वामन का विशिष्ट स्थान है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वयं आनन्दवर्धन ने भी वामन के रीति सिद्धान्त की मौलिकता की प्रशंसा की है। वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक के मन में ध्वनि सिद्धान्त की मान्यतायें आविर्भूत हुई थीं किन्तु वे उसे उपयुक्त शब्दों में प्रकट नहीं कर सके—

'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥

एतद् ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सद् अशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी-गौडीपाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्य तत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते।'[1]

आनन्दवर्धन के ये शब्द रीति सम्प्रदाय की मौलिकता एवं महत्ता को प्रतिपादित करने में पर्याप्त समर्थ हैं। जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं कि काव्य की आत्मा की तरफ सर्वप्रथम वामन का ही ध्यान गया है। आत्मा ही किसी काव्य की सजीवता का प्रमाण है। बिना आत्मा के जैसे शरीर व्यर्थ है वैसे ही आत्मा रहित काव्य भी त्याज्य है। काव्य में आत्मा किसे कहा जाये—इसकी खोज सर्वप्रथम वामन ने 'रीति' को आत्मा मानकर प्रारम्भ की। वामन ने रीति को गुणों से विशिष्ट माना है। रीति की विशिष्टता—गुणों से ही है—'विशेषो गुणात्मा'। इसप्रकार रीति का महत्त्व गुणाधीन है।

वामन वैदर्भी को समस्त गुणों से युक्त मानते हैं तथा गौडी रीति ओज तथा कान्तिगुण प्रधान होती है (माधुर्य एवं सौकुमार्य का राहित्य होता है) तथा पांचाली रीति माधुर्य एवं सौकुमार्य गुण प्रधान होती है (उसमें ओज एवं कान्ति गुण का अभाव होता है।) इन तीनों ही रीतियों में वामन काव्य को उसीप्रकार आबद्ध मानते हैं जिसप्रकार विभिन्न रेखाओं मे चित्रित चित्र।

समग्र ओजप्रसादादि शब्द एवं अर्थ गुणों से युक्त वैदर्भी रीति की वामन ने सर्वतोभावेन प्रशंसा की है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के लिये एकमात्र उसे ही ग्राह्य बताया है। वे इस तथ्य को कदापि स्वीकार नहीं करते कि गौडी एवं पाञ्चाली रीति में काव्य रचना का अभ्यास हो जाने पर व्यक्ति पुनः वैदर्भी के लिये अभ्यस्त हो जायेगा। क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि अतत्त्व का अभ्यास करने वाले को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती—'न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः।'[2] अर्थात् सन की डोरी के बुनने के अभ्यास करने पर टसर के सूत्र बुनने में

१. ध्वन्यालोक, ३·४७, पृ० ३३०-३१.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१८.

विचक्षणता की प्राप्ति नहीं होती है। यहाँ पर वामन की इस मान्यता से यह बात प्रतीत होती है कि वामन 'अभ्यास' को शक्ति नहीं मानते। रीतियों का नामकरण वामन ने देश के आधार पर किया है क्योंकि तत्-तद् देशों में तद्-तद् रीतियों का प्रावल्य होता है।[1]

यह सच है कि वैदर्भ, गौड और पाञ्चाल आदि देशों में तत्-तत् रीतियों की बहुलता के कारण उन्हें इन नामों से अभिहित किया गया है। किन्तु वामन का यह स्पष्ट मत है कि उन देशों से काव्यों का कोई उपकार नहीं होता—

'न पुनर्देशैः किञ्चिदुपक्रियते काव्यानाम्।'

वामन ने शब्दगुणों एवं अर्थगुणों की दृष्टि से गुणों का विभाग किया तथा उन्हें परिभाषित किया। वामन की गुण सम्बन्धी धारणा का विवेचन आगे हम करेंगे।

वामन का गुणालंकार भेद

गुणों के अनन्तर वामन की अलंकार सम्बन्धी धारणा आती है। भामह एवं दण्डी ने अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। वामन ने स्पष्टतया गुण को अलंकार से अधिक महत्त्व दिया है। वे अलंकारों को गुणों का सहायक मानते हैं, गुणों के समकक्ष नहीं। क्योंकि उनके अनुसार गुण काव्य के अनिवार्य तत्त्व हैं जबकि अलंकार गौण। काव्य की स्थिति अलंकारों के अभाव में भी सम्भव है किन्तु गुणों के अभाव में नहीं। क्योंकि गुण काव्यशोभा के जनक हैं—'काव्याशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'[2] किन्तु अलंकार काव्यशोभा का जनन नहीं करते वे मात्र काव्यशोभा की वृद्धि कर सकते हैं—'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा:'[3]। गुण एवं अलंकारों में गुणों को वे नित्य भी मानते हैं—'पूर्वे नित्याः'।[4] वामन की यह गुण सम्बन्धी मान्यता परवर्ती काल में भी मान्य हुई है। ध्वनिवादियों ने गुणों को नित्य तथा अलंकारों को अनित्य माना है। साथ ही वे वामन की इस धारणा से भी सहमत हैं कि गुण काव्यशोभा के जनक हैं तथा अलंकार मात्र उसकी वृद्धि करता है, जनन नहीं। इससे एक कदम और आगे ध्वनिवादी यह भी स्वीकार करते हैं कि अलंकार सदैव काव्यशोभावर्द्धक ही नहीं होता, अलंकारों का अनावश्यक संगठन उसमें दोष भी ला देता है तथा कभी-कभी ये अलंकार काव्य में तटस्थ भाव से स्थित रहते हैं

---

१. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या ॥१.२.१०.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.१.
३. वही, ३.१.२.
४. वही, ३.१.३.

अर्थात् न तो उपकार करते हैं न रसापकार। कहने का आशय यह है कि वामन की गुण सम्बन्धी मान्यतायें ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं के बहुत निकट हैं। किन्तु त्रुटि यही है कि वे घूमफिर कर शब्द एवं अर्थ के मोहजाल को नहीं त्याग सके हैं। गुण वस्तुतः रस धर्म है जिसे वामन ने शब्दार्थ का धर्म माना है—'ये खलु शब्दार्थयोधर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः'[१] यह दोष ही उन्हें पुनः खींचकर अलंकारवादी आचार्यों के समकक्ष खड़ा कर देता है।

यह बात ठीक है कि वामन ने काव्य को अलंकारों के द्वारा ग्राह्य बतलाया है 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'[२] किन्तु यह ध्यातव्य है कि उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया है। वे सौन्दर्य मात्र को अलंकार मानते हैं। इसीलिये वृत्ति में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि 'अलंकृतिरलङ्कारः' अर्थात् अलंकृति अलंकार शब्द का मुख्यार्थ है। यहाँ स्पष्टतया करणार्थक 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न करण या साधन रूप उपमादि अलंकारों का निषेध किया है। यह सौन्दर्य रूप अलंकार दोषों के त्याग तथा गुण एवं अलंकारों में उपादान से कवि सम्पादित कर सकता है।[3]

गुणों को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य मानने के कारण कामधेनु टीकाकार ने गुणों की काव्य में स्थिति को समवाय से माना है।[४] जिसकी उद्भट ने कड़ी भर्त्सना की है। उद्भट के अनुसार गुण एवं अलंकार में कोई भेद नहीं है। उसमें जो भेद व्यवहार किया जाता है उसे वे भेड़ चाल के समान अविवेकपूर्ण मानते हैं।[५] किन्तु वामन का गुणों को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि बिना गुणों के मात्र अलंकारों से काव्य में शोभा नहीं पायी जा सकती है।

रीति सम्प्रदाय में रस का गुण में अन्तर्भाव

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय एक कदम आगे बढ़ गया

१. वही, ३·१·१. की वृत्ति
२. वही, १·१·१.
३. स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। १·१·३.
४. अतो मन्यामहे गुणत्वादोजः प्रभृतीनामात्मनि समवायवृत्त्या स्थितिरलङ्कारत्वाद्यमकोपमादीनां शरीरे संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रंथकारस्याभिमतमिति॥ ३·१·४ पर कामधेनुटीका, पृ० ८५.
५. समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिका प्रवाहेणैवैषां भेदः।
उद्भट का मत मम्मट के काव्यप्रकाश के उल्लास ८ से उद्धृत, पृ० ३८४

है। रीति सम्प्रदाय में अन्य समस्त विशेषताओं के साथ रस को भी अर्थगुण कान्ति के माध्यम से विशेष स्थान प्राप्त हुआ है।[1] सम्भवतः नाट्य के प्रति अनुराग ने ही वामन को रस की अनिवार्यता के प्रति आकर्षित किया है। वामन प्रबन्ध काव्यों में नाटक आदि दस प्रकार के रूपक को श्रेष्ठ मानते हैं।[2] क्योंकि यह दस प्रकार का रूपक चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र रूप है। 'ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः'[3]—उससे कथा, आख्यायिका एवं महाकाव्यादि जो काव्य के भेद हैं—वे सभी दशरूपक के ही प्रपञ्च हैं—ऐसा माना जा सकता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि नाट्यशास्त्र के प्रति उनके आकर्षण ने उनको रस के प्रति भी आकृष्ट किया, क्योंकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने नाट्य में रसों की स्थिति पर विशिष्ट बल दिया है। यह बात दूसरी है कि वामन रस को स्वीकार करते हुये भी उसे प्राधान्य न प्रदान कर सके, जिससे उनका सिद्धान्त शब्दार्थ तक ही सीमित रह गया। यही कारण है कि वामनोपरान्त रीति सिद्धान्त को प्रोत्साहित करने वाले किसी आचार्य का अभ्युदय नहीं हुआ। किन्तु अल्पकाल में ही इसने परवर्ती सिद्धान्तों पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन की रीति सम्बन्धी कटु आलोचना के अनन्तर भी उनके मत को संशोधित कलेवर में उपस्थित किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को तीन भागों (वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली) में विभाजित न करके रस ध्वनि मात्र की व्यञ्जना में पदविन्यास के विनियोग पर विशिष्ट बल दिया है। साथ ही ध्वनिवादियों ने गुण का सम्बन्ध रीति से न मानकर रस से माना है। वामन गुण को काव्यशोभा का जनक मानते हैं तथा अलंकार को उसके आधिक्य का कारण। जबकि ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रसभिन्न तत्त्व मानते हैं तथा अलंकार काव्य शोभा की वृद्धि में—सहायक, अवरोधक या तटस्थ भाव से स्थित रहते हैं—ऐसा माना है। वस्तुतः वामन ने काव्य की वस्तुगत आलोचना ही प्रस्तुत की है, रीति का क्या प्रयोजन या क्या लक्ष्य है इसका विवेचन इन्होंने नहीं किया है।[4] ध्वनिकार की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक पैनी थी, परिणामस्वरूप ध्वनिकार ने वामन की आत्मरूप रीति को भी साधन रूप में ही ग्रहीत किया। यह

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। ३·२·१५.

२. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। १·३·३०.

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·३·३२.

4. The more or less objective definition of Riti, given by this school, was hardly enough to satisfy the search for ultimate principles.
S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 106.

बात सही है कि वामन की आत्मभूत रीति को अंग संस्थान का ही पद मिला, परन्तु वामन की मौलिकता को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

१. रीति को सर्वप्रथम परिभाषाबद्ध करने वाले वामन ही हैं।

२. वामन ने सर्वप्रथम शब्दगुण एवं अर्थगुण का विभाग किया तथा गुणों की संख्या बीस मानी।

३. गुण एवं अलंकार का भेद उपलब्ध ग्रंथों में सर्वप्रथम वामन में ही मिलता है। गुणों को काव्य का आवश्यक एवं नित्य तत्त्व मानते हुये भी वामन ने अलंकारों को सर्वथा बाह्य तत्त्व नहीं माना है। क्योंकि—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्
सौन्दर्यमलंकारः
स च दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।

इसप्रकार स्पष्ट है कि सौन्दर्य की प्रतिपत्ति दोषाभाव एवं गुण तथा अलंकार के आदान से होती है। किन्तु फिर भी जब दोनों के बलाबल का प्रश्न उठता है तो यद्यपि दोनों ही सौन्दर्य सृष्टि के माध्यम हैं, फिर भी वामन उनमें से गुण को यौवन[1] की भाँति नित्य एवं अंतरंग धर्म मानते हैं तथा अलंकार को बाह्य एवं अतिशायी। इसप्रकार सौन्दर्य विधान की दृष्टि से अलंकारकोटि गुण की अपेक्षा हीन हो जाती है। परन्तु ध्यान से देखा जाने तो वामन ने गुण की यौवन से उपमा देकर एक ओर उसका अन्तरंगत्व तो स्थापित किया ही है किन्तु साथ ही उसका नित्यत्व भी व्यवहित कर दिया है। क्योंकि यौवन हमेंशा नहीं रहता। इसप्रकार हम देखते हैं कि वामन के गुण और अलंकार में रूपभेद तो है किन्तु परिणाम भेद नहीं है। इस दृष्टि से उनका गुण भी साधन कोटि में ही आता है, साध्य नहीं।

४. भामह ने अलंकारों का मूल वक्रोक्ति, दण्डी ने अतिशयोक्ति माना है, वहाँ वामन ने उपमा को समस्त अलंकारों के मूल में स्वीकार किया है।

५. वामन की विषय प्रतिपादन शैली में भी नवीनता है। इन्होंने अबतक काव्य-शास्त्र में प्रचलित कारिका वृत्ति शैली के स्थान पर सूत्रवृत्ति शैली का उपयोग किया है। उनके सूत्र सहज ही हृदयगम्य हैं तथा वृत्ति ने उन्हें और सहज बना दिया है। परवर्ती काल में यद्यपि वामन का सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ, किन्तु

---

१. युवतेरिव रूपमंगकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
३.१.२ की वृत्ति में

विषय विवेचन की दृष्टि से उसमें जो स्पष्टता है वह किसी भी अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ में उपलब्ध होना दुष्कर है ।

६. वामन रीति को विशिष्ट पदरचना मानते हैं और रीति का मूलतत्व गुण को स्वीकार करते हैं । इस दृष्टि से वामन की रीति एवं गुण अन्योन्यवाची हैं । गुण को आत्मनिष्ठ धर्म मानकर इन्होंने अपनी तत्वार्थदर्शिनि दृष्टि का परिचय दियाहै । किन्तु गुणों को शब्दार्थ सीमा में समाविष्ट करके, ऐसा लगता है । जैसे वामन लक्ष्य को छू कर पुनः अलक्ष्योन्मुख हो गये हैं ।

७. परवर्ती काल में वामन का मत समादृत न हो सका इसका एक प्रमुख कारण उनका गुण और रीति में अभेद मानना है । समग्र गुणों से युक्त वैदर्भी उत्तम काव्य का निदर्शन है । ओज तथा कान्ति गुण से संवलित गौडी रीति रस संस्पर्श से युक्त है । किन्तु माधुर्य और सौकुमार्य से उपपन्न पाञ्चाली तो ध्वनिवादियों के चित्रकाव्य के समकक्ष ठहरती है । रसभावादि की विवक्षा से शून्य उक्ति वैचित्र्य से युक्त काव्य—चित्र काव्य नहीं तो और क्या है ?

साथ ही वैदर्भी के लिये जो वामन ने यह कहा है 'तासां पूर्वा ग्राह्या गुण साकल्यात्'[1]—इससे सर्गबन्ध में तो उत्तम काव्यत्व घटित हो जाता है किन्तु मुक्तक काव्यों में समस्त गुण घटित नहीं हो सकते, अतः मुक्तक उत्तम काव्य के पद से च्युत् हो जाता है ।

८. वामन ने 'सौन्दर्यमलंकारः' के द्वारा सौन्दर्य रूप जिस व्यापक तत्त्व का निर्देश किया है, उसको निर्दिष्ट मात्र करके एकदम छोड़ दिया है तथा मनोनिवेश के साथ सौन्दर्य साधनों की ही चर्चा की है ।

उद्भट

उद्भट ने अनुप्रास अलंकार के प्रसंग में परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या या कोमला—इन तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है ।[2] मम्मट ने भी स्पष्ट शब्दों

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१४.

२. (अ) शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ॥ पृ० २५७.
(ब) सरूपसंयोगयुतां मूर्न्धि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिका बुधाः ॥ पृ० २५८.
(स) शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥ पृ० २५९.

में कहा है कि उपनागरिका, परुषा और कोमला—इन तीन वृत्तियों को ही कुछ लोगों ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामों से अभिहत किया है।[1]

रुद्रट

वामनोपरान्त रुद्रट के विवेचन में कुछ नवीनता दृष्टिगत होती है। रुद्रट ने पदों की समस्तता या असमस्तता (समास या समासाभाव) के आधार पर रीतियों का विभाजन किया है।[2] उनके अनुसार समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ होती हैं—जो कि पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया नाम से कही गयी हैं।[3] जिनमें से पाञ्चाली में दो या तीन पद समस्त होते हैं, लाटीया में पाँच या सात तथा गौडीय में कवि अपनी शक्तिभर पदों को समस्त करता है। कहने का आशय यह है पाञ्चाली स्वल्प समासवाली है, लाटीया मध्यम समास वाली है तथा गौडीय बहुसमासवती रीति है। असमासवती वृत्ति की एक मात्र रीति वैदर्भी है 'वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव'।[4] रुद्रट ने लाटीया नामक एक नवीन रीति की उद्भावना की है।

साथ ही रुद्रट सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने रीति का सम्बन्ध रस से स्थापित किया है। उनके अनुसार प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियों की योजना होनी चाहिये तथा रौद्र रस में लाटीया एवं गौडीया रीतियों की रचना करनी चाहिये। साथ ही रुद्रट रीतियों के औचित्यानुकूल वर्णन पर बल देते हैं। अर्थात् रीतियों की रचना इसप्रकार करनी चाहिये जिससे रस के स्वरूप का अतिक्रमण न हो। इसीलिये इन्होंने रसानुकूल रीतियों के विधान को निर्दिष्ट किया है।[5] ध्वनिपूर्ववर्ती एवं परवर्ती मतों में पार्थक्य को दृष्टिगत कराने के लिये परवर्ती

---

१. (क) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ॥ सू० १०७
   (ख) ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा ॥ सू० १०८
   (ग) कोमला परैः। सू० १०९
   (घ) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। सू० ११०
   एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः।

२. नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।
   वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्युः रीतयस्तिस्रः ॥ २.३.

३. पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
   लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥ २.४.

४. काव्यालंकार, २.६.

५. वैदर्भीपाञ्चाल्यो प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
   लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ॥ १५.२०॥

रीति सम्बन्धी मतों को दृष्टिगत कराना परमावश्यक है। अतः हमने यहाँ सर्वप्रथम परवर्ती रीति मतों को उपस्थित किया है तदुपरान्त समीक्षा प्रस्तुत की है।

आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना के नाम से अभिहित किया है। वे संघटना को गुणाश्रित मानते हैं जो रसाभिव्यञ्जक होती है। तात्पर्य यह है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि में संघटना का आश्रयपक्ष उतना प्रबल नहीं है जितना कि उसका अभिव्यङ्ग्य पक्ष। वामन गुण और रीति को अभिन्न मानते हैं अतः आश्रयाश्रयीभाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु आनन्दवर्धन गुणों को स्पष्टतया रसाश्रित स्वीकार करते हैं।[1]

संघटना और गुण को अभिन्न मानने वाले वामन के पक्ष में गुणों का जो निर्धारित विषय नियम है वह भी अव्यवस्थित होने लगता है। अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसादादि गुणों का नियमन रसों के आधार पर होता है। यथा शृंगार में माधुर्य गुण तथा वीर में ओज गुण की स्थिति होती है। ये गुण वर्णों के द्वारा व्यञ्जित होते हैं। अलग-अलग गुणों के पृथक्-पृथक् व्यञ्जक वर्णों को नियमित किया गया है। किन्तु कभी-कभी उनमें व्यपदेश भी पाया जाता है। अतः गुणों के विषय नियम की रक्षा के लिये आनन्दवर्धन ने रसातिरिक्त नियामक तत्त्वों की चर्चा की है। 'तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।[2] अर्थात् संघटना के नियमन का हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य ही है। संघटना के नियमन में विषय भी एक प्रमुख हेतु है—

'विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा'॥[3]

क्योंकि काव्य के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि अनेक प्रकार के काव्य हैं—जिनके आश्रय से संघटना में भेद हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन रीति को प्रमुख तत्त्व नहीं मानते अपितु रसध्वनि की अभिव्यंजना में उसे सहायक के रूप में स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जब लोगों के समक्ष ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट नहीं था उसकी केवल धुँधली छाया मात्र थी, अतः उस काव्य सौन्दर्य के मूलभूत तत्त्व को उन्होंने रीति रूप में

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ २·६

२. ध्वन्यालोक, ३·६.

३. वही, ३·७.

प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया ।[१] किन्तु ध्वनि निरूपण के अनन्तर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ध्वनि का क्षेत्र व्यापक है तथा रीति उसमें व्याप्य है । अतः रीति को अंग रूप में ही समझना चाहिये । वक्तृ, वाच्य एवं विषय की दृष्टि से किया गया रीति का विभाजन ही समुचित है, वैदर्भी, गौडी आदि भेद उपयुक्त नहीं हैं ।

राजशेखर

राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में रीतियों का विस्तृत विवेचन किया है–'तत्र······वचन विन्यास क्रमो रीतिः'[२] यह उनकी रीति की परिभाषा है । वे रीति को शब्दों या पदों का विन्यासक्रम ही मानते हैं । राजशेखर ने तीन ही रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भी, मागधी और पाञ्चाली, जिसका संकेत उनकी 'कर्पूर-मञ्जरी' में प्राप्त होता है—

'वैदर्भी तथा मागधी स्फुरतु नः सा किञ्च पाञ्चालिका ।
रीति का विलिहन्तु काव्यकुशला ज्योत्स्नां चकोरा इव' ।।[३]

इन तीन रीतियों में राजशेखर ने वैदर्भी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है तथा उसे ही ग्राह्य बतलाया है । वे वैदर्भी को रस प्रसू वाग्देवता का अधिष्ठान कहते हैं–
'वाग्देवतावसति यत्र रस प्रसूति लीलापदं भगवतोमदनस्य यच्च ।
प्रेङ्खद्विदग्धवनितां चितराजमार्गं तत् कुण्डिनं नगरमेषविभुर्विभर्ति ।।[४]

इतना ही नहीं अन्यत्र भी वे कहते हैं—'वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्पन्दते श्रोत्रलेह्यम्' ।[५]

'वालरामायण' के दसवें अंक में 'मैथिली' नामक नई रीति का विवेचन प्राप्त होता है, जो कि वैदर्भी से ही मिलती-जुलती है, किन्तु परवर्ती काल में यह प्रचलित नहीं हुई ।

कुन्तक

राजशेखर के अनन्तर कुन्तक ने रीति की मौलिक व्याख्या की है । इन्होंने रीति को पुनः मार्ग नाम दिया और मार्ग के तीन भेद माने हैं—सुकुमार, विचित्र तथा उभयात्मक मध्यममार्ग ।[६] एक बात यहाँ ध्यान देने की है कि कुन्तक ने काव्य में

१. वही, ३·४७,
२. काव्यमीमांसा, पृ० २५.
३. कर्पूरमञ्जरी, १·१.
४. वालरामायण, ३·५०,
५. वही, ३·१४,
६. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ।। १·२४

कवि स्वभाव को प्रमुखता प्रदान की है (कविप्रस्थानहेतवः)। इसीलिये मार्ग का निरूपण उसी के आधार पर किया है। साथ ही कुन्तक को रीतियों का दैशिक विभाजन मान्य नहीं है, क्योंकि देशों की अनन्तता के साथ रीति भी अनन्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी को जो उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटि में रखा गया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि काव्य में 'अगतिकगतिन्याय' (अर्थात् जो चलने में सर्वथा असमर्थ है वह जो कुछ भी थोड़ा-वहुत चल ले वही पर्याप्त होता है) उचित नहीं। उनकी मान्यता है कि काव्य रचना उत्तम ही की जानी चाहिये। यद्यपि कविस्वभाव की अनन्तता के कारण मार्ग भेद अनन्त हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उन्हें नियत करने की दृष्टि से तीन ही भागों में निर्धारित किया गया है।

सुकुमार मार्ग में निपुणता और अभ्यास की अपेक्षा प्रतिभा का प्राधान्य होता है। इस मार्ग में सहज वस्तु वर्णन पर अधिक वल दिया गया है। विचित्र मार्ग में उक्तिवैचित्र्य अपनी पराकाष्ठा पर होता है। अलंकारों का अत्यधिक प्रयोग होता है। यहाँ तक कि एक ही अलंकार के प्रयोग से असन्तुष्ट होकर एक अलंकार के लिये दूसरे अलंकार की रचना कवि करता है। जिस मार्ग में सहज तथा आहार्य कान्ति के उत्कर्ष से शोभित होने वाली सुकुमारता एवं विचित्रता संकीर्ण होकर अर्थात् एक दूसरे से मिश्रित होकर शोभित होती है उसे मध्यम मार्ग कहते हैं।[1]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कुन्तक ने तीनों ही मार्गों में पाये जाने वाले माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणों का उल्लेख किया है। किन्तु ये गुण नाम्ना समान होते हुये भी प्रत्येक मार्ग में अपनी विशिष्टता से विशेषित हैं।

भोज

भोजराज मार्ग, पन्थाः, पथ आदि को रीति के पर्याय के रूप में स्वीकार करते हैं। रीति शब्द 'रीङ्गतौ' धातु से निष्पन्न हुआ है—

> वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
> रीङ्गताविति धातोःसा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते ॥[2]

भोज ने छः रीतियों को प्रतिपादित किया है—वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी, आवन्तिका और मागधी।

१. समासरहित श्लेषादि गुणों से युक्त वैदर्भी रीति होती है—

---

१. वैचित्र्यं सौकुमार्यं च यत्र सङ्कीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥ १·४९.

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, २·२७.

तत्रासमासा निःशेषश्लेषादि गुणगुम्फिता।
विपंचीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥[1]

२. गौडी रीति बहुल समास से युक्त तथा ओज एवं कान्ति गुण से सुशोभित होती है—

समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्वितम्।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥[2]

३. पांचाली रीति ओज एवं कान्तिगुण से रहित, मध्यम समास युक्त तथा मधुर एवं सुकुमार होनी चाहिये—

समस्तपंचषपदामोजः कान्तिविवर्जिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचालीं कवयो विदुः ॥[3]

४. लाटीया सभी रीतियों के मिश्रण का नाम है।

५. वैदर्भी तथा पाञ्चाली के मध्य की रीति आवन्तिका है—

अन्तराले तु वैदर्भीपांचाल्योर्याऽवतिष्ठते।
साऽवन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ॥[4]

६. सभी रीतियों के मिश्रण में जो कसर रह जाती है वह खण्डरीति ही मागधी कहलाती है—

समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते।
पूर्वरीतिनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी ॥[5]

मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। उन्होंने रीतियों का विस्तृत विवेचन नहीं किया है। उन्होंने उपनागरिका, परुषा, ग्राम्या नामक तीन वृत्तियों (अनुप्रास) के वर्णन के के प्रसंग में यह बात निर्दिष्ट की है कि ये ही वामनादि के मत में वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के नाम से अभिहित होती हैं। उनके अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है—

वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः।[6]

---

१. वही, २.२९.
२. वही, २.३१.
३. वही, २.३०.
४. सरस्वतीकण्ठाभरणम् २.३२.
५. वही, २.३३.
६. काव्यप्रकाश, ९.१०५ की वृत्ति.

ये भी रस को प्रधान तथा रीति को अंग मानते हैं तथा रीति के नियामक के रूप में वक्तृ, वाच्य और विषय के औचित्य को स्वीकार करते हैं। रीति गुणाश्रित होती है, गुणों का विषय नियम व्यवस्थित होने से। रीति गुणों के आश्रय से रस की अभिव्यंजना में सहायक सिद्ध होती है।

साहित्यदर्पणकार ने ठीक इसी तथ्य को परिभाषाबद्ध किया है—'पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्, उपकर्त्री रसादीनाम्।'[1] ये भी आनन्दवर्धन के ही समान 'रीति' और 'संघटना' को एक ही मानते हैं संघटना रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसे रसभावादि की उपकर्त्री माना है।

ध्वनिपूर्ववर्ती एवं परवर्ती रीति मतों में पार्थक्य

वामन से लेकर साहित्यदर्पणकार तक की रीति सम्बन्धी परिभाषाओं से यह बात तो एकदम स्पष्ट हो ही जाती है कि सभी ने रीति को शब्द एवं अर्थ के विशिष्ट संघटना के रूप में स्वीकार किया है। यह बात दूसरी है कि वामन की दृष्टि में जो रीति आत्मस्थानीय थी वह परवर्ती अलंकारशास्त्र में अंगमात्र रह गयी। गुणों से उसका नित्य सम्बन्ध अब भी स्वीकार किया जाता है किन्तु भिन्न रूप में; गुण रस के धर्म माने गये तथा रीति उनके आश्रित मानी गयी। यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी यह भेद स्वीकार किया है किन्तु अन्य ध्वनिवादी आचार्य यह भेद नहीं मानते हैं—वे रीति का विभाग वक्तृ, वाच्य और विषयौचित्य के आधार पर करते हैं। वस्तुतः वर्णों के आधार पर काव्य की विभिन्न कोटियों या विभिन्न ढाँचों का निर्माण अनुपयुक्त है। यह सत्य है कि इस प्रकार के भेद की अनुभूति होती है, किन्तु इस कर्णगोचर अनुभूति को विभाजन का आधार नहीं बनाया जा सकता।[2]

रीति : सामान्य समीक्षा

परवर्ती काल में यद्यपि रीति को साधन के रूप में ग्रहण किया गया है, किन्तु फिर भी उसके महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। कवि के भाव रीति के द्वारा ही अभिव्यक्ति पथ पर अवतरित होते हैं; इस दृष्टि से कवि और सहृदय के मध्य का सेतु रीति ही है। यद्यपि वामन गुणों के आधार पर वैदर्भी, गौडी और

---

१. साहित्यदर्पण, ९·१.

२. The attempt, therefore, to stereotype the entire poetical output into so many ready made dictions and fixed excellences, was bound ultimately to be discarded in favour of other and more penetrating principles.

S. K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 107.

पाञ्चाली रूप भेद करके, अपने मत को तर्कसंगत ढंग से उपस्थित नहीं कर सके हैं। क्योंकि वामन के रीतिनिर्धारक गुण काव्यशोभा के जनक हैं। अत: यहाँ प्रश्न होता है कि यदि प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् काव्यशोभा-जनन में समर्थ है तो फिर अनेकानेक ऐसे वाक्यों में जिनमें ओजादि गुणों की तो सत्ता है, किन्तु काव्य सौन्दर्य नहीं है, काव्यत्व व्यभिचरित होने लगेगा। यदि समस्त गुणों की सत्ता में काव्यत्व माना जाये तो गौडी एवं पाञ्चाली रीति में निवद्ध काव्यों में अव्याप्ति दोष जा जायेगा। इन्हीं सव कारणों से वामन का रीति सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ। अन्यथा रीति का महत्त्व तो आधुनिक युग में और भी अधिक बढ़ गया है। शैली विज्ञान—रीति का ही विकसित रूप है, जिसका अध्ययन स्वतन्त्र शाखाओं में हो रहा है। आधुनिक आलोचना पद्धति में भाषा के स्वरूपगत या शिल्पगत तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है, क्योंकि काव्य उसी के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। सही अर्थ में काव्य का काव्य की दृष्टि से परीक्षण उसके स्वरूपगत आधार पर ही किया जा सकता है, इस दृष्टि से रीति का महत्त्व असंदिग्ध है। प्रतीयमानार्थ जिस व्ञ्जना के द्वारा व्यङ्ग्य होता है, वह भी तो विशिष्ट रीति, पद्धति या मार्ग ही तो है। वामन ने काव्य सौन्दर्य के लिये जिन दोषों के हान एवं गुणालंकार के उपादान की वात की थी उसे परवर्ती काल में प्रकारान्तर से मम्मट ने भी 'तददोषौ शव्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा अंगीकार किया ही है।

वृत्ति, प्रवृत्ति और शैली के प्रयोग भेद

१. वृत्ति

"'वृत्ति' शव्द की व्युत्पत्ति 'वृत्' धातु में क्तिन प्रत्यय के योग से होती है। वर्तन का अर्थ होता है जीवन और वृत्ति उस जीवन को सहायता पहुँचाने वाली जीविका है। इसीलिये वृत्ति का अर्थ हुआ पुरुषार्थ का साधक व्यापार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता देने वाला व्यापार, वृत्ति का क्षेत्र तो नितान्त विस्तृत है और समस्त जगत को व्याप्त करता है। काव्य और नाटक भी वृत्ति के क्षेत्र के भीतर हैं, यह कथन पुनरुक्ति मात्र है।"[1]

अलंकारशास्त्र के इतिहास में वृत्तियों का कई अर्थों में प्रयोग प्राप्त होता है— १. अनुप्रासगतवर्णवृत्तियाँ–उपनागरिकादि २. समास और असमास वृत्ति ३. शव्द-व्यापार या शव्दशक्ति के रूप में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना रूप वृत्ति ४. भरतोक्त नाट्यवृत्तियाँ, यह तो वृत्तियों के भिन्न-भिन्न अर्थों में प्राप्त होने की वात है। किन्तु अलंकारशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम 'वृत्ति' शव्द का प्रयोग भरत के

१. पं० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० १६०.

नाटचशास्त्र में ही प्राप्त होता है। भरत ने वृत्तियों को अत्यधिक महत्त्व दिया है तथा उन्हें सभी काव्यों की जननी कहा है।

सर्वेषामेव काव्यानां मातृकावृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिस्सृता ह्येतद् दशरूपे प्रयोगतः।।'[1]

भारती आदि अर्थ वृत्तियाँ

इसके अतिरिक्त २२वें अध्याय में भरतमुनि ने भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी आदि चार नाटचवृत्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। इनमें से वाणी के अभिनय से भारती का, सात्त्विक अभिनय से सात्त्वती का, कायिक अभिनय के उग्र रूप से आरभटी का तथा सौम्य रूप से कैशिकी वृत्ति का सम्बन्ध माना गया है। इनमें भारती वृत्ति शब्द प्रधान है तथा अन्य वृत्तियाँ अर्थप्रधान हैं। भरतमुनि ने यह माना है कि ऋग्वेद से भारती, यजुर्वेद से सात्त्वती, सामवेद से कैशिकी तथा अथर्ववेद से आरभटी उत्पन्न हुई है।[2] रस के साथ इन वृत्तियों का सम्बन्ध जोड़ते हुये भरत ने सात्त्वती को वीर, रौद्र और अद्भुत के आश्रित माना है, कैशिकी को शृंगार और हास्य के, आरभटी को भयानक और वीभत्स के तथा भारती को करुण और अद्भुत के आश्रित माना है—

शृंगारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया।।
भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया।।[3]

अभिनवगुप्त ने 'व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः' कहकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के साधक व्यापार का नाम वृत्ति माना है। इतना ही नहीं वे 'सर्वो हि संसारो वृत्ति चतुष्केन व्याप्तः' से समस्त संसार को इन वृत्तियों से व्याप्त मानते हैं।

समासवती वृत्ति

समास एवं असमास के आधार पर वृत्ति का प्रयोग सर्वप्रथम रुद्रट ने किया—

नाम्ना वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमास भेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्युः रीतयस्तिस्रः।।[4]

---

१. नाटचशास्त्र, २०·४.
२. वही, २२·२४,
३. नाटचशास्त्र, २२.६५–६६,
४. रुद्रट, काव्यालंकार, २·३.

अर्थात् नामों की वृत्ति दो प्रकार की होती है—समासवती तथा असमासवती। तथा इनमें भी समासवती वृत्ति के पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया ये तीन भेद होते हैं—

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥[1]

एवं असमासा वृत्ति की वैदर्भी ही एक मात्र रीति है—

'वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।[2]

अनुप्रासवृत्ति

इसके अतिरिक्त अनुप्रास भेदों का वर्णन करते समय पाँच प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—

मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः॥[3]

अर्थात् वर्णों की भिन्नता के कारण इस अनुप्रास की पाँच वृत्तियाँ होती हैं—मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा। अनुप्रास अलंकार के वर्णन के प्रसंग में 'वृत्ति' शब्द के सर्वप्रथम प्रयोक्ता आचार्य उद्भट हैं। उन्होंने तीन प्रकार की वृत्तियों के समाश्रयण के कारण अनुप्रास को तीन प्रकार का माना है–परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला।[4]

आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही संघटना, वृत्ति और रीति में अभेद की स्थापना करते हैं–'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्त-वृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः।[5]

ध्वनिकार ने शब्द और अर्थ के भेद से वृत्तियों के दो भेद स्वीकार किये हैं—

---

१. वही, २·४.
२. रुद्रट, काव्यालंकार, २·६,
३. वही, २·१९.
४. अनुप्रासः। स च त्रिविधो वृत्तिसंश्रयात्।······अतस्तास्तावद् वृत्तयो रसाद्य-भिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः प्रथममभिधीयन्ते। ताश्च तिस्रः, परुषोप-नागरिकाग्राम्यत्वभेदात्।
उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या, पृ० २५६-५७
५. ध्वन्यालोक, पृ० ५

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥[1]

आनन्दवर्धन ने वृत्ति को परिभाषित करते हुये–व्यवहार को ही वृत्ति माना है–'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते' ।[2] इनमें शब्द के आश्रित जो व्यवहार हैं वे उपनागरिकादि उद्भटोक्त शब्दवृत्तियाँ हैं। अर्थ के आश्रित जो व्यवहार हैं वे कैशिक्यादि भरतोक्त अर्थवृत्तियाँ हैं। भरत की चारों वृत्तियों का सम्बन्ध रस से है—इसीलिये ध्वन्यालोककार ने उसे 'अर्थाश्रितवृत्ति' माना है। उपनागरिका, परुषा और ग्राम्मा इन तीनों वृत्तियों का सम्बन्ध मुख्यतः शब्दों से है इसीलिये ध्वनिकार ने इसे 'शब्दाश्रित' वृत्ति माना है।

ध्वनिकार ने ध्वनि की आत्मत्वेन प्रतिस्थापना की है यह तथ्य निर्विवाद है। इसीलिये अन्य सभी तत्त्वों का आत्मभूत ध्वनि में उन्होंने समाहार किया। आत्मत्वेन रीति की अनुपयोगिता पर प्रकाश डालने के अनन्तर वे वृत्ति की अनुपयोगिता पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं—

'अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनामये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति ।'[3]

कहने का आशय यह है कि जिस प्रयोजन विशेष की सिद्धि इन शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित वृत्तियों के द्वारा होती है, वह प्रयोजन ध्वनि के द्वारा सिद्ध हो ही जाता है। अतः महाविषयत्व से युक्त होने के कारण ध्वनि सिद्धान्त के आविर्भावोपरान्त वृत्ति अनुपयोगी सिद्ध हो जाती है।

रीति और वृत्ति में अभेद

मम्मट ने रीति और वृत्ति में अभेद माना है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों के वर्णन के प्रसंग में वे कहते हैं—'एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगौडीपाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः' ।[4] मम्मट वृत्ति को वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार मानते है—'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः' ।[5] माणिक्यचन्द्र ने भी मम्मटाभिमत इसी अभेद को स्वीकार करते हुये कहा है— 'एतेन रीतयो

---

१. ध्वन्यालोक, ३·३३.
२, वही, ३.३३ की वृत्ति, पृ० २४५.
३. वही, ३·४८ की वृत्ति, पृ० ३३२.
४. काव्यप्रकाश, सूत्र ११० की वृत्ति, पृ० ४०६.
५. वही, सूत्र १०४ की वृत्ति, पृ० ४०४.

वृत्यात्मका इत्यर्थः।' परवर्ती काव्यशास्त्र में भी पण्डितराज आदि ने रीति और वृत्ति में अभेद को स्वीकार किया है।

यह बात दूसरी है कि राजशेखर ने रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति को भिन्न-भिन्न मानते हुये उन्हें परिभाषित किया है। उनके अनुसार—'वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलास विन्यासकमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः।'[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर की वृत्ति भरतमुनि की कैशिक्यादि अर्थवृत्तियों पर आश्रित है। क्योंकि 'काव्यमीमांसा' में काव्यपुरुष का वर्णन करते समय उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रदेशों की रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है तथा इनके युग्मों को निर्धारित किया है। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

	वृत्ति	प्रवृत्ति	रीति
१.	भारती	औड्रमागधी	गौडीया
२.	सात्वती	पाञ्चाली	पाञ्चाली
३.	आरभटी	आवन्ती	—
४.	कैशिकी	दाक्षिणात्या	वैदर्भी

उक्त वर्णन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि भरतोक्त कैशिक्यादि नाट्य वृत्तियाँ वैदर्भी, गौडी और पञ्चाली आदि रीतियों से सर्वथा भिन्न हैं। आनन्दवर्धन एवं मम्मट ने जो रीतियों-वृत्तियों में अभेद की स्थापना की है उसमें उनका तात्पर्य उपनागरिकादि वृत्तियों तथा वैदर्भी आदि रीतियों से है। कैशिक्यादि वृत्तियों से भेद तो ध्वनिवादी आचार्य भी मानते हैं।

आनन्दवर्धन ने रीतियों और वृत्तियों में अभेद की ही स्थापना नहीं की है अपितु गुणालंकार से उनका अनतिरिक्तत्व सिद्ध किया है। वृत्तियाँ वस्तुतः अनुप्रास की जातियाँ हैं। दीप्त, मसृण और मध्यम वर्णनों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, ललितत्व और मध्यमत्व स्वरूप के विवेचन हेतु तीन अनुप्रास जातियाँ 'वृत्तियाँ' कही गयी हैं। इसमें परुष अनुप्रास वाली वृत्ति परुषा है, मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका है, मध्यम अर्थात् अकोमल एवं अपरुष अनुप्रास वाली वृत्ति ग्राम्या है। 'तस्माद् वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्त वृत्तयो नाभ्यधिक व्यापाराः।'[2] यही कारण है कि भामहादि ने वृत्तियों एवं रीतियों का अलग से विवेचन नहीं किया है। उद्भट ने वृत्तियों की अलग सत्ता स्थापित करने का यत्न तो किया है किन्तु उसमें कोई विशिष्ट तथ्य नहीं है इसीलिये ध्वनिकार ने (तदनतिरिक्त

१. काव्यमीमांसा, पृ० २५.
२. लोचन, पृ० २१.

वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः), 'ता अपि गताः श्रवणगोचरम्'[1] कहकर निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार उन माधुर्यादि गुणों का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषयरूप—गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल देश के स्वभानुकूल त्रिविध रीति कही गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतियाँ भी गुणाश्रित ही हैं। यही कारण है कि अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—'जातिर्जातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालंकारव्यतिरिक्ता इति ।[2]

ध्वनिवादियों की दृष्टि चूँकि 'आत्मा' या 'तत्त्व' पर है इसीलिये गुण को अभिव्यङ्ग्य माना है तथा रीति को अभिव्यञ्जक। रीतिवादियों की दृष्टि चूँकि देहवादी थी (यद्यपि वे स्वयं को देहवादी नहीं मानते हैं) इसीलिये उन लोगों ने अभिव्यंजक (रीति) को अधिक महत्त्व दिया। अभिव्यङ्ग्य (गुण) को प्रधानता देने के कारण ही मम्मट ने उपनागरिकादि वृत्तियों एवं रीतियों में एकता स्थापित की है। क्योंकि उपनागरिकादि वृत्तियों में भी माधुर्य आदि गुणों की प्रधानता रहती है तथा वैदर्भ्यादि रीतियों में भी विभाजन माधुर्यादि गुणों को आधार बनाकर किया जाता है। इसीलिये दोनों को एक माना है।

प्रवृत्ति

प्रवृत्तियों का सर्वप्रथम वर्णन भरत ने किया है। प्रवृत्ति का सम्बन्ध दैशिक होता है, जबकि रीति का सम्बन्ध मात्र वचन विन्यास से होता है। भरत मुनि ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और मागधी।[3] प्रवृत्ति को परिभाषित करते हुये उन्होंने कहा है कि 'पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारा वार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च निवेदने[4]' संसार के विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय वेश, आचार, भाषा तथा कार्य व्यवहार को सूचित करने के कारण यह 'प्रवृत्ति' कहलाती है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रवृत्ति के निरूपण में भरत के इस मत का समर्थन किया है। राजशेखर ने रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति के भेद को अत्यन्त स्पष्टतया व्यक्त किया है—'तत्र वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यास क्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ५.

२. लोचन, पृ० २२,

३. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाटय प्रयोक्तृभिः ।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी ॥ १४·३६,

४. नाटयशास्त्र, पृ० १८७.

रीतिः ।[1] काव्यपुरुष के वर्णन के प्रसङ्ग में इन्होंने वेष विन्यास क्रम को प्रवृत्ति माना है। राजशेखर ने भी प्रवृत्तियों की संख्या चार मानी है—आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली और औड्रमागधी। भारतवर्ष के पश्चिम भाग में आवन्ती, विन्ध्यपर्वत से दक्षिण भारत में दाक्षिणात्या, पूर्वी भारत में औड्रमागधी तथा मध्य और उत्तर भारत में पाञ्चाली प्रवृत्ति का क्षेत्र माना जाता है। प्रवृत्तियों का सम्बन्ध मुख्यतया नाट्य से है।

शैली (Style)

शैली और रीति के अन्तर को समझने के पूर्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम शैली के अर्थ को समझ लें। शैली शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' का हिन्दी अनुवाद है। शैली का अर्थ है–ढंग। जीवन की प्रत्येक दिशा में, प्रत्येक कार्य प्रणाली में इस शैली का उपयोग होता है और वह तद्-तद् शैली के आख्यान से आख्यायित होती है। यथा रहन-सहन की शैली, खाने-पीने की शैली, वोलने लिखने की शैली आदि। किन्तु यहाँ रीति के प्रसंग में शैली का अध्ययन वोलने लिखने की शैली तक केन्द्रित है। प्रतिमानव भेद के साथ साथ अभिव्यक्ति के प्रकार भी अनन्त हैं। इस तथ्य को दण्डी ने 'अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्म भेदः परस्परम्, के द्वारा प्राचीन काल में ही घोषित कर दिया था। सामान्यतः भाषा का दो रूप हमारे समक्ष आता है—एक तो वोलचाल की भाषा जिसे हम सामान्य भाषा के नाम से अभिहित कर सकते हैं, दूसरी अलंकृत ढंग से कही गयी—जिसे हम काव्यभाषा कह सकते हैं। सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनाने का श्रेय शैली को ही है। यथा शुष्क वृक्ष को सम्बोधित करने के लिये 'शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' यह भी कहा जा सकता है तथा 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' यह भी कहा जा सकता है। वात एक है मात्र शैली का भेद है। "वस्तुतः देखा जाये तो वामन ने काव्य में निहित 'सौन्दर्य' को 'अलंकार' कहा है और 'अलंकार' के ही कारण काव्य को ग्राह्य (सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक ग्राह्य) माना है, अथवा दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य = अलंकार = काव्य, ठीक उसीप्रकार शैली—काव्यभाषा और काव्य को हम उपचार से एक रूपात्मक मान सकते हैं, भले ही ये तत्त्व समझने समझाने के लिए अलग माने जाते रहें।"[2]

अतः हम स्वीकार कर सकते हैं कि काव्यभाषा ही उपचार से शैली कही जाती है। इसप्रकार शैली से अभिप्राय कवि के लेखन प्रकार से है तथा शैली विज्ञान कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा के विभिन्न अवयवों का अध्ययन करता है। यह शैली का ही चमत्कार है कि काव्यगत शब्दों में विशेषता न होने पर भी काव्य के शब्दार्थ

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० २५

२. सत्यदेव चौधरी, शैली विज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० २१.

व्यापार में विशेषता लक्षित होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति ही शैली है तथा रचना सौष्ठव ही काव्यकला का अभिप्रेत इष्ट है, इस दृष्टि से वामन की यह उक्ति 'रीतिरात्मा काव्यस्य' नितान्त संगत है। भाषाविद् आलोचक साहित्य को एक विशेष भाषिक विधान के रूप में ही स्वीकार करते हैं। जैसा कि हम निर्देश कर चुके हैं कि शैली एक विशिष्ट भाषिक विधा ही है, अतः इस दृष्टि से साहित्य का अध्ययन शैली का ही अध्ययन है। किन्तु यह तो शैली विज्ञान के प्रति अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टि है। शैली विज्ञान के व्यापक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी साहित्य और शैली में अभेद नहीं माना जा सकता है। क्योंकि साहित्य के समस्त पक्ष भाषाश्रित ही नहीं हैं, वहुत कुछ भाषेतर भी हैं। नाटक के मूक दृश्यों को मुखर दृश्यों से कम प्रभावी नहीं माना जा सकता है। अतः भाषिक विश्लेषण को साहित्य समीक्षा का एक अंग माना जा सकता है। साथ ही इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि साहित्य शाब्दिक कला है। अतः साहित्य की प्रकृति को समझने में उसके शाब्दिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। शैली चूँकि भाषिक विधा है अतः भाषा की प्रकृत्ति एवं संरचना के अध्ययन में यह भाषा विज्ञान का सहारा लेता है। इसीलिए "शैली विज्ञान का निकटतम सम्वन्ध एक ओर प्रतिपाद्य विषय के रूप में साहित्यिक सिद्धान्त के साथ सिद्ध है तो दूसरी ओर कार्य प्रणाली के रूप में भाषा-वैज्ञानिक टेकनीक के साथ भी।...शैली विज्ञान का चिन्तन वस्तुपरक है और दृष्टि भाषावादी।...शैलीविज्ञान साहित्यिक सिद्धान्त का वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है और आलोचना की आधुनिक भूमिका भी।"[1]

शैली विज्ञान का निकटतम सम्बन्ध चूँकि भाषा विज्ञान से है अतः रूप विज्ञान, पदविज्ञान, अर्थविज्ञान, वाक्यविज्ञानादि से भी है। इनके अतिरिक्त मनोविज्ञानादि से भी इसका सम्बन्ध है। शैली के निम्न ९ तत्त्व हैं, जिनके आधार पर शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।[2]

१. विपथन —**Deviation or Violation**
२. समानान्तरता —**Parallelism**
३. अस्पष्टता ---**Ambiguity**
४. विरोधाभास —**Paradox**
५. भाषिक संरचना में अन्तर—**Difference in Linguistic structure**
६. संरचनात्मक संक्षिप्तता—**Structural Economy**

---

१. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका, भूमिका पृ० iii, iv, v
२. सत्यदेव चौधरी, शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० २६.

७. अर्थ द्योतक ध्वनि प्रयोग, गति, यति और तुक—

Onomatopoeia, Rhythm, Pause and Rhyme

८. अप्रस्तुत विधान—Non-contextuality

९. चयन —Choice

१. विपथन

आरम्भ में ही हमने निर्देश किया है कि सामान्य बोलचाल की भाषा में एवं काव्यभाषा में अन्तर होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा से विपथन ही काव्य-भाषा कहलाती है। इसी तथ्य को भामह ने वार्त्ता और अलंकार के अन्तर को दर्शित करते हुए स्पष्ट कर दिया है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्य वार्त्तामेनां प्रचक्षते ।।[1]

इस वार्त्ता से विपथन हेतु ही उन्होंने अनेकशः वक्रोक्ति प्रयोग पर बल दिया है। इसी तथ्य को वामन ने 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' तथा 'सौन्दर्यमलंकारः' के द्वारा व्यक्त किया है।

न केवल अलंकारवादी अपितु ध्वनिवादियों ने भी इस विपथन की मुक्त कण्ठ से उद्घोषणा की है। आनन्दवर्धन का ध्वनि लक्षण ही इस विपथन का ज्वलन्त उदाहरण है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।'[2]

इसके अतिरिक्त अंगनाश्रित अवयवातिरिक्त लावण्य का वर्णन करके तो इस तथ्य को और भी पुष्ट कर दिया है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ।।[3]

यह विपथन शब्दार्थ भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है। यहाँ अर्थगत विपथन का प्रसिद्ध उदाहरण देखा जा सकता है। कालिदास के द्वारा शिव के 'पिनाकी' एवं 'कपाली' इन दो पर्यायों का प्रयोग बहुचर्चित है—

---

१. काव्यालंकार, २·८७.

२. ध्वन्यालोक, १·१३.

३. वही, १·४.

१. द्वयं गतं सम्प्रतिशोचनीयतां समागम प्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्र कौमुदी ॥[1]

२. कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम् ॥[2]

इन दोनों श्लोकों में क्रमशः 'कपाली' और 'पिनाकी' पद का प्रयोग विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया गया है। यदि इन्हें परिवर्तित कर दिया जाये तो न तो छंद में गण की दृष्टि से अन्तर आयेगा और न अर्थ में किन्तु अनुपयुक्त प्रयोग के कारण सौन्दर्य वाधित होगा।

२. समानान्तरता

इसमें शब्दगत एवं अर्थगत समानान्तरता दोनों का ही अन्तर्भाव होता है। "वर्ण-संगीत का मर्मज्ञ शैलीकार ध्वनियों के साम्य तथा वैषम्य के आधार पर उनका संयोजन कर अपनी रचना में अर्थध्वनन की अतिरिक्त क्षमता उत्पन्न कर देता है।"[3] यही कारण है कि काव्यशास्त्र में अनुप्रास के विविध भेदों का सौन्दर्य वर्णयोजना पर निर्भर है। सम्भवतः इसी सौन्दर्य दृष्टि को ध्यान में रखकर मम्मट ने वर्णवृत्ति एवं रीति को एक मान लिया है। इसी समानान्तरता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर सम्भवतः वामन ने समता नामक गुण का उल्लेख किया है—'मार्गाभेदः समता'[4] अर्थात् जिस शैली में रचना का आरम्भ हो उसी शैली में अन्त, यद्यपि वाद के आलंकारिकों ने समता को गुण नहीं स्वीकार किया है, जबकि अनुप्रास अलंकार की सत्ता को सभी ने मान्यता प्रदान की है।

'त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं।
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ॥[5]

इसे शब्दगत समानान्तरता का तथा—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनानुक्तंरत्नं मधुनवमनास्वादितरसम्।'[6]

इसे अर्थगत समानान्तरता का उदाहरण माना जा सकता है।

---

१. कुमारसम्भवम्, ५·७.
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १·६.
३. डॉ० नगेन्द्र, शैलीविज्ञान, पृ० २३,
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·१·१२.
५. उत्तररामचरितम्, ३·२६.
६. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, २·११.

३. अस्पष्टता

यह अपने आप में दोष है। किन्तु जहाँ मात्र अस्पष्टता की प्रतीति ही होती है, किन्तु वह किसी काव्य चमत्कार का जनन करती है, वहाँ वह विशेषता ही मानी जानी चाहिये। यह अस्पष्टता कई कारणों से उत्पन्न होती है। जहाँ कवि वैदग्ध्य प्रदर्शन हेतु अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करता है, वहाँ अस्पष्टता स्पष्ट झलकती है। इसके उदाहरण भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में यथोचित मात्रा में पाये जा सकते हैं। ऐसे काव्य को ध्वनिवादियों ने चित्रकाव्य की संज्ञा प्रदान की है। यह अस्पष्टता कभी-कभी अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग के द्वारा भी आ जाती है, जिसके नियमन हेतु भर्तृहरि ने चौदह कारणों का उल्लेख किया है–

> संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥[1]

४. असंगतता तथा विरोधाभास

व्याकरण संगत होते हुये भी जहाँ काव्य से व्यक्त होने वाले अर्थ में असंगतता या विरोध प्रतीत हो, किन्तु वस्तुतः वह चमत्कारावह हो वहाँ इसे काव्यभाषा की विशेषता के रूप में स्वीकार किया जाता है। काव्यशास्त्र में इस प्रकार का चमत्कार विरोधाभास, विषम, वक्रोक्ति, असंगति आदि विरोधमूलक अलंकारों में दृष्टिगत होता है। यथा रुद्रट ने वक्रोक्ति अलंकार के लक्षण में जो उदाहरण दिया है, इसका ज्वलंत उदाहरण है—

> 'किं गौरि मां प्रति रुषा ? ननु गौरहं किं ।
> कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम् ॥[2]

५. भाषिक संरचना में विभिन्नता

भाषिक संरचना में विभिन्नता के फलस्वरूप एक ही बात एक ढंग की शैली में कहने पर अधिक आकर्षक प्रतीत होती है। दूसरी शैली में वही बात हृदयावर्जक नहीं लगती। इस तथ्य का भान प्राचीन आचार्यों को भी था। दण्डी ने अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता से युक्त—'मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः'[3] में श्लेष गुण स्वीकार

---

१. वाक्यपदीयम्, २·३१५–१६.
२. काव्यालंकार, २·१५.
३. काव्यादर्श, १·४३.

किया है और मात्र अल्पप्राण अक्षरों में युक्त—'मालतीमाला लोलालिकलिला'[1] में शैथिल्य माना है। इसीलिये गुणवर्णन के प्रसंग में आचार्य वामन ने एक ही बात को कथनभंगिमा के अन्तर से ओज और शैथिल्य का वाहक माना है। यथा—

१. विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति[2] –में 'गाढबन्धत्वमोजः' से ओज गुण है। किन्तु इसी अभिप्राय के व्यञ्जक—

२. विलुलित मधुधार मञ्जरीर्लोलयन्ति[3]—में शैथिल्य है अर्थात् ओज का अभाव है।

संरचना में भेद वक्तृ, वाक्य, प्रबन्ध के औचित्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। इस तथ्य को आचार्य मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

'वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्-क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ।।'[4]

कुन्तक ने मार्गभेद का आधार कवि स्वभाव को माना है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम स्वभाव वाले कवियों के अनुरूप ही सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग का निरूपण कुन्तक ने किया है।

६. संरचनात्मक संक्षिप्तता

जहाँ किसी बात को विस्तार से न कहकर संक्षेप में कह दिया जाये उसे संरचनात्मक संक्षिप्तता का उदाहरण कहा जा सकता है। यथा 'वरवर्णिनी' शब्द का प्रयोग ऐसा ही है। स्वयं वरवर्णिनी का तात्पर्य होता है —

शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला।
भर्तृभक्ता च या नारी विज्ञेया वरवर्णिनी ।।

किन्तु इस विशद व्याख्या की अपेक्षा किये बिना 'वरवर्णिनी' शब्द प्रयुक्त होता है। यथा—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्यारदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधा ।।

संरचनात्मक संक्षिप्तता भी शैली का एक प्रमुख गुण है।

७. अर्थ द्योतक ध्वनि प्रयोग

अर्थद्योतक ध्वनि प्रयोग से तात्पर्य है विषयानुकूल ऐसे शब्दों का प्रयोग जिसे

---

१. वही, १·४४.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·१·५. की वृत्ति,
३. वही, ३·१·५ की वृत्ति,
४. काव्यप्रकाश, ८·७७

सुनते ही अर्थावबोध होने लगे। पहले ही हमने वक्तृ, वाच्य एवं प्रबन्धौचित्य की बात कही है किन्तु वहाँ शब्दौचित्य की बात थी, यहाँ पर हमारा तात्पर्य तदनुकूल ध्वनियों से है। यथा उत्तररामचरितम् के इस श्लोक को पढ़ते ही ध्वनियों की अनुकूलता के कारण नदी एवं उसकी जल लहरियों का अभास होने लगता है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरी वारयो
मेघालम्बितमौलिनोलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोल कोलाहलै-
रुत्तालस्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः ॥[1]

वामन का समाधि तथा उदारता गुण यति एवं लय पर ही आधारित है। यथा वे समाधि का लक्षण करते हुये कहते हैं—'आरोहावरोहक्रमः समाधिः'[2] तथा इसके उदाहरण में 'निरानन्द कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे' यह श्लोकार्द्ध प्रस्तुत किया है। 'विकटत्वमुदारता'[3] के उदाहरण में—

"स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां।
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलं च ॥"

वामन ने विकटत्व के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहा है कि वर्णों का नृत्य अर्थात् लीलायमानत्व ही विकटत्व का अर्थ है जो कि प्रकृत उदाहरण में स्पष्टतया लक्षित हो रहा है। भोज ने इसी प्रकार अर्थद्योतक ध्वनि को शब्दों के माध्यम से सरस्वतीकण्ठाभरणम् में गुम्फना अलंकार में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"रामाभिषेके मदविह्वलायाः कराच्च्युतो हेमघटस्तरुण्याः।
सोपानमासाद्य चकार शब्दं ठं ठं ठ ठं ठ ठ ठ ठं ठ ठं ठः ॥[4]

इसी प्रकार यति आदि के भी समुचित प्रयोग के प्रति कवि को सचेष्ट रहना चाहिये। छन्दानुकूल यति के निर्वाह से अर्थावबोध में बड़ी सहायता मिलती है।

८. अप्रस्तुत विधान

शैली विज्ञान में जिस चमत्कारावह काव्य सौन्दर्य को अप्रस्तुत विधान के रूप में जाना जाता है, वह अलंकारशास्त्र में मुख्यतया सादृश्य मूलक अलंकारों के

---

१. उत्तरामचरितम्, २.३०.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.१३.
३. वही, ३.१.२३.
४. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, पृ० ३६८.

अन्तर्गत परिगणित होता है। यथा उपमा, रूपक, प्रतीप, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, भ्रान्तिमान् आदि अनेकानेक अलंकारों की परिगणना इसमें की जा सकती है। इन अलंकारों के अतिरिक्त शैली विज्ञान में श्लिष्ट शब्दों के साम्य के आधार पर भी अप्रस्तुत विधान स्वीकार किया गया है।

९. चयन

यह शैलीविज्ञान का महत्वपूर्ण तत्त्व है। सच पूछा जाये तो यह उक्त समस्त तत्त्वों का सार है। संस्कृत काव्यशास्त्र में भी प्रकारान्तर से इस तत्त्व को बहुत महत्त्व मिला है। प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। यथा भामह कवि की तुलना मालाकार से करते हुये कहते हैं—

"एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं।
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्।।[1]

इसी प्रकार वामन परिपक्व कवि का लक्षण देते हुये कहते हैं कि वह ही सफल कवि है और जो 'शब्दपाक' की स्थिति को प्राप्त कर ले अर्थात् जिसे सरस्वती सिद्ध हो जायें। एक बार शब्द का प्रयोग कर लेने पर पुनः उसे उन शब्दों को बदलना न पड़े।

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।[2]

आनन्दवर्धन ने भी इस बात की घोषणा स्पष्ट शब्दों में की है—

सोऽर्थस्तदव्यक्तसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन्।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।[3]

किन्तु उस विशिष्ट शब्द प्रयोग का ज्ञान किन्हीं-किन्हीं महाकवियों को ही हो पाता है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थं तत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।[4]

---

१. काव्यालंकार, १·५९.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·३·१५ की वृत्ति,
३. ध्वन्यालोक, १·८.
४. ध्वन्यालोक, १·७,

कुन्तक ने भी बड़े प्रभावशाली शब्दों में कहा है कि अनेक पर्यायों के होने पर भी जो अभीष्ट अर्थ का वाचक है वही यथार्थ शब्द है—

> शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
> अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।।[1]

उक्त वर्णन से यह बात तो नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि शैली वैज्ञानिक पद्धति व्यवस्थापन मात्र है, आविष्कार नहीं। इसके बीज भामह; वामन, आनन्दवर्धन; कुन्तक, मम्मट आदि में पाये जाते हैं। यदि यह कहा जाये कि वामन और कुन्तक ने एक परिपूर्ण भाषिक काव्यशास्त्र का निर्माण कर डाला है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यथा वामन ने इस श्लोक को—

> गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम् ।
> छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।।
> विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले,
> विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।।[2]

समग्र गुणा वैदर्भी का उदाहरण माना है तथा कामधेनु टीकाकार ने दस गुणों के सद्भाव को इस प्रकार दर्शित किया है—

१. 'छायाबद्धकदम्बकम्' और 'शिथिलज्याबन्धम्' इन दोनों पदों में बन्ध के विकट होने से ओज गुण ।
२. 'छायाबद्धकदम्बकम् मृगकुलम्' में बन्ध के गाढ़त्व और शैथिल्य के कारण प्रसाद गुण ।
३. 'महिषानिपानसलिलम्' में कोमल रचना के कारण श्लेष गुण ।
४. प्रकृत श्लोक में जिस शैली में पद्य रचना का आरम्भ हुआ उसी से अंत, अतः समता गुण ।
५. 'गाहन्तां' में आरोह तथा 'महिषाः' पद में अवरोह से समाधि गुण ।
६. 'शृंगैर्मुहुस्ताडितम्' में पृथक् पदता के कारण माधुर्य गुण ।
७. 'रोमन्थमभ्यस्तु' में कोमलबन्ध के कारण सौकुमार्य गुण ।
८. 'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध की विकटता के कारण उदारता गुण ।
९. सम्पूर्ण श्लोक में बन्ध के उज्ज्वल होने से कान्ति गुण ।
१०. सभी पदों के स्पष्टार्थक होने के कारण अर्थव्यक्ति गुण है ।[3]

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १.९,
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.११. की वृत्ति में.
३. काव्यालंकारसूत्राणि, १.२.११ पर कामधेनु टीका, पृ० १८-१९

यह विश्लेषण शैलीवैज्ञानिक पद्धति का ही तो प्रतिरूप है। उक्त वर्णन से रीति एवं शैली का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। रीति पद संघटना तक सीमित है, जबकि विपथन आदि के आधार पर शैली ध्वनि की सीमाओं को स्पर्श कर रही है। इसके अतिरिक्त शैली की परिधि में अनुप्रास आदि शब्दालंकार, विरोध, दृष्टान्त आदि अर्थालंकार, गौणी लक्षणा, उपचार वक्रता आदि सभी का समावेश हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि वामनोक्त रीति की अपेक्षा शैली की सीमा व्यापक है—यद्यपि दोनों ही भाषिक संरचना पर आधृत हैं।

गुण सम्प्रदाय

काव्यशास्त्रीय अन्य सिद्धान्तों की भाँति गुणों का सर्वप्रथम निर्देश हमें आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। सत्रहवें अध्याय में दोषों के वर्णन के अनन्तर गुणों का प्रसंग उठाते हुये उन्होंने गुणों को दोषों का विपर्यय माना है।[1] साहित्यशास्त्रियों के मध्य भरत का यह कथन बहुत ही हलचल का विषय बना रहा। वस्तुतः अलंकारशास्त्रियों ने भरत के इस कथन की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। क्योंकि 'विपर्यय' शब्द—अभाव, अन्यथाभाव और वैपरीत्य रूप तीन अर्थों को अपने गर्भ में छिपाये हुये है। यही विवाद का मूल उत्स है। अभिनवगुप्त ने 'विपर्यय' का अर्थ 'अभाव' लिया है किन्तु भरत निर्दिष्ट गुणों के लक्षण की परीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके गुणों को प्रत्येक दोष का विपरीत धर्म भी नहीं माना जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने याकोबी के सिद्धान्त का समर्थन करते हुये उचित समाधान यह निकाला है कि—"भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है :···किन्तु यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं।'[2] एस०के० डे महोदय भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं।[3] वस्तुतः विवाद की स्थिति इसकारण भी उत्पन्न हो जाती है क्योंकि यदि मात्र भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय माना होता तो बात ठीक ही है कि गुणों और दोषों में सर्वथा वैपरीत्य का भाव है ही; किन्तु वामन ने गुणों की सत्ता को भावात्मक स्थिति देते हुये दोषों को गुणों का विपर्यय स्थापित किया है (यद्विपर्ययात्मानो दोषास्तान् गुणान् विचारयितुं गुणविवेचनमधिकरणमारभ्यते)। किन्तु अधिकांश आलंकारिक भरत मत का ही समर्थन करते हुये दिखाई देते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे गुणों को अभावात्मक मानते

---

१. गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः। १७·९४.

२. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४३.

३. Jacobi's explanation is probably right that Bharata's description of the Gunas as negations of the Dosas is in conformity with the common sense view of the matter, for it is not

हैं, आशय यह है कि गुणों की अपेक्षा दोषों का परिज्ञान आसानी से ही जाता है। किन्तु गुणों का परिज्ञान होने के पश्चात् ही गुण–गुणरूप में दिखाई देते हैं। "व्यावहारिक दोनों हैं किन्तु वैज्ञानिक द्वितीय ही, भरत मत ही। क्यों? इसलिये कि काव्य 'भावात्मक' एकला है और यह निर्विवाद सत्य है कि भाषा एक कल्पित वस्तु है, भले ही उसका उत्स–वाक् तत्त्व नित्य और वस्तु सत् हो। जहाँ तक कल्पना का सम्बन्ध है उसमें पूर्णता ही परवर्ती हुआ करती है आरम्भ उसका अल्पता में ही होता है। बच्चे की वाक्यावली इसका प्रमाण है।"[1] अतः यह कहा जा सकता है कि सुबोध दोषों के द्वारा दुर्बोध गुणों को बोधगम्य करने हेतु ही भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय स्वीकार किया है। भरत ने दस गुणों का उल्लेख किया है—

> श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥[2]

इन गुणों को भरत ने अलग-अलग विशेषताओं से लक्षित किया है। वामन की भाँति भरत ने इन गुणों का शब्दगत एवं अर्थगत भेद नहीं किया है किन्तु उनकी गुण सम्बन्धी परिभाषाओं से यह समझा जा सकता है कि कुछ गुण शब्द प्रधान हैं एवं कुछ अर्थप्रधान हैं एवं कुछ में दोनों का मिश्रण है। एक और बात यहाँ उल्लेखनीय है कि भरत को न केवल नाट्यशास्त्रियों ने अपितु काव्यशास्त्रियों ने भी आद्याचार्य माना है। इसका मुख्य कारण यही है कि काव्यशास्त्र के भी मूल तत्त्व भरत में उपलब्ध होते हैं। गुणों की आधारशिला काव्यशास्त्रियों ने भरत से ही ग्रहण की है।

दण्डी ने उन्हीं दस गुणों को स्वीकार किया है जो कि भरत द्वारा मान्य हैं। यह भिन्न बात है कि नामतः एक होते हुये भी उनकी परिभाषाओं में कुछ भिन्नता है, जिनका उल्लेख आगे हम करेंगे।

भामह का गुण सम्बन्धी विचार

भामह ने मुख्य रूप से तीन ही गुणों की परिभाषाओं को निर्दिष्ट किया है—माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य गुण श्रुतिसुखद होता है तथा अनतिसमस्त अर्थात्

---

difficult for one to seize upon a fault instinctively, while an excellence cannot be conceived so lightly unless its essence is comprehended dy differentiating it from a more easily understood fault.

S.K.De., History of Sanskrit Poetics, Vol.II, p. 12.

१. वामन विरचित 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' की बेचन झा कृत हिन्दी टीका के रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित भूमिका भाग से उद्धृत, पृ० ३४

२. नाट्यशास्त्र, १७·९५.

बहुत अधिक समासों से रहित होता है।[1] इसी प्रकार जो बालक से लेकर स्त्रियों तक सबकी समझ में आ जाये वह प्रसाद गुण होता है। अर्थात् प्रसाद वह गुण है जो अज्ञ एवं विज्ञ दोनों के लिये ही सुबोध हो। प्रसाद में भी अल्प समास का प्रयोग होता है किन्तु प्रसाद एवं माधुर्य में भेद यह है कि प्रसाद में सुबोध पदों की योजना पर बल दिया गया है तो माधुर्य में श्रुतिसुखद पदों की योजना प्रधान होती है। ओजगुण का प्रधान लक्षण बहुल समास योजना है।[2] किन्तु भामह के विवेचन से यह प्रतीत होता है कि उन्हें माधुर्य और प्रसाद ही प्रिय है—ओज पर उनका विशेष संरम्भ नहीं है।

अलंकारवर्णन के प्रसंग में प्रवन्ध विषयक गुण का उल्लेख करते हुये भामह ने 'भाविक' का उल्लेख किया है। अर्थ की चित्रता, उदात्तता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता भाविक के निष्पादक गुण बताये गये हैं, प्रवन्ध गुण भाविक में इन सभी गुणों का मिश्रण रहता है। आगे चलकर भाविक-गुण न रहकर अलंकार में परिगणित होने लगा यद्यपि विश्वनाथ एवं अप्पय दीक्षित आदि ने भामह की ही (भाविक गुण) परिभाषा को ग्रहण किया है। भामह भाविकत्व को प्रवन्धविषयक गुण कहते हैं जिसमें भूत और भावी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दीखते हैं।[3]

काव्यभाषा का संगठन ही संरचना या रीति कहलाता है। इसे ही प्राचीनकाल में वैदर्भी और गौडी मार्ग के भेद से विभाजित किया गया था। अधिकांश प्राचीन विद्वानों ने वैदर्भी की श्रेष्टता का प्रतिपादन किया है—इसका प्रतिवाद करते हुये भामह ने निम्नोक्त छः गुणों के ही होने पर काव्य को ग्राह्य एवं इनके न रहने पर अग्राह्य या अनुपादेय माना है।

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥[4]

---

१. (अ) माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥ काव्यालंकार, २ १
(ब) श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते। वही, २·३.
२. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि॥ वही, २·२
३. (अ) अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्यार्थं भविष्यतः।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥ साहित्यदर्पण. १०·९३.
(ब) भाविकं भूतभव्यार्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्। कुवलयानन्द, १६१.
४. भामह, काव्यालंकार, १·३४-३५.

अर्थात् अर्थगाम्भीर्य, वक्रोक्तियुक्त, अग्राम्य, प्रसादयुक्त, अलंकारयुक्त एवं श्रुति-पेशल काव्य को ही श्रेष्ठ काव्य का मानदण्ड माना है। इसप्रकार हम देखते हैं कि भामह केवल तीन ही गुणों की सत्ता नहीं मानते हैं, उन्हें भी भरत एवं दण्डी की भाँति विभिन्न गुणों की सत्ता का भान है, यह बात भिन्न है कि उनका संरम्भ गुणों पर विशेष नहीं रहा है, इसलिये विभिन्न गुणों का यत्र-तत्र उल्लेख मात्र करके उन्होंने केवल माधुर्य, ओज एवं प्रसाद को ही परिभाषाबद्ध किया है। क्योंकि हम देखते हैं कि भामह ने भाविक गुण एवं रीति के श्रेष्ठत्व के गुणों का निर्देश करते हुये जिन गुणों का उल्लेख किया है उनमें से कुछ गुण भरत एवं दण्डी के गुणों से मेल खाते हैं यह बात भिन्न है कि उनके नामों में अन्तर है यथा—

१. भाविक गुण के प्रसंग में भामह ने जिस अर्थ की चित्रता की और संकेत किया है वह भरत के उदारता गुण के समकक्ष है—

 'अनेकार्थविशेषर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः।
 उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्चकीर्त्यते ।।[1]

२. इसी प्रकार भामह का श्रुतिपेशलत्व भरत के माधुर्य गुण के समकक्ष है, जिसमें किसी काव्य को बार-बार सुनने पर भी उद्वेग उत्पन्न नहीं होता है—

 बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
 नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।।[2]

३. इसके अतिरिक्त भामह के इनमें से कुछ गुणों का साम्य दण्डी के दस गुणों में देखा जा सकता है। यथा भामह ने जिसे अग्राम्यता कहा है उसे दण्डी ने माधुर्य गुण के भेद के रूप में स्वीकार किया है। माधुर्य का लक्षण करते हुये तो दण्डी ने कहा है कि—

 मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
 येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ।।[3]

किन्तु इसके अनन्तर दण्डी पुनः कहते हैं कि भले ही सभी प्रकार के अलंकार अर्थ में रस का आधान करें किन्तु मुख्यतया अर्थ में रसाधान का भारवहन अग्राम्यता ही करती है—

 कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
 तथाप्यग्रामतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।[4]

---

१. नाटयशास्त्र, १७·१०४.
२. वही, १७·१००,
३. काव्यादर्श, १·५१.
४. वही, १·६२.

४. इसीतरह भामह के अनाकुलत्व को दण्डी ने ओज गुण का एक भेद माना है—

"अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा"।[1]

भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने दोषों को आश्रय के सौन्दर्य के कारण सुन्दर माना है। उनकी मान्यता है कि संनिवेश की विशेषता के कारण सदोष अभिव्यंजना भी सुन्दर बन जाती है। जिसप्रकार से रमणी की आँखों में लगा काजल भी शोभा को प्राप्त होता है।[2] इसीलिये शब्दों के प्रयोग पर भामह ने विशेष बल दिया है। उनका कथन है कि शब्द का परिज्ञान चार प्रकार से करना चाहिये—१. कौन सा शब्द उपादेय है २. कौन सा अनुपादेय ३. कौन सा शब्द प्रयोग के उपरान्त सुन्दर लगेगा ४. तथा किस शब्द का कौन सा उपयुक्त स्थान होना चाहिये। जो इस प्रकार के विवेचन के उपरान्त काव्य सृजन करता है उसकी रचना निर्दोष होती है। इसी तथ्य को समझाने के लिये भामह ने एक मालाकार की उपमा दी है—

'एतद् ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं।
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम्॥[3]

यद्यपि सन्निवेश वैशिष्ट्य को भामह ने गुण नाम से अभिहित नहीं किया है किन्तु आगे चलकर भोजराज आदि ने इसे ही वैशेषिक गुण के नाम से अभिहित किया है। भोजराज ने गुणों के बाह्य, आभ्यान्तर और वैशेषिक तीन भेद माने हैं तथा जो काव्य के दोष होने पर भी विशेष परिस्थितियों में गुण बन जाते हैं उन्हें वैशेषिक गुण कहा है—

वैशेषिकास्तु ते न्यूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह ने यद्यपि गुणों पर विशेष ध्यान नहीं केन्द्रित किया है किन्तु उनकी गुण सम्बन्धी धारणा का परवर्ती काल में व्यापक प्रभाव पड़ा। भोज ने भी सम्भवतः वैशेषिक गुण की प्रेरणा भामह से ही प्राप्त की है तथा ध्वनि-वादियों ने भी भामह द्वारा मुख्यतया मान्य माधुर्य, ओज और प्रसाद को ही स्वीकार किया है। "डा० राघवन् ने माना है कि दण्डी के दस गुणों एवं भामह के तीन गुणों

---

१. काव्यादर्श, १·८३.

२. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ काव्यालंकार, १·५५.

३. काव्यालंकार, १·५९

में जो संख्यागत भेद है वह प्राचीनकाल मे आती हुई गुण सम्बन्धो दो विचार-धाराओं का प्रतिफलन है। काश्मीर सम्प्रदाय के आचार्य गुणों की संख्या तीन मानते थे और वैदर्भ सम्प्रदाय के आचार्य दस।"[1]

दण्डी

दण्डी यद्यपि अलंकारवादी आचार्य माने जाते हैं क्योंकि उनका विशेष ध्यान अलंकारों के प्रति रहा है। उन्होंने समस्त काव्यशोभाधायक तत्त्वों को अलंकार नाम से अभिहित किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते[2] किन्तु फिर भी उनके वर्णन से यह तथ्य तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उन्होंने गुणों को विशिष्ट अलंकारों के रूप में स्वीकार किया है तथा उपमादि अलंकारों को सामान्य अलंकार माना है। यह बात उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाती है—

> काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
> साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रकाश्यते॥[3]

इसके अतिरिक्त दण्डी ने गुणों और अलंकारों के भेदक तत्त्व का कोई निर्देश नहीं किया है। गुणों का वर्णन दण्डी ने वैदर्भ और गौड मार्ग के वर्णन के प्रसंग में किया है। इन विशिष्ट गुणरूपी अलंकारों के सम्बन्ध में दण्डी का कथन है कि प्रतिदिन मेधावियों की कल्पनायें नये नये अलंकारों को प्रस्तुत किया करती हैं, इस दशा में अलंकारों का समग्र भाव से वर्णन कर सकना किसी के लिये भी सम्भव नहीं है—'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।' अर्थात् इनकी इयत्ता नहीं निर्धारित की जा सकती है। किन्तु वैदर्भ और गौड मार्ग के विभाजन हेतु इन्होंने भी भरत द्वारा स्वीकृत दस गुणों को यथानाम स्वीकृत किया है। ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं—

> श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
> अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
>
> इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः
> एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥[4]

तथा इन दस गुणों का विपर्यय 'प्रायः' गौड मार्ग में पाया जाता है। प्रायः शब्द का प्रयोग कर दण्डी एक बहुत बड़े दोष से मुक्त हो गये हैं क्योंकि गौडमार्ग में

---

१. शोभाकान्त मिश्र, काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २८.
२. काव्यादर्श, २·१.
३. वही, २·३.
४. काव्यादर्श, १·४१–४२.

सभी गुणों का विपर्यय नहीं प्राप्त होता है। स्वयं दण्डी ने भी बहुत सारे गुणों की समानता दोनों मार्गों में दिखलाई है—अर्थव्यक्ति, औदार्य और समाधि ये तीन गुण दोनों ही मार्गों में समान रूप से पाये जाते हैं। शेष सात गुणों का विपर्यय गौड मार्ग में प्राप्त होता है, यथा श्लेष का–शैथिल्य, सौकुमार्य का दीप्त, गद्यगत ओज का –पद्यगत ओज, प्रसाद का–व्युत्पन्न, समता का–वैषम्य, माधुर्य का–वर्णानुप्रास तथा कान्ति का–अत्युक्ति विपर्यय रूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि दण्डी ने गुणों की संख्या स्पष्टतया दस ही मानी है किन्तु गौडमार्ग में इन गुणों के विपर्यय को स्वीकार करने के कारण गुणों की संख्या मुख्यतया सत्रह हो जाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि वामन ने शब्दगुण एवं अर्थगुण के आधार पर जो गुणों की संख्या वीस मानी है उसकी प्रेरणा उन्हें दण्डी से ही प्राप्त हुई है। यहाँ हम दण्डी एवं भरत के गुणों में जो भिन्नता है उसकर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे—

१. **श्लेष**—भरत ने श्लेष को शब्दगत एवं अर्थगत दोनों माना है तथा श्लिष्ट पदों के योग पर विशेष बल दिया है।[1] किन्तु दण्डी वैदर्भ मार्ग में अल्पप्राण अक्षरों का अभाव अर्थात् शैथिल्याभाव को ही श्लेष का प्रधान गुण मानते हैं।[2] इस प्रकार दण्डी का श्लेष शब्दगत ही है। गौडमार्ग में शैथिल्य होता है क्योंकि गौडमार्गी अनुप्रास प्रेमी होते हैं। दण्डी के श्लेषगुण में श्लिष्ट पदों की योजना का विधान नहीं है।

२. **प्रसाद**—प्रसाद गुण का स्वरूप भरत एवं दण्डी दोनों में ही समान है। दोनों ही इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रसाद में ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिये जिसे सुनते ही अर्थावबोध हो जाये।[3] प्रसाद के विपरीत प्रयोग का नाम व्युत्पन्न है—जो कि गौडमार्गियों को प्रिय है। यथा 'चन्द्रमा' के लिये 'इन्दु' शब्द का प्रयोग प्रसाद गुण का और इसी अर्थ में 'वलक्षगु' शब्द का प्रयोग व्युत्पन्न गुण का उदाहरण है।

३. **समता**—भरत ने गुण और अलंकार के परस्पर में आभूषण होने को

---

१. ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते॥ नाटचशास्त्र, १७·९६.

२. (अ) श्लिष्टमस्पृष्ट शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। काव्यादर्श, १·४३.
(ब) अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्। वही, १·४४.

३. (अ) अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात् प्रसादः स तु कीर्त्यते॥ नाटचशास्त्र, १७·९७.
(ब) प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः॥ काव्यादर्श, १·४५.

समता गुण माना है।[1] किन्तु दण्डी की समता गुण की परिभाषा इससे नितान्त भिन्न है। वे एक ही रीति के सम्पूर्ण रचना में निर्वाह को समता मानते हैं। अर्थात् उन्होंने रीति की एक रूपता पर बल दिया है; जिस रीति में रचना आरम्भ हुई उसी रीति में समाप्त होना ही समता है और यह वैदर्भ मार्ग का प्रधान गुण है। रचना तीन प्रकार की होती है—मृदु, स्फुट और मिश्र। रीति पर ही विशिष्ट बल होने के कारण समता को शब्दगुण कहा जा सकता है।[2] परन्तु आगे चलकर ध्वनि-वादियों ने इसे गुण नहीं माना है क्योंकि सभी प्रकार की रचनाओं में समतागुण ही नहीं होता है अपितु जहाँ मनोभावों के अनुसार उतार-चढ़ाव आवश्यक है वहाँ यदि समता हो तो वह दोष हो जायेगा। वास्तविकता यह है कि रीति और गुण के सम्बन्ध पर विचार करते समय दण्डी भावों के सम्बन्ध को विस्मृत कर गये हैं। किन्तु गौड मार्ग वाले बन्ध वैषम्य को बुरा नहीं मानते, क्योंकि विषम बन्धवाली कविता में भी यदि अतिशयोक्तिरूप अर्थ सम्बन्धी चमत्कार और अनुप्रासरूप शाब्दिक चमत्कार मिल जाये तो वे उसका भी अवश्य आदर करेंगे। किन्तु वैदर्भ मार्गानुयायी बन्ध विषमता वाले स्थल में काव्यत्व को स्वीकार नहीं करते हैं।

४. माधुर्य—भरत ने माधुर्य गुण वहाँ माना है, जहाँ किसी वाक्य को अनेक वार कहे जाने या सुने जाने पर भी उद्वेग उत्पन्न न हो।[3] किन्तु दण्डी ने इससे नितान्त भिन्न वड़ा व्यापक लक्षण माधुर्य गुण का किया है।[4] उनके अनुसार सरस वाक्य मधुर कहलाता है अर्थात् जहाँ रस व्यञ्जक वर्णों की योजना हो वहाँ माधुर्य गुण माना जायेगा। इसप्रकार माधुर्य और रस पर्यायवाची वन जाते हैं। यहाँ यह स्पष्टतया जान लेना चाहिये कि माधुर्य गुण के सन्दर्भ में दण्डी ने जिस रस की चर्चा की है, उसका सम्बन्ध शृंगारादि रसों से नहीं है। अपितु यहाँ रस का तात्पर्य अग्राम्यता है जिसका स्पष्ट उल्लेख स्वयं दण्डी ने ही द्वितीय अध्याय में रस वर्णन के सन्दर्भ में किया है—

---

१. अन्योन्य सदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मताः॥ नाटचशास्त्र, १७·९८.

२. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ काव्यादर्श, १·४७

३. नाटचशास्त्र, १७·१००.

४. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ काव्यादर्श १·५१.

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ॥'[1]

अग्राम्यता के सन्दर्भ में तो दण्डी का यहाँ तक कहना है कि–यद्यपि सभी अलंकार अर्थ में रस सेचन का कार्य करते हैं, किन्तु अग्राम्यता ही इस भार को मुख्य रूप से वहन करती है। स्पष्ट है कि यहाँ रस सेचन का तात्पर्य आस्वादनीयता से है। अतः यहाँ यह समझने की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये कि जिस प्रकार वामन ने कान्तिगुण में 'दीप्तरसत्वं कान्ति' रस का अन्तर्भाव कर दिया है, उसी प्रकार दण्डी ने भी माधुर्यगुण में रसों को अन्तर्भूत कर लिया है। दण्डी ने रसों का वर्णन रस-वदादि अलंकारों के वर्णन के प्रसंग में किया है, क्योंकि दण्डी के यहाँ अलंकार एक व्यापक संज्ञा है। दण्डी ने माधुर्य गुण के दो भेद माने है—१. श्रुत्यनुप्रास और २. अग्राम्यता। दण्डी का श्रुत्यनुप्रास रूप माधुर्य भेद भरत एवं भामह से प्रभावित है, इसमें एक वर्ण के अव्यवहित उत्तर में आने वाला वर्ण पूर्व वर्ण से श्रुति में साम्य रखता हो वह श्रुत्यनुप्रास है।[2] किन्तु माधुर्य गुण का अग्राम्यता रूप भेद बड़ा व्यापक है। दण्डी के अनुसार यद्यपि सभी अलंकार रसव्यञ्जकता में उत्कर्ष का आधान करते हैं, फिर भी अग्राम्यता ही यह कार्य सबसे अधिक करती है। दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास से वर्णानुप्रास को भिन्न माना है। वर्णानुप्रास तो गौडमार्गियों को प्रिय होता है।

५. सुकुमारता—भरत ने आसानी से प्रयोग किये जाने वाले सुश्लिष्ट सन्धियों से युक्त तथा सुकुमारार्थ से युक्त गुण को सुकुमारता माना है।[3] दण्डी भी इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में कहते हैं कि जहाँ श्रुतिकटुत्व दोष से रहित एवं प्रायः अनिष्ठुर वर्णों से रहित वर्णों का संगठन किया गया हो वैसे वाक्य को सुकुमारता नामक गुण से भूषित कहा जा सकता है।[4] 'प्रायः' शब्द का प्रयोग कर दण्डी ने यह इंगित किया है कि सभी वर्ण कोमल न रहें अन्यथा शैथिल्य के आ जाने से वह दोष हो जायेगा। सुकुमारता का विपर्यय दीप्तत्व है जिसमें कृच्छ्रोद्य वर्णों का प्रयोग होता है, 'कृच्छ्रोद्य' का अर्थ होता है उच्चारण जिसका दुःखद हो। यह गौडमार्ग-

---

१. काव्यादर्श, २·२९२.

२. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत्समानमनुभूयते ।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा ॥ काव्यादर्श, १.५२.

३. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते, । १७·१०२

४. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषस्तु दर्शितः सर्वकोमले ॥ काव्यादर्श, १·६९.

वालों का गुण है। दण्डी ने सुकुमारता गुण की विशेषता बतलाते हुये कहा है कि अलंकारों के अभाव में भी काव्य सौकुमार्य के कारण आकर्षक लगता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि माधुर्यगुण के श्रुत्यनुप्रास रूप भेद में और सुकुमारता में साम्य होते हुये भी भेद यह है कि सुकुमारता में कोमल वर्णों की योजना पर वल दिया जाता है तथा श्रुतिमाधुर्य में एक उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियों की सहस्थिति की प्रधानता होती है। सुकुमारता में अनुप्रास की स्थिति आवश्यक नहीं है, केवल पद योजना मात्र पर्याप्त है।

६. **अर्थव्यक्ति**—भरत ने अर्थव्यक्ति में अर्थ की स्पष्टता पर वल दिया है। उनके अनुसार अतिशय प्रसिद्ध अर्थ का सुप्रसिद्ध शब्दों द्वारा अभिधान 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण है।[1] इसे दण्डी ने अन्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार जिस वाक्य में विवक्षित अर्थ वोध हेतु अध्याहारादि कष्ट कल्पनायें न करनी पड़ें, सभी शब्द वाक्यार्थवोध में अपेक्षित अर्थों को स्पष्टतया वताते हों उस वाक्य में अर्थव्यक्ति नामक गुण होता है।[2] इस अर्थव्यक्ति को दण्डी ने वैदर्भ एवं गौड दोनों सम्प्रदायों के लिये अनिवार्य माना है। वस्तुतः नेयत्व उसे कहते हैं जिसमें किसी अर्थ को पूर्णतः व्यक्त करने के लिये जितने शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा होती है उतने शब्दों का यदि प्रयोग नहीं होता है, तो अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये आवश्यक अर्थान्तर के अध्याहार की कष्ट कल्पना करनी पड़ती है। इसीलिये दण्डी का कथन है कि जिस अर्थबोध में शाब्दवोध के सिद्धान्तों की अवहेलना की जाती है वह बोध हृद्य नहीं होता है, इसीलिये यह दोनों मार्गों के लिये त्याज्य है।

७. **उदारता**—भरत ने उदारता में शृंगारादि रसों का भी सन्निवेश किया है। उनके अनुसार रचना में जब दिव्य पात्रों की शृंगार तथा अद्भुत रसयुक्त वर्णना हो जो अनेक भावों से पूर्ण हो तो उसे उदारता गुण कहते हैं।[3] दण्डी ने भी उदारता की बड़ी व्यापक धारणा प्रस्तुत की है। उन्होंने इसे उभयमार्गगत गुण माना है। वस्तुतः चमत्कार ही काव्य का प्राण है। उदारता से चमत्कार का पोषण होता है इसलिये उदारता काव्य का प्राण है। इसीलिये दण्डी ने कहा है कि जिस वाक्य के प्रयुक्त होने पर उस वाक्यार्थ के द्वारा वर्णनीय वस्तु के लोकोत्तर चमत्कार की अवगति होती है वही उदारता नामक गुण है और इससे काव्यमार्ग सफल होता

१. सुप्रसिद्धाभिधानातु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥ नाटचशास्त्र, १७·१०३

२. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य। काव्यादर्श, १·७३.

३. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ॥ नाटचशास्त्र, १७·१०४

है।[1] दोनों ही मार्गों में उत्कर्षाधायक गुण की सत्ता की स्वीकृति के द्वारा महनीय मानवीय गुणों को काव्य में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग उदारता नामक गुण वहाँ मानते हैं जहाँ वाक्य श्लाघ्य विशेषणों से युक्त हो। किन्तु भरत के समान इन्होंने उदारता का सम्बन्ध अद्भुत एवं शृंगार रसों से नहीं माना है।

८. ओज—भरत ने समास बहुल तथा उदार अर्थ वाली एवं अनुरागमयी ध्वनि से युक्य रचना को ओज गुण माना है।[2] दण्डी ने भी समासभूयस्त्व को ओज का विशिष्ट गुण माना है। वैदर्भ और गौड दोनों ही मार्गों के गद्य में ओजगुण की स्थिति दण्डी को मान्य है। किन्तु गौड मार्ग वाले पद्य में भी ओज को मानते हैं। रचना शैली की भिन्नता के कारण दोनों मार्गों के वर्णन में भिन्नता है।[3] भरत ने ओजगुण का कोई भेद नहीं किया है किन्तु दण्डी ने गुरू वर्णों की बहुलता, लघुवर्णों की बहुलता एवं दोनों प्रकार के वर्णन के मिश्रण से तीन भेद माने हैं। ओज गुण का प्रयोग आख्यायिका, विरद, चम्पू जैसे गद्य प्रचुर रचनाओं में अधिक दृष्टिगत होता है।

९. कान्ति—भरत ने कान्ति को शृंगार क्रीड़ा का किया जाने वाला वह वर्णन माना है, जो मन को आह्लादित कर दे।[4] किन्तु दण्डी की कान्ति गुण की धारणा इससे नितान्त भिन्न है। उनके अनुसार लोकप्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण न करने वाला एवं सर्वजनसंवेद्य अर्थ कान्त अर्थात् कान्तिगुण युक्त होता है।[5] वैदर्भ ही इस कान्ति नामक गुण को मानते हैं। गौड तो अत्युक्ति में विश्वास रखते हैं। गौड उस काव्य से सन्तोष का अनुभव करते हैं जिसमें लोकातीत अर्थ कविकल्पना द्वारा अध्यारोपित होकर प्रयुक्त हो। किन्तु वैदर्भ सर्वजन मनोज्ञ काव्य में ही कान्तिगुण मानते हैं। लोकप्रसिद्ध अर्थ के वर्णन में भी चमत्कार के

---

१. (अ) उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥ काव्यादर्श, १·७६.
(ब) श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते॥ वही, १·७९.

२. समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते॥ नाट्यशास्त्र, १९·१०१.

३. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥ काव्यादर्श, १·८०.

४. यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्।
लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः॥ नाट्यशास्त्र, १७·१०५.

५. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्त्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥ काव्यादर्श, १·८५.

होने पर ही कान्ति गुण की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि प्रत्येक लोक प्रसिद्ध वस्तु का वर्णन कान्त नहीं होता है।

१०. समाधि—भरत का समाधिगुण सहृदयापेक्षी है, क्योंकि उनके अनुसार प्रतिभाशील व्यक्तियों के द्वारा विशेष अर्थ जिस रचना में देख लिया जाये उसे समाधि गुण कहते हैं।[1] दण्डी का समाधि गुण लक्षण इससे नितान्त भिन्न है। लोकसीमा का पालन करने वाला कवि एक वस्तु के गुण, क्रिया आदि धर्म का दूसरी वस्तु पर आधान करता है वहाँ समाधिगुण माना जाता है।[2] समाधिगुण में प्रस्तुत के धर्म का कथन न होकर अप्रस्तुत के धर्म का कथन होना चाहिये। अतिशयोक्ति अलंकार के स्वरूप से इसके स्वरूप को भिन्न प्रदर्शित करने के लिये ही दण्डी ने 'लोकसीमा' शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ लोकसीमा का अतिक्रमण कर एक धर्म पर दूसरे धर्म का आधान हो, वहाँ दण्डी समाधि गुण नहीं मानेंगे।

समाधिगुण दोनों ही मार्गों में पाया जाने वाला गुण है। इतना ही नहीं दण्डी ने समाधि गुण को 'काव्यसर्वस्व' कहकर सबसे अधिक महत्त्व दिया है—

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति ॥[3]

इसप्रकार समाधि चमत्कारावह होने के कारण काव्य का जीवन है अतः यह अवश्य उपादेय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि दण्डी लीक के फकीर नहीं है, भरत द्वारा अनुमोदित गुणों के नामों को यथानाम स्वीकार करते हुये भी उनके स्वरूप में भिन्नता दण्डी की मौलिक प्रतिभा का प्रमाण है।

वामन

काव्यशास्त्र के इतिहास में वामन पहले आचार्य हैं जिन्होंने गुणों को परिभाषाबद्ध करने का प्रयास किया है। उनके अनुणार गुण काव्यशोभा के जनक हैं—'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः'।[4] इसप्रकार वामन ने काव्य में गुणों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। गुणों के सद्भाव एवं अभाव के आधार पर ही वैदर्भी,

---

१. अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्येहोपलक्ष्यते।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्तितः॥ नाटचशास्त्र, १७.९९.

२. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ काव्यादर्श, १.९३.

३. काव्यादर्श, १.१००.

४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.१.

गौडी एवं पाञ्चाली रीति का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता का मुख्य कारण है उसमें समग्र गुणों की स्थिति का होना।[1] गौडी एवं पाञ्चाली वामन को इष्ट नहीं हैं, उनका साध्य एकमात्र वैदर्भी ही है। क्योंकि उनका यह सिद्धान्त है कि कोई सन की सुतरी वटने का अभ्यास करने वाला जुलाहा रेशम के सूत्र विनने में दक्षता नहीं प्राप्त कर सकता है—'न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभः।'[2] इसलिये कवि को चाहिये कि वह समग्रगुणा वैदर्भी में ही काव्य सृजन का यत्न करे।

वास्तविकता यह है कि "शब्दार्थों में रसादि अभिव्यक्त होते हैं, अतएव रस तथा शब्दार्थ में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्वन्ध है। कवि द्वारा काव्य में प्रयुक्त शब्द वस्तुतः लौकिक ही रहते हैं, किन्तु कविप्रतिभा से जब वे प्रकाशित होते हैं, उनपर गुणालंकारों के संस्कार होते हैं। लौकिक गत शब्दार्थों का यदि रस में पर्यवसान होना आवश्यक है तव गुणालंकार ही इनका माध्यम है। अतएव वामन कहते हैं 'गुणालंकार संस्कृतयोरेव शब्दार्थयोः काव्यशब्दोऽयं प्रवर्तते।"[3]

गुणों की काव्य में स्वतन्त्र एवं प्रमुख सत्ता मानते हुये भी वामन ने इन्हें शब्द एवं अर्थ का धर्म माना है—'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः'।[4] ये गुण रसाश्रित नहीं हैं अपितु रस ही गुण के आश्रित है—'दीप्तरसत्वं कान्तिः'।[5] अतः स्पष्ट है कि इन गुणों के द्वारा काव्य का सीधा उपकार होता है, रस के आश्रय से नहीं।

गुणों के सम्बन्ध में वामन की मौलिक उद्भावना उनकी संख्या विषयक अवधारणा है। वामन ने शब्दगुण एवं अर्थगुण के आधार पर विभाजन कर परम्परागत दस गुणों के बीस भेद माने हैं। भरत एवं दण्डी ने गुणों का सामान्य रूप से विवेचन किया है अर्थात् उन्होंने उनको शब्दगत, अर्थगत या शब्दार्थोभयगत भेद के आधार पर विभाजित नहीं किया है। अतः स्पष्टता की प्रेरणा से उद्बोधित होकर सम्भवतः यह विभाग वामन ने अपनाया होगा—किन्तु उनकी गुण विषयक अमूल्य अवधारणा में यह दोष हो गया। क्योंकि शब्दगत एवं अर्थगत भेद तो उन्होंने किया किन्तु लक्षणों के आधार पर उनके परस्पर संक्रमण को वे नहीं वचा सके। यथा अर्थव्यक्ति को शब्दगुण मानकर जहाँ वे स्वयं लक्षण में यह कहते हैं कि 'झटित्यर्थप्रतिपत्तिहे-

---

१. समग्रगुणा वैदर्भी। वही, १·२·११.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१८.
३. गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३६४.
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·१·१ की वृत्ति
५. वही, ३·२·१५.

तुत्वं'[1] वे अपने ही वाग्जाल में उलझ जाते हैं। साथ ही उनके 'ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा' रूप शब्दगुण प्रसाद एवं 'पृथक् पदत्व' रूप माधुर्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। "इस प्रसंग में वामन के विरुद्ध सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि उन्होंने गुण का शब्द और अर्थ के आधार पर विभाजन किया भी है तो एक नाम के शब्द-गुण और अर्थगुण में एकसूत्रता रहनी चाहिये थी, क्योंकि गुण तो वही हैं—शब्द और अर्थ के आधार पर उसमें भेद हो गया है। परन्तु वामन ने यहाँ भी पूर्णतया स्वेच्छाचारिता बरती है। उनके समाधि, माधुर्य, उदारता आदि शब्द-अर्थ गुणों में कोई सम्बन्ध नहीं। इस असंगति ने वामन के विवेचन को और भी अग्राह्य बना दिया है।"[2] इन बातों को देखकर इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि वामन के द्वारा दस गुणों का शब्दगत और अर्थगत विभाजन न तो वैज्ञानिक है और न ही व्यवस्थित।

किन्तु जो भी हो ध्यानपूर्वक देखा जाये तो वामन ने रीति को तो काव्य की आत्मा कहा है किन्तु घुमाफिरा कर आत्मत्व का पद गुणों को ही प्राप्त होता है। यथा वे कहते हैं—

> रीतिरात्मा काव्यस्य
>
> विशिष्टा पदरचना रीतिः
>
> विशेषो गुणात्मा—

यहाँ रीति है क्या? विशिष्ट पदरचना ही तो रीति है तथा विशिष्ट का अभिप्राय गुण ही तो है। तब गुण ही रीति में प्रमुख तत्त्व होने के कारण आत्मा हुआ। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः' ये सभी वचन गुणों के माहात्म्य को इंगित करते हैं।

वामन के इन गुणों को कल्पित नहीं कहा जा सकता है; उन्होंने इन गुणों की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेकानेक युक्तियाँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—

१. नाऽसन्तः संवेद्यत्वात्[3]—अर्थात् यह भ्रान्ति कदापि नहीं होनी चाहिये कि इन गुणों की सत्ता नहीं है और ये मात्र कल्पनासृष्ट हैं। सहृदयों के द्वारा संवेद्य होने के कारण इन गुणों की सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता है। सहृदय संवेद्यता ही इनकी स्थिति का सबसे बड़ा प्रमाण है।

---

१. वही, ३·१·२४ की वृत्ति.
२. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० २१.
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·१·२६.

२. न भ्रान्तानिष्कम्पत्वात्[1]—अर्थात् सार्वजनीन न होने पर भी इन गुणों को भ्रममूलक नहीं माना जा सकता है। कुछ व्यक्तियों के द्वारा अनुभवगम्य न होने पर भी उस विशिष्ट वस्तु की सत्ता असिद्ध नहीं हो जाती है। अतः गुण के बाध का चूँकि कोई प्रमाण नहीं है इसलिये उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः[2]—सर्वत्र प्राप्त न होने के कारण ये गुण पाठ धर्म नहीं हैं। क्योंकि यदि ये पाठधर्म होते तो इनकी सत्ता सर्वत्र प्राप्त होती। प्रत्येक वाक्य को पढ़ते समय कोई न कोई गुण प्राप्त हो जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं है अतः स्पष्ट है कि गुण पाठ के धर्म नहीं हैं।

गुणों के महत्त्व निर्धारण में वामन का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है वह है उनका गुणालंकार भेद निरूपण। काव्य में गुणों की स्थिति को नित्य मानते हुये वामन ने इन्हें काव्यशोभा का जनक माना है तथा अलंकार को इनका सहयोगी मानकर इस उत्पन्न हुई शोभा में आतिशय्य को लाने का कार्य अलंकार का है, ऐसा स्वीकार किया है।[3] उनका कथन है कि अलंकार बिना गुण के काव्य में न तो शोभा को ला सकते हैं और न शोभित ही हो सकते हैं। किन्तु ओज प्रसादादि गुण केवल अकेले ही काव्य में शोभाधायक हो सकते हैं—'ओजः प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति'[4] चूँकि इन गुणों के बिना काव्य काव्यत्व कहलाने का अधिकारी ही नहीं होता है अतः ये नित्य हैं एवं अलंकार अनित्य।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुणों की पृष्ठभूमि ध्वनिवादियों ने भी वामन से ही ग्रहण की है। किन्तु कुछ दोषों के कारण ही उनका सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ फिर भी उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। "इसके मूलतः दो आधार हैं। एक तो सबसे पहले वामन ने काव्य की आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करते हुये काव्य के मूल और गौण तत्त्वों का पार्थक्य स्पष्ट किया और इस प्रकार एक मूल आधार स्थिर कर काव्यशास्त्र में निश्चित् सिद्धान्त व्यवस्था स्थापित की। भामह और दण्डी में इस प्रकार की नियमित व्यवस्था का अभाव है। दूसरा आधार यह है कि काव्य के वाह्यांग को प्रमुखता देकर उन्होंने मान्य सिद्धान्त के विपक्ष को प्रबल शब्दों में उपस्थित किया और इस प्रकार जीवन के प्रति अनात्मवादी दृष्टिकोण को काव्य के क्षेत्र में आरोपण किया। मेधा की प्रखरता और मौलिकता की दृष्टि

---

१. वही, ३·१·२७.

२. वही, ३·१·२८.

३. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः, वही, ३·१·२.

४. वही, ३·१·१ की वृत्ति,

से वामन का स्थान किसी से निम्नतर नहीं है : इस दृष्टि से उनका स्थान भरत, भामह, आनन्दवर्धन, कुन्तक और जगन्नाथ के समकक्ष है।"[1]

उद्भट

'काव्यालंकारसारसंग्रह' में उद्भट का गुण विषयक कोई विवेचन उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु 'भामह विवरण' में सम्भवतः उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा था जो सम्प्रति अप्राप्त है; किन्तु उनका मत आज पूर्वपक्ष के रूप में आचार्यों द्वारा जो उद्धृत हुआ है वही प्राप्त होता है। उनका मत गुणालंकाराभेद से युक्त है। वे अपने से प्राचीन आचार्यों की इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि गुण और अलंकार भिन्न हैं। क्योंकि उनके अनुसार लोक तथा काव्य में भेद हुआ करता है। जैसा जो कुछ भी लोक में होता है ठीक वैसा ही काव्य में नहीं पाया जाता। लोक में देखने में आता है कि गुणों का समवायरूपेण सम्बन्ध होता किन्तु अलंकारों का संयोग सम्बन्ध होता है। किन्तु काव्य में गुणों एवं अलंकारों दोनों का ही समवाय सम्ब्रन्ध होता है। काव्यप्रकाशकार ने उनके इस मत को उद्धृत करते हुये उसका खण्डन किया है कि गुण और अलंकार में अभेद है। उद्भट ने गुणों और अलंकारों में जो अभेद माना है उसके मूलतः दो आधार हैं—एक तो यह कि दोनों ही काव्य के शोभाकर धर्म हैं तथा दोनों की ही काव्य में समवायवृत्त्या स्थिति रहती है। किन्तु उत्तरवर्ती आलंकारिकों के द्वारा उद्भट के इस मत की घोर आलोचना हुई तथा किसी भी परवर्ती आचार्य ने इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया।

रुद्रट

रुद्रट ने काव्यगुणों पर कोई विचार नहीं व्यक्त किया है। 'काव्यालंकार' के द्वितीय अध्याय में सुन्दर वाक्य के कुछ लक्षण दिये गये हैं—

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥[2]

अर्थात् न्यून, अधिक, अवाचक, अक्रम, अपुष्टार्थ, अपशब्द, दुःश्रवत्वादि दोषों से शून्य परिपूर्ण अर्थनिर्भर वाक्य का प्रयोग विद्वान् को करना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'काव्यालंकार' में एक अन्य स्थल पर 'गुण' शब्द का उल्लेख हुआ है, किन्तु वहाँ गुण शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर, सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपान्।
दोषान् गुणांश्च निपुणो विसृजन्नसारम् ॥[3]

---

१. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० २२.
२. रुद्रट, काव्यालंकार, २.८.
३. वह, ११.३६.

इसके अतिरिक्त काव्यालंकार में गुणों का कोई अन्य विवेचन नहीं प्राप्त होता है। ध्वनिपूर्ववर्ती एवं परवर्ती मतों में पार्थक्य को दृष्टिगत कराने के लिये परवर्ती गुण सम्वन्धी मतों को दृष्टिगत कराना परमावश्यक है। अतः हमने यहाँ सर्वप्रथम परवर्ती गुण सम्वन्धी मतों को उपस्थित किया है, तदुपरान्त समीक्षा प्रस्तुत की है।

आनन्दवर्धन

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्थापित करते हुये उसे उचित मूल्य प्रदान किया, उसीप्रकार गुणों को भी सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के द्वारा ही उचित महत्त्व प्राप्त हुआ। गुण अवतक संघटनाश्रित माने जाते थे, आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम उन्हें रसाश्रित सिद्ध किया। इसी आधार पर गुणों एवं अलंकारों में भेद निरूपित किया है। क्योंकि गुण रसाश्रित होते हैं तथा अलंकार शब्द एवं अर्थ पर आश्रित रहते हैं। इसप्रकार भिन्नाश्रयत्व से इनमें भेद नितान्त स्पष्ट हो जाता है—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥[1]

आनन्दवर्धन ने तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। भामह के लिये भी लोगों की मान्यता है कि उन्होंने भी इन्हीं तीन गुणों को स्वीकार किया है। किन्तु भामह एवं आनन्दवर्धन के गुण नाम्ना समान होते हुये भी स्वरूपतः भिन्न हैं। क्योंकि भामह ने गुणों का विभागाधार अल्पसमास, दीर्घसमास आदि को वनाया है तो आनन्दवर्धन ने द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों को इन गुणों के विभाजन का आधार माना है।

आनन्दवर्धन ने रीतियों एवं वृत्तियों को गुणों में ही अन्तर्निविष्ट माना है। इस वात का संकेत वे प्रथम उद्योत में ही करते हैं—'वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्।'[2] 'तद्नतिरिक्त वृत्ति' की व्याख्या में लोचनकार ने और भी स्पष्ट कर दिया है कि गुणों से अनतिरिक्त।

माधुर्य श्रृंगार रस का गुण है; क्योंकि अन्य रसों की अपेक्षा श्रृंगार मन को अधिक आह्लादित करता है, अतः वह मधुर कहा गया है।[3] यह माधुर्य गुण विप्रलम्भ श्रृंगार एवं करुण रस में चित्त के अधिक द्रवीभूत होने के कारण क्रमशः प्रकर्ष को

१. ध्वन्यालोक, २·६.
२. वही, पृ० ५.
३. ध्वन्यालोक, २·७.

प्राप्त होता है।ओज को चित्त की दीप्ति माना है। यह रौद्र, वीर, अद्भुत आदि रसों में हृदय की दीप्ति के रूप में रहता है।[1] हास्य, भयानक, वीभत्स और शान्त रसों में इन दोनों विरोधी गुणों का वैचित्र्यपूर्णसमावेश माना गया है।

प्रसाद का अर्थ शब्द और अर्थ की स्वच्छता है। यह सब रसों का साधारण गुण है तथा सभी रचनाओं में समान रूप से रहता है। सरलता से सभी रसों को व्यंजित कर देने की काव्य की शक्ति प्रसाद गुण कहलाती है।[2] प्रसाद के इस महत्त्व का कारण यह है कि इस गुण के अभाव में रस की व्यञ्जना ही सम्भव नहीं है।

राजशेखर

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में 'गुणौपादानिक' नामक अध्याय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। अतः गुणविषयक उनकी मान्यता का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। किन्तु 'काव्यमीमांसा' के सप्तम अध्याय में गुण विषयक अवधारणा की कुछ अस्पष्ट झलक प्राप्त होती है जिससे यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भी आनन्दवर्धन की भाँति माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों को माना था। किन्तु इस विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं प्रस्तुन की जा सकती है। काकु के प्रयोग को प्रदर्शित करते समय वे कहते हैं कि—

> प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनी।
> मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्॥[3]

अर्थात् प्रसाद गुण के प्रसंग में वाणी को गम्भीर बनाना चाहिये और उसके विरोधी अर्थात् ओजगुण के प्रसंग में उच्च करना चाहिये तथा भय के योग में आवश्यकतानुसार ऊँचा-नीचा करना चाहिये।

भय के योग में वाणी के उच्चावच होने की बात जो राजशेखर ने कही है वह इस बात को इंगित करता है कि वे गुण का सम्बन्ध रस से मानते हैं। विभिन्न रसों के संयोग के साथ विभिन्न गुणों के स्वरूप में भिन्नता रहती है। इसके अतिरिक्त प्रशस्त पाठ का लक्षण देते हुये जो उन्होंने कहा है—

> ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
> श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशसन्ति॥[4]

सुन्दर, काकुयुक्त, उज्वल, अर्थानुकूल विभक्त वर्णों तथा सुखदायी वर्णों के

---

१. वही, २.९.
२. वही, २·१०.
३. काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ८८.
४. वही, पृ०८८.

विभागवान पाठ की कवि प्रशंसा करते हैं। यहाँ 'श्रुतिसुखविविक्तवर्ण' पूर्ववर्ती आचार्यों के माधुर्यगुण के लक्षण के समकक्ष है। यद्यपि राजशेखर का गुण सम्बन्धी विवेचन अनुपलब्ध है तथापि इस प्राप्त विवेचन से इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि वे माधुर्य, ओज एवं प्रसाद नामक तीन गुणों की सत्ता मानते थे।

कुन्तक

रीति की भाँति ही कुन्तक का गुणविवेचन भी परम्परा से हटकर है। गुणों के विभाजन में उन्होंने कविस्वभाव को प्रमाण माना है। कविस्वभाव के आधार पर उन्होंने सुकुमार, विचित्र और मध्यम इन तीन काव्य मार्गों का उल्लेख किया है तथा इन तीनों मार्गों के उन्होंने दो सामान्य गुण–औचित्य और सौभाग्य तथा चार विशेष गुण—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य माने हैं। ये चारों गुण नाम्ना समान होते हुये भी प्रकृति से परस्पर भिन्न हैं। किन्तु जिन दो सामान्य गुणों का वर्णन किया है वे दोनों ही गुण अलंकारादि से अत्यन्त शोभित होकर तीनों ही मार्गों में पद, वाक्य एवं प्रबन्धों अर्थात् समस्त काव्य के अवयवों में व्याप्त होकर स्थित रहते हैं।[1] यथोचित विधानको औचित्य कहा जाता है तथा चेतना को चमत्कृत कर देना ही सौभाग्य गुण का कार्य है, जिसका मूलाधार प्रतिभा है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक छः गुण मानते हैं।

भोज

भोज ने गुणों के भेद प्रभेदों का उल्लेख करके उनकी संख्या में वृद्धि कर उसमें मौलिकता लाने का प्रयास किया है। किन्तु तथ्य यह है कि काव्यशास्त्र की परम्परा में उनके गुण विस्तार को कोई विशेष महत्त्व नहीं मिला है। गुणों का विवेचन भोज के सरस्वतीकण्ठाभरणम् में उपलब्ध होता है। इसमें इन्होंने गुणों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। इनमें शब्द गुणों को बाह्य गुण माना गया है। आभ्यन्तर गुण अर्थ गुण हैं तथा वैशेषिक गुण दोष गुण हैं अर्थात् काव्य के कुछ दोष भी विशेष स्थिति में गुण बन जाते हैं।

"त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति।
बाह्या शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥"[2]

---

१. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ वक्रोक्तिजीवित, १.५७.

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, १.६०–६१.

भोजराज ने चौवीस गुण माने हैं जो इस प्रकार हैं—

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यञ्च गाम्भीर्यमथ विस्तरः।
संक्षेपः सम्मितत्वञ्च भाविकत्वं गतिस्तथा॥
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥[1]

इन गुणों से सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि "वास्तव में शब्द और अर्थ का स्पष्ट पार्थक्य वहुत दूर तक निभाना कठिन होता है। वामन दस गुणों में ही बुरी तरह असफल रहे हैं, फिर भोज चौवीस गुणों में उसका निर्वाह किस प्रकार करते? इस पार्थक्य का आधार है आश्रय आश्रयी भाव, परन्तु वह स्वयं असिद्ध रहता है—और भोज ने तो यह आधार भी विधिवत् ग्रहण नहीं किया है। अतएव उनका विवेचन अत्यन्त असंगत एवं अनर्गल हो गया है।"[2] उत्तरवर्ती आलंकारिकों में से किसी ने भी भोज के इन गुणों को मान्यता नहीं प्रदान की है।

मम्मट

मम्मट को अलंकारशास्त्रियों ने वाग्देवतावतार कहा है—जो वास्तव में युक्तियुक्त है। किसी भी तथ्य को ये स्पष्ट आलोक प्रदान कर देते हैं। मम्मट की गुण विषयक अवधारणा आनंदवर्धन की अवधारणा से प्रभावित है। मम्मट ने गुण को अंगीरस का धर्म स्वीकार किया है, जिनकी काव्य में अचलतया स्थिति रहती है तथा ये काव्य के उत्कर्ष हेतु हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[3]

जिसप्रकार शौर्य का सम्वन्ध निश्चित रूपेण आत्मा के साथ है, शरीर से उसका कोई सम्वन्ध नहीं क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि क्षीणकाय व्यक्ति भी शूर होता है और स्थूल व्यक्ति भी कायर। इस तथ्य से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती जाती है कि शौर्य आत्मनिष्ठ धर्म है न कि शरीर निष्ठ। उसीप्रकार काव्य में भी कोमल वर्णों में भी ओज जैसे दीप्त गुण का सद्भाव पाया जा सकता है और कहीं-

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरणम्, १.६३–६५.
२. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ५१.
३. काव्यप्रकाश, ८.६६.

कहीं कठोर पदों में भी माधुर्य गुण की उपलब्धि हो जाती है। इसप्रकार मम्मट की गुण सम्बन्धी परिभाषा के तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

१. गुण काव्य के अंगी रस के धर्म हैं।

२. वे रसोत्कर्षक हेतु हैं।

३. रस के साथ उनकी अचल स्थिति है।

गुण की अचल स्थिति को इंगित करने के लिये ही इन्होंने अपने काव्य लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[1] में काव्य में काव्यत्व के लिये निर्दोषता एवं सगुणता को अनिवार्य माना है, यदि अलंकार स्फुटतया प्रतीत न भी हो तो उससे काव्यत्व का हान नहीं होता है। गुण एवं अलंकार का स्पष्ट पार्थक्य मम्मट ने दर्शित किया है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[2]

जिसप्रकार शरीर पर हारादि अलंकार उसकी वर्तमान शोभा में वार्धक्य लाने का कार्य करते हैं उसीप्रकार अनुप्रास एवं उपमादि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार उस रस के रहने पर शब्द एवं अर्थ रूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकार करते हैं। रस के रहने पर भी अलंकार सदैव उत्कर्ष हेतु ही बने यह आवश्यक नहीं है, वे कभी उत्कर्ष भी करते हैं कभी अपकर्ष एवं कभी तटस्थ भाव से स्थित रहते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि अलंकार रस के रहने पर ही काव्य का उपकार करते हैं। यह तथ्य इस बात की ओर इंगित करता है कि अलंकारों की स्थिति रस निरपेक्ष है इसीलिये तो मम्मट ने चित्रकाव्य या अवर काव्य की कल्पना की है।

इन तत्त्वों की स्थापना के अनन्तर मम्मट ने उद्भट के गुणालंकार अभेद मत का खण्डन किया है। गुण की काव्य में नित्य स्थिति तथा अलंकार की अनित्य स्थिति सिद्ध हो जाने पर उद्भट के सिद्धान्त की निःसारता स्पष्ट हो जाती है। वामन ने यद्यपि गुण एवं अलंकार में भेद स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने दोनों को ही शब्दार्थाश्रित माना है। वामन ने गुणों को शोभाजनक एवं अलंकार को उत्कर्ष हेतु मानकर गुण को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य माना है। मम्मट की युक्ति है कि वामन के अनुसार गुण को शोभाजनक तत्त्व मान लिया जाये तो प्रश्न यह होगा कि क्या प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् सौन्दर्य सृष्टि की क्षमता रखता है? यदि हां, तो

---

१. काव्यप्रकाश, सूत्र १, पृ० १९.

२. वही, ८·६७.

ऐसे अनेकानेक वाक्य उपलब्ध होंगे जिनमें वामन सम्मत कोई न कोई गुण अवश्य ही होगा। यथा—

'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः।'[1]

इसमें वामन सम्मत गाढबन्धता रूप ओज विद्यमान है। किन्तु यह ओजगुण इस वाक्य को काव्यत्व का अधिकारी नहीं बना सकता। यदि सभी गुणों की सहस्थिति में काव्य में सौन्दर्यजनन का सिद्धान्त माना जाये तो गौडी एवं पाञ्चाली रीति में निबद्ध काव्यों में अव्याप्ति दोष हो जायेगा। इस प्रकार वामन का काव्य सम्बन्धी मूल सिद्धान्त ही विनष्ट हो जायेगा। अतः वामन का गुणालंकार भेद एवं गुणों की परिभाषा भ्रान्तिपूर्ण है।

मम्मट ने भी तीन ही गुण माने हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद तथा १० गुणों की स्थिति का खण्डन किया है—माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।।[2] इनके अन्तर्भाव को इसप्रकार समझा जा सकता है[3]—

गुण	शब्दगुण लक्षण	अन्तर्भाव	अर्थगुण लक्षण	अन्तर्भाव
१. श्लेष	बहुनां पदानामेक-पदवद्भासनम्	ओज	क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वयोगरूप घटना	विचित्रतामात्रम्
२. प्रसाद	ओजोमिश्रित-शैथिल्यात्मा	ओज	अर्थवैमल्यम्	अपुष्टार्थत्वाभाव
३. समता	मार्गभेद स्वरूपिणी	कभी दोष कभी गुण	प्रक्रान्तप्रकृत्यादिनिर्वाहः	प्रक्रमभङ्गदोषाभाव
४. माधुर्य	पृथक्पदत्वम्	माधुर्य	माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्	अनवीकृतदोषाभाव
५. उदारता	विकटत्वम्	ओज	अग्राम्यत्वम्	ग्राम्यत्वाभाव
६. अर्थव्यक्ति	पदानां झटित्यर्थ-समर्पणम्	प्रसाद	वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्	स्वभावोक्ति अलंकार में

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, सूत्र ८७ की वृत्ति, पृ० ३८५.

२. वही, सूत्र ८८, पृ० ३८८.

३. (अ) केचिन्दन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।। काव्यप्रकाश, ८·७२, सूत्र ९५

(ब) काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास पृ० ३९१–९२

७. सुकुमारता	अपारुष्यम्	दुःश्रवत्वत्याग	अपारुष्यम्	अमंगलाश्लीलत्याग
८. ओज	बन्धवैकटचम्	ओज में	साभिप्रायत्वम्	अपुष्टार्थत्वाभाव
९. कान्ति	औज्ज्वल्यम्	ग्राम्यत्वाभाव	दीप्तरसत्वम्	ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य में
१०. समाधि	आरोहावरोह-क्रमः	ओज में	अर्थदृष्टिरूपः अयोनिः अन्यच्छायायोनिश्चेति द्विविधः	अर्थदृष्टि है न कि गुण

चित्त के द्रवीभाव का कारण और शृंगार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है वह माधुर्य कहलाता है।[1] यह माधुर्यगुण सामान्यतः सम्भोग शृंगार में प्राप्त होता है किन्तु करुणरस, विप्रलम्भ शृंगार तथा शान्त रस में यह उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होता जाता है।

इसी प्रकार वीररस में रहने वाली चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज कहलाती है।[2] यह वीभत्स तथा रौद्र रस में क्रमशः आधिक्य को प्राप्त होती है।

प्रसाद गुण सभी रसों में एवं सारी रचनाओं में पाया जाता है। इसका कार्य रचना को बोधगम्य बनाना है। जिस प्रकार सूखे इन्धन में अग्नि सहसा व्याप्त हो जाती है अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो व्याप्त हो जाता है वह सभी रसों में रहने वाला प्रसाद गुण है।[3]

वस्तुतः ये गुण रस धर्म हैं किन्तु जिस प्रकार से उपचार से शौर्यादि को शरीर का धर्म मान लिया जाता है जबकि वस्तुतः वे आत्मा के धर्म हैं, उसी प्रकार उपचार से इन गुणों की शब्द और अर्थ में स्थिति मानी जाती है।[4] क्योंकि 'वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः'[5] अर्थात् वर्ण, समास और रीति उन गुणों के व्यञ्जक होते हैं। गुणों की अभिव्यञ्जना वर्णाश्रित, समासाश्रित या रीत्याश्रित है इसी से

---

१. (अ) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। काव्यप्रकाश, सू० ८९.
   (ब) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥ वही, सू० ९०
२. (अ) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः। वही, सू० ९१.
   (ब) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥ वही, सू० ९२.
३. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
   व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥ वही, सू० ९३.
४. काव्यप्रकाश, सू० ९४.
५. वही, ८·७३.

गौण रूप से गुणों को शब्दार्थाश्रित मान लिया जाता है। मम्मट ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद के व्यञ्जक वर्णों को इंगित करने के उपरान्त इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि यद्यपि संघटना आदि गुणाश्रित होती है फिर भी—

"वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥[1]

कहीं-कहीं वक्ता तथा कहीं वाच्य (विषय) तथा कहीं प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का भी प्रयोग उचित माना जाता है।

माधुर्य, ओज, प्रसाद रूप तीन ही गुणों का औचित्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनिपूर्ववादी आचार्य गुणों की संख्या गुणन में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों में अधिकांश आचार्य तीन ही गुण मानते हैं। इन तीनों गुणों में प्रसाद तो साधारण गुण है। शेष रह जाते हैं दो गुण—माधुर्य और ओज, जो कि मानव स्वभाव की दो मूल प्रवृत्तियों–कोमल एवं परुष का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दो प्रवृत्तियों में अन्य सभी प्रवृत्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है; मात्र परिमाण में न्यूनाधिकता आती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कुतंक ने तीन मार्ग चुने हैं–सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम। इस प्रकार उत्तरवर्ती आलंकारिकों की तीन गुण विषयक अवधारणा वैज्ञानिक है।

१. काव्यप्रकाश, ८·७७, सूत्र १०१.

पञ्चम अध्याय

कवि व्यापार की दृष्टि से किया गया विवेचन

संस्कृत अलंकारशास्त्र में मुख्य रूप से छः सम्प्रदाय—रस, अलंकार, रीति एवं गुण, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य प्रचलित हैं। यद्यपि इन समस्त सिद्धान्तों का लक्ष्य अलंकार्य की अवाप्ति है, किन्तु लक्ष्य एक होने पर भी इन सभी के पथ अलग-अलग हैं। अलंकारशास्त्र के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आचार्यों ने काव्य का मात्र काव्य की दृष्टि से परीक्षण किया है यथा अलंकारवादी आचार्य, कुछ ने कवि व्यापार को दृष्टि में रखकर विवेचन किया है यथा रीति एवं वक्रोक्ति को मानने वाले आचार्य तथा कुछ ने सहृदयगत-रसानुभूति को प्राधान्य देते हुये विवेचन किया है—यथा रस, ध्वनि एवं औचित्य सम्प्रदाय।[1]

'अलंकार सर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन विभिन्न सम्प्रदायों के उदय को बड़े ही युक्तियुक्त ढंग से प्रस्तुत किया है। "इह विशिष्टो शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यम् धर्ममुखेन व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन, वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चमो आनन्दवर्धनेन।"[2] अर्थात् विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य है। शब्द और अर्थ में यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है—१. धर्म से २. व्यापार से ३. व्यङ्ग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य गुण और अलंकार के भेद से दो प्रकार का होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी वक्रोक्ति एवं भोजकत्व के भेद से दो प्रकार का होता है। इसप्रकार इन पाँच

---

१. भारतीय काव्य समीक्षा काव्य को कवि, काव्य और अनुभविता तीनों ही दृष्टि से देखती आयी है। फलतः काव्य के सभी तत्त्व जहाँ कवि की दृष्टि से रीति या मार्ग कहे गये हैं और अनुभविता की दृष्टि से रसादि, वहीं काव्य की दृष्टि से उन्हें केवल अलंकार कहा गया है।
रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त, प्राक्कथन, पृ० १.

२. पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा उद्धृत, भारतीय साहित्यशास्त्र (दूसरा भाग), पृ० १६.

पक्षों में पहला उद्भटादि के द्वारा स्वीकृत अलंकार सम्प्रदाय है। दूसरा वामन के द्वारा अंगीकृत रीति एवं गुण सम्प्रदाय है। तृतीय कुन्तक के द्वारा स्वीकृत वक्रोक्ति सिद्धान्त है। चतुर्थ भट्टनायक द्वारा मान्य भोजकत्व व्यापार है, जिसकी उद्भावना भट्टनायक ने 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के सन्दर्भ में रसास्वादन हेतु की थी। किन्तु परवर्ती काल में अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिमत ही प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। व्यापाराधिक्य की कल्पना के कारण भट्टनायक का भोजकत्व व्यापार स्वीकृत नहीं हुआ। शब्दार्थ में व्यङ्ग्यमुखेन वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

यहाँ हमारा प्रतिपाद्य व्यापारमुखेन वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करना है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य वक्रोक्ति और भोजकत्व के भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें भणिति वैचित्र्य कवि व्यापार की ओर इंगित करता है और भोजकत्व सहृदय की रसभुक्ति के प्राधान्य को इंगित करता है।

नाट्यशास्त्र में इस दृष्टि का संकेत

ये दोनों दृष्टियाँ भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भाव वर्णन के प्रसंग में स्पष्ट लक्षित होती हैं। भाव की व्याख्या करते हुये इन्होंने दो व्युत्पत्तियों की ओर संकेत किया है—'अत्राह–भावा इति कस्मात्। किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तति भावाः।'[1]

सर्वप्रथम यह अवधारणीय है कि भाव शब्द 'भू अवकल्पने' से निष्पन्न हुआ है। अवकल्पन का अर्थ—चिन्तन होता है। चिन्तन ज्ञान रूप होता है अतः प्रथम व्युत्पत्ति का अर्थ हुआ कि जो ज्ञानरूप में हृदय में स्थित रहते हैं वे भाव हैं तथा द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार जो ज्ञानरूप में अवस्थित चित्तवृत्तियों को विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा भावित करते हैं, वे भाव हैं। भावों को विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के द्वारा भावित करना कवि कर्म की कुशलता है तथा इससे जन्य रसानुभूति सहृदयगत वासना का परिणाम है। रसास्वादन में वासना के महत्त्व को इंगित करते हुये साहित्यदर्पणकार का कथन है—"न जायते तदास्वादो बिना रत्यादि वासनाम्।"[2] अपने कथन के समर्थन में आलंकारिक धर्मदत्त की उक्ति को उद्धृत करते हुये इन्होंने पुनः कहा है कि—

> सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
> निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यश्मसन्निभाः।[3]

---

१. नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय, पृ० ३६७.

२. साहित्यदर्पण, ३ ८.

३. वही, पृ० ११७.

अर्थात् रसास्वाद उन्हीं सामाजिकों को होता है जिनके हृदय में रत्यादिवासनायें पूर्वावस्थित हों (भवन्तीति भावाः) जिनमें वासना नहीं है वे सामाजिक नहीं अपितु रंगशाला के खम्भे, दीवार एवं पत्थर के समान सर्वथा काव्यार्थानुभव से वञ्चित रहने योग्य ही हैं। वासना तत्त्व को महाकवि कालिदास ने भी स्वीकार किया है। शाकुन्तलम् में दुष्यन्त के मुख से यह श्लोक कहला कर—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्।
> पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥[1]

उन्होंने अपनी इस मान्यता की पुष्टि की है। इसमें दुष्यन्त ने जो यह कहा है कि सुखी प्राणी भी रमणीय वस्तु को देखकर और मधुर शब्द सुनकर जो उत्कण्ठित होता है तो निश्चय ही वह जन्मान्तर के प्रेम का स्मरण करता है, इसमें स्पष्टतः व्यक्ति की रागात्मकता में वासनाओं के योगदान का समर्थन है।

इस प्रकार भाव की भरतमुनि द्वारा कृत दोनों की व्युत्पत्तियाँ बड़ी सारगर्भित हैं। रसास्वाद के लिये जहाँ भावों का चित्तवृत्ति रूप में अवस्थित होना आवश्यक है; काव्यार्थ के लिये उतना ही आवश्यक है चित्तवृत्ति रूप में स्थित भावों का विभावानुभावव्यभिचारी से भावित होना। भरतमुनि ने "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते"[2] कहकर कविगत भावों को विशेष महत्ता प्रदान की है। अभिनवगुप्त ने भी भरतमुनि के कथन का समर्थन किया है, वे काव्य में कविगत रस को मूल बीज स्थानीय मानते हैं, वृक्षस्थानीय काव्य है, अभिनयादि पुष्प स्थानीय हैं तथा सामाजिक का रसास्वाद फल स्थानीय है—

'तदेवं मूलं बीजस्थानीयः कविगतो रसः।···ततोवृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।'[3]

इसप्रकार अभिनवगुप्त ने बीज स्थानीय कविगत रस की परिणति फल स्थानीय सामाजिक के रसास्वाद में दिखलाई है।

नाटयशास्त्र के १६ वें अध्याय में लक्षणों के स्वरूप की विवेचना करते हुये

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ५·९.
२. नाटयशास्त्र, ७·२,
३. अभिनवभारती, पृ० ६९१.

अभिनवगुप्त ने किसी अज्ञात नामा आचार्य का मत उद्धृत किया है तथा उसमें कवि व्यापार के प्राधान्य को इंगित किया है—

'एकेषां तु दर्शनं–कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथम परिस्पन्दः तद्व्यापार बलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरुपनिबन्धसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापार-संपाद्यास्त्वलङ्कारा:।'[1]

अर्थात् कवि के प्रतिभाख्य व्यापार बल से गुणों का वर्णन हो पाता है। क्योंकि सामान्य कवि के द्वारा गुणों का उपनिबन्धन सम्भव नहीं है, यह तो मात्र प्रतिभा सम्पन्न कवियों के द्वारा ही साध्य है। 'इस शब्द से इसका वर्णन करूँगा' ऐसा निश्चय अलंकारों का निष्पादक होता है। 'इन शब्दों के साथ इन विशिष्ट शब्दों की तथा इन अर्थों के साथ इन विशिष्ट अर्थों की संघटना करूँगा' इसप्रकार का जो कवि का तृतीय व्यापार है—इसी की अधीनता में काव्य को शब्दात्मक एवं अर्थात्मक शरीरादि का लाभ होता है।

इस वर्णन से यह निष्कर्ष स्पष्ट रूपेण प्रकट हो रहा है कि गुण, अलंकार तथा शब्दसौष्ठव एवं अर्थसौष्ठव सभी कवि व्यापाराधीन हैं।

भामह के काव्यालंकार में अस्फुट स्वरूप

भामह ने वक्रोक्ति को काव्यार्थ के प्रसू के रूप में स्वीकार करके कवि की भणिति वैचित्र्य को ही प्राधान्य प्रदान किया है।[2] वक्रोक्ति को भामह ने शब्दगत एवं अर्थगत दोनों ही माना है—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।[3]

यह वक्रोक्ति वाणी का मूल अलंकार है—

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते॥[4]

काव्य का समस्त सौन्दर्य इसी वक्रोक्ति के अधीन है। इसी से अर्थ विभावित होता है, इसके बिना किसी अलंकार की सत्ता रह ही नहीं सकती। वस्तुतः भामह की वक्रोक्ति अतिशयता से युक्त है क्योंकि इन्होंने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को अभिन्न माना है। कथन भंगिमा जबतक अतिशयित वक्रता से युक्त न हो, वह

१. वही, पृ० १२५४.
२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ २.८५.
३. काव्यालंकार, १.३६.
४. वही, ५.६६.

१६

शोभावह कैसे हो सकती है। वक्रोक्ति से रहित होने के कारण ही तो भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना है। वक्रोक्तिहीन कथन वार्त्ता हो सकता है उसे काव्यत्व का अभिधान नहीं प्रदान किया जा सकता है। यथा—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥[1]

यह तो जनसामान्य के नित्य प्रति के बोलचाल का ढंग मात्र है। सामान्य भाषा और काव्यभाषा में विभेद वक्रोक्ति के द्वारा ही आता है। वक्रोक्ति की इसी व्यापकता को भामह ने—'युक्त वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते'[2] के द्वारा इंगित किया है। अर्थात् रूपक, सर्गबन्ध, कथा, आख्यायिका, गाथा और मुक्तक आदि जितने भी काव्यभेद हैं उनमें वक्रोक्ति का ही चमत्कार अभिव्याप्त है। वैदर्भ एवं गौड इन दो मार्गों में उत्कृष्टता का आधार भामह ने वक्रोक्ति को ही माना है। इसप्रकार स्पष्ट है कि वक्रोक्ति का मुख्य प्रयोजन अर्थ को भावित करना है—'अनयाऽर्थो विभाव्यते'। सामान्य लगने वाली बात वक्र + उक्ति के द्वारा असाधारण सी प्रतीत होने लगती है।

काव्यादर्श में यत्र-तत्र निर्देश

दण्डी ने भी काव्यादर्श में प्रवन्धगुण भाविक के वर्णन के प्रसंग में कवि-व्यापार के महत्त्व को इंगित किया है। भाविक को लक्षित करते हुये उन्होंने कहा है

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥[3]

भाविक को दण्डी ने काव्य प्रबन्ध में व्याप्त गुण माना है। वस्तुतः कवि के अभिप्राय विशेष को भाव कहते हैं, जो काव्य की परिणति पर्यन्त अवस्थित रहता है तथा जिसपर भाविकत्व नामक गुण आश्रित है। इसप्रकार सर्व प्रथम दण्डी ने ही काव्यप्रबन्ध में व्याप्त रहने वाले कवि के अभिप्राय विशेष को महत्त्व स्पष्ट शब्दों में प्रदान किया है।

इसके अतिरिक्त भी दण्डी ने कवि की संकल्पना को महत्त्व प्रदान किया है। दण्डी ने भी भामह की ही भाँति अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति में अभेद माना है तथा अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है—

---

१. काव्यालंकार, २.८७.
२. वही, १.३०,
३. काव्यादर्श, २.३६४.

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।[1]

वस्तुतः लोकवार्ता से भिन्न वाक् भंगिमा ही अतिशयोक्ति है—

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ।।[2]

लोकवार्ता में विशेषत्व का आधान इस अतिशयोक्ति के द्वारा ही आता है । अतः यह समस्त अलंकारों में श्रेष्ठ है ।

कवीय वैदग्ध्यभणिति की दण्डी ने प्रशंसा की है । वक्रोक्ति युक्त काव्य मनोरम हो जाता है और वक्रोक्तिहीन काव्य किस प्रकार उद्वेगजनक होता है उसे दण्डी ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है । वक्रोक्ति हीन काव्य को दण्डी ने 'ग्राम्य' शब्द से अभिहित किया है । एक ही अर्थ वक्रोक्तिहीन होने पर कितना विरस प्रतीत होता है यथा—

कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते ।।[3]

यही अर्थ भिन्न शब्दों में अभिव्यक्त कर देने पर कितना हृदयहारी हो उठता है—

कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निष्ठुरः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ।।[4]

भणिति वैचित्र्य से एक ही अर्थ कितना रसावह हो उठा है । इसीलिये तो दण्डी अग्राम्यता को रसाभिव्यक्ति का मूल कारण स्वीकार करते हैं—

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।[5]

वामन में इस दृष्टि का विकास

वामन की सम्पूर्ण काव्यगत अवधारणा कवि सम्बन्धी मार्ग या रीति पर आधारित है । इन्होंने कविमार्ग को सर्वाधिक प्राधान्य देते हुये रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । रीति इनकी दृष्टि में विशिष्ट पदरचना रूप है ।[6]

---

१. काव्यादर्श, २·२२०.
२. वही, २·२१४.
३. वही, १·६३.
४. काव्यादर्श, १·६४.
५. वही, १·६२.
६. रीतिरात्मा काव्यस्य । १·२·६.
विशिष्टापदरचना रीतिः । १·२·७.

वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं—वैदर्भी, गौडी और पांचाली। इन तीनों रीतियों में वैदर्भी को ही इन्होंने ग्राह्य एवं उपादेय माना है, अल्प गुण युक्त शेष दो रीतियाँ अनुपादेय हैं। काव्यमार्ग में प्रवृत्त हुये कवि को मात्र वैदर्भी को ही आदर्श मानकर उसके लिये ही यत्न करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार शणसूत्र का अभ्यासी त्रसरसूत्र विनने में वैचित्र्य नहीं दिखला सकता, उसी प्रकार गौडी एवं पांचाली रीति में काव्य रचना का अभ्यासी वैदर्भी में रचना नहीं कर सकता है।[1] भामह ने काव्य के जिस असाधारण सौन्दर्य को वक्रोक्ति में देखा है, दण्डी ने अग्राम्यता में, वामन ने उसे ही वैदर्भी रीति में देखा है। वैदर्भी की प्रशंसा करते हुये वे कहते हैं—

सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्नविना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥

अतः स्पष्ट है कि वैदर्भी ही एकमात्र वह रीति है जो कविवाणी में मधुत्व का संचार करती है। जिस प्रकार कोई भी चित्र रेखाओं के अधीन होता है, उसीप्रकार काव्य उक्त तीनों रीतियों पर आधृत है 'एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।'[2]

काव्य को रीत्याश्रित मानकर प्रकारान्तर से वामन ने कविगत भणिति वैचित्र्य को ही प्राधान्य प्रदान किया है। सामान्य अर्थ भी वैदर्भी के आश्रय से असाधारण सा प्रतीत होने लगता है। इस वैदर्भी रीति के द्वारा काव्य में शब्द सौन्दर्य स्पन्दित होने लगता है। नीरस पदार्थ भी सरस हो उठता है, सहृदय हृदयाह्लादक शब्दपाक वैदर्भी रीति में उदित हो उठता है—

वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्रीर्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ,सहृदयहृदनांरञ्जकःकोऽपि पाकः॥[3]

वामन ने रीति की विशिष्टता गुण से मानी है—अतः इनके गुणों में भी कविव्यापारगत वैशिष्ट्य की स्पष्ट झलक दृष्टिगत होती है। अर्थगुणों के निरूपण के प्रसंग में इन्होंने ओज को अर्थ की प्रौढ़ता माना है। अर्थगत प्रौढ़ि के पाँच प्रकार हैं—

---

१. न शणसूत्रवानाभ्यासी त्रसररूत्रवान् वैचित्र्यलाभः।।१·२·१८.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१३ की वृत्ति.
३. वही, १·२·२१ की वृत्ति,

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासमासौ च साभिप्रायत्वमेव च।[1]

इसप्रकार इन्होंने किसी कथन को कैसे अनेक ढंग से कहा जा सकता है, यह दिखलाया है।

समाधि का लक्षण इन्होंने 'अर्थदृष्टिः समाधिः' किया है अर्थात् अर्थ का दर्शन ही दृष्टि है और उसके समाधिमूलक होने से उसे समाधि कहते हैं। यह अर्थ दो प्रकार का होता है—'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा।'[2] अयोनि तथा अन्यच्छायायोनि। ये दोनों ही भेद कवि की मौलिकता एवं अमौलिकता को आधार बनाकर किये गये हैं। अयोनिज काव्य वह है जिसमें बिना किसी अन्य कविकृति से प्रेरणा पाये कवि रचना करता है तथा अन्यच्छायायोनिज काव्य वह है जिसमें अन्य के काव्य की छाया होती है।

इसीप्रकार अर्थगुण माधुर्य को व्याख्यायित करते हुये वामन ने माधुर्य को उक्तिवैचित्र्य रूप माना है—'उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्'।[3] वामन का उक्ति वैचित्र्यरूप माधुर्य कुन्तक की पदार्थवक्रता के सन्निकट है। किसी बात को सीधे ढंग से न कहकर वैचित्र्याधान के साथ कहना ही तो उक्ति की विचित्रता है और इसमें जिस कवि की जितनी प्रगल्भता होगी वह उतना ही श्रेष्ठ होगा।

अग्राम्यत्व रूप उदारता के द्वारा भी वामन ने भणिति वैचित्र्य को ही इंगित किया है। कोई बात सीधे ढंग से या यथातथ्य रूप में कह देने पर ग्राम्य या अश्लील सी प्रतीत होती है वही भणिति भंगी के आश्रय से अग्राम्य और रसावह हो जाती है। भट्टनायक ने भी काव्य की उत्पत्ति कविव्यापार जन्य मानी है। उनके अनुसार जब तक कवि का हृदय रसाप्लावित नहीं हो जाता, तबतक काव्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है—

"एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—यावत्त्वपूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।"[4]

ध्वन्यालोक में कवि की संकल्पना का महत्त्व

आचार्य आनन्दवर्धन ने कवि को अतुलनीय महत्त्व देते हुये कवि की तुलना प्रजापति से की है। इस सन्दर्भ में आनुवंश्यश्लोक को उद्धृत करते हुये उन्होंने कहा है—

---

१. वही, ३·२·२ की वृत्ति.
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·२·८.
३. वही, ३·२·११.
४. लोचन, पृ० ८८.

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।[1]

क्योंकि यदि कवि रसिक है तो उसका काव्य ऐसा होगा जिसमें सारा जगत् रसमय हो जाता है, यदि वह वैरागी है तो उसके द्वारा निवद्ध काव्य समस्त संसार की नीरसता का ही उपपादन करेगा । सुकवि अपने काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान और चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान यदृच्छया वर्णित करता है ।

आनन्दवर्धन ने भी कवि के कथन में अतिशयता का आधान करने वाली वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में अभेद स्वीकार किया है । क्योंकि महाकवियों द्वारा वर्णित अतिशयोक्तिगर्भ काव्य अनिर्वचनीय शोभा से युक्त होता है । परन्तु अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति के सम्बन्ध में यह अवधारणीय है कि वह विषयानुकूल हो; विषयौचित्य इस वक्रता का नियामक है । इसीलिये इन्होंने भामह की वक्रोक्ति का अनुमोदन करते हुये उनकी ही पंक्तियों को उद्धृत कर दिया है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।

कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है उसको ही शोभातिशय प्राप्त होता है ।[2]

आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि की काव्यात्मत्वेन प्रतिष्ठा की है वह मात्र सत्कवियों के काव्य में ही रहने वाला तत्त्व है । क्योंकि एक शब्द के अनेक पर्याय होने पर भी वह ध्वनि तत्त्व उनमें से किसी एक ही शब्द द्वारा व्यञ्जित होता है—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ।।[3]

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ३१२.

२. प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति । कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ।...तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपा, इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः । ध्वन्यालोक, पृ० २३१.

३. ध्वन्यालोक, १.८,

इसी तथ्य को कुन्तक ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥[1]

अन्य पर्यायों के रहने पर भी विवक्षित अर्थ का वोधक केवल एक ही शब्द वस्तुतः शब्द कहलाता है । इसीप्रकार सहृदयाह्लादक अपने स्वभाव से सुन्दर पदार्थ ही वस्तुतः अर्थ है ।

यही कारण है कि इस अलोकसामान्य अर्थ की अवगति मात्र व्याकरण और कोश के ज्ञान से नहीं हो पाती है । केवल काव्य मर्मज्ञ ही उस अर्थ को समझने में सक्षम हैं । इस अर्थ की अभिव्यक्ति कवि किस प्रकार करता है यह उसकी प्रतिभा पर निर्भर है, क्योंकि ध्वनि की व्यापकता प्रत्यय एवं निपात से लेकर महाकाव्य तक व्याप्त है—

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥[2]

भट्टनायक के अनुसार कवि कर्म काव्य का आधार

भट्टनायक ने भी कवि व्यापार को सर्वाधिक प्रधानता प्रदान की है । इनके अनुसार कवि व्यापार की प्रधानना में गुणीभूत शब्द एवं अर्थ काव्यत्व पद को प्राप्त करता है—'व्यापारस्येति । कविकर्मणः । अन्यथा शब्दप्रधानेभ्योवेदादिभ्योऽर्थ-प्रधानेभ्यश्चेतिहासादिभ्यः काव्यस्य वैलक्षण्यं न स्यात् ।

यदुक्तम्—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥[3]

अर्थात् वेदादिशास्त्र काव्य से पृथक् इस अर्थ में हैं कि उनमें शब्द की प्रधानता होती है, पुराणेतिहासादि में अर्थ की प्रधानता है तथा काव्य में कविव्यापार की प्रधानता होती है । व्यापार प्राधान्य ही काव्य का वाङ्मय के अन्य प्रकारों से भेदक लक्षण है । वस्तुतः काव्य सौन्दर्यानुभूति ही तो है । यह सौन्दर्यानुभूति अभि-व्यक्ति पथ पर अवतरित होकर ही सहृदय के आह्लाद का कारण बनती है । कवि का व्यापार कवि और सहृदय के मध्य का सेतु है, जिनके मध्य में रस की भागीरथी

१. वक्रोक्तिजीवित, १·९.
२. ध्वन्यालोक, ३·१६.
३. अलंकारसर्वस्व की विमर्शिनी टीका, पृ० २५.

प्रवहमान है। कवि के सम्प्रेषण का आधार शब्द और अर्थ है, इसीलिये प्रायः सभी आचार्यों ने शब्दार्थ को काव्य शरीर रूप में स्वीकार किया है—'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'[1] किन्तु कवि व्यापार का वैशिष्ट्य उस शब्दार्थ शरीर में सञ्जीवनी भर देना है। इसी जीवन तत्त्व को ध्वन्यालोककार ने प्रतीयमान की संज्ञा प्रदान की है तथा इससे युक्त दो-तीन या चार-पाँच कालिदास आदि कवियों में काव्यत्व को स्वीकार किया है[2]—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[3]

जैसे विशेष शोभाशाली एक अंग में धारण किये हुये आभूषण से भी कामिनी शोभित होती है इसीप्रकार पदमात्र से द्योतित होने वाले ध्वनि से भी सुकवि की भारती सुशोभित होती है—

विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥[4]

कुन्तक में कवि व्यापारपरक दृष्टि का चरमोत्कर्ष

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने कवि व्यापार को अत्यधिक महत्त्व दिया है, वे काव्य को कवि का कर्म मानते हैं—'कवेः कर्म काव्यम्'[5]। कुन्तक ने यह स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि काव्यनिर्माण के लिये कवि को किस प्रकार वक्रतायुक्त शब्द, अर्थ, गुण आदि का काव्य में सन्निवेश करना चाहिये जिससे काव्य सहृदयश्लाघ्य बन जाये। कवि व्यापार प्रसूत लोकोत्तर चमत्कार-कारक वैचित्र्य ही वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति को कविप्रतिभाप्रसूत[6] तथा सहृदयाह्लाकारी अवश्य ही होना चाहिये। कुन्तक की वक्रोक्ति कविकौशल का पर्याय है जिसका लक्ष्य 'तद्विदाह्लादकत्व' है। इस प्रकार कुन्तक ने यह स्थापित किया है कि काव्य में कविपक्ष और सहृदयपक्ष परस्पर विरोधी नहीं हैं। कवि द्वारा प्रसूत काव्य की काव्यता का निर्णायक सहृदय ही है। इसीलिये कुन्तक की वक्रोक्ति निपुण कवि

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ५.
२. अस्मिन् अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनी संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते। पृ० ३१.
३. ध्वन्यालोक; १.६.
४. वही, ३.१ की वृत्ति, परिकर श्लोक, पृ० १६३.
५. वक्रोक्तिजीवित, १.२ की वृत्ति, पृ० ७
६. यत् किञ्चिन्नपि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम् ॥ १.२८.

की अपूर्व निर्माण क्षमता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि कुन्तक की वक्रोक्ति का तात्पर्य वक्र + उक्ति—वाक्चातुर्य से न हो कर कवि कौशल से है जो कवि के प्राक्तनाद्यतनसंस्कार जनित प्रतिभा का परिणाम होती है।[1] इसीलिये इन्होंने समस्त काव्यतत्त्वों को कविस्वभाव से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। कुन्तक की यह स्थापना है कि कवि का यह अपूर्व निर्माणक्षमत्व केवल अलंकार्यभूत रसादि में ही नहीं रहता अपितु अलंकार रचना में भी इसकी अभिव्यक्ति होती है। काव्य का लक्षण करते हुये वे कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[2]

अर्थात् काव्यमर्मज्ञों को आनन्द देने वाली वक्रकवि व्यापार युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। अतः स्पष्ट है कि काव्य कवि की कौशलपूर्ण रचना है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार के रूप में नहीं स्वीकार किया है अपितु प्रसिद्ध कथन प्रकार से व्यतिरिक्त भणिति भंगिमा को ही वक्रोक्ति स्वीकार किया है—'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा[3]। अतः स्पष्ट है वक्रोक्ति कविव्यापार का पर्याय है। यथा—'कवीनां व्यापारः कवि व्यापारः काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यं तस्य प्रकाराः प्रभेदाः षट् सम्भन्ति।'[4]

अर्थात् कवियों का काव्यकरणस्वरूप व्यापार कवि व्यापार कहलाता है। शास्त्र पुराणादि प्रसिद्ध प्रस्थानों से व्यतिरिक्त वैचित्र्याधायक वक्रभाव मुख्यरूप से छः प्रकार का होता है। उन छः भेदों के अवान्तर भेद अनन्त हो सकते हैं। मुख्य छः भेद इस प्रकार हैं—१. वर्णविन्यास वक्रता २. पदपूर्वार्द्ध वक्रता ३. पदपरार्द्ध वक्रता ४. वाक्य वक्रता ५. प्रकरण वक्रता ६. प्रबन्ध वक्रता।

कुन्तक ने काव्य के तीन हेतु माने हैं प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। ये तीनों ही हेतु कविस्वभाव पर आधृत हैं। इनका काव्यमार्ग भी कविस्वभाव के अनुरूप ही सुकुमार, विचित्र और मध्यममार्ग युक्त है—

'तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढिरमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकं च त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते।'[5]

---

१. प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ाप्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः। व. जी.
२. वही, १·७.
३. वही, १·१० की वृत्ति, पृ० ४८.
४. वक्रोक्तिजीवित, १·१८ की वृत्ति, पृ० ६२.
५. वही, १·२४ की वृत्ति, पृ० १००.

वस्तुतः कविस्वभाव की अनन्तता के कारण काव्यमार्ग भी अनन्त हो सकते हैं, किन्तु उन सबकी परिगणना असम्भव होने से सामान्यरूप से तीन भेद ही मानना युक्तियुक्त है—'यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते ।'[1]

कुन्तक की यह विचारधारा दण्डी के इस कथन से बहुत मेल खाती है—'तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः'[2], क्योंकि जिसप्रकार ईक्षु, दुग्ध, गुडादि में निहित माधुर्य में बहुत अन्तर है किन्तु उस महान् अन्तर को स्वयं सरस्वती भी प्रतिपादित नहीं कर सकतीं तो फिर सामान्यजन का कहना ही क्या—

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ।।[3]

इसीलिये दण्डी ने मुख्यरूप से वैदर्भ एवं गौड ये दो ही मार्ग माने हैं तथा समग्र गुणों से युक्त वैदर्भ को श्रेष्ठ माना है । यहीं पर कुन्तक का इनसे वैमत्य है । कुन्तक किसी काव्यमार्ग को उत्तम एवं अधम कोटि से लक्षित करना युक्तियुक्त नहीं मानते हैं । वे पूर्णतः इसे कवि के स्वभाव पर आधृत स्वीकार करते हैं । सुकुमार स्वभाव वाला कवि ललित काव्य रचना करेगा, विचित्र स्वभाव वाला कवि उग्रस्वभाव वाले काव्य को अधिक पसन्द करेगा । अतः यह तो अनुभव सिद्ध तथ्य है कि यदि विप्रलम्भ श्रृंगार से युक्त मेघदूत सहृदयों के हृदय को आवर्जित करने वाला है तो वीररस प्रधान किरातार्जुनीयम् भी । दोनों ही पृथक्-पृथक् अपने महत्त्व की भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं ।

कुन्तक पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के कर्तृपक्ष पर सबसे अधिक बल दिया है । इन्होंने काव्य का 'जीवित', 'वक्रोक्ति' को माना है तथा वक्रोक्ति को कवि व्यापार जन्य कहकर कवि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है—'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।'[4]

कुन्तक ने वक्रोक्ति के मुख्य रूप से छः भेद किये हैं और इन भेदों में कुन्तक

---

१. वही, १·२४ की वृत्ति, पृ० १००.
२. काव्यादर्श, १.१०१.
३. काव्यादर्श, १.१०२.
४. वक्रोक्तिजीवित, १·१० की वृत्ति, पृ० ४८.

ने उन समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव कर लिया है जिसे कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त करता है। इनकी वक्रोक्ति का आयाम वर्णवक्रता से लेकर प्रबन्धवक्रता तक व्याप्त है।

प्रबन्धवक्रता को तो कुन्तक ने एकमात्र कविप्रतिभा जन्य स्वीकार किया है। क्योंकि वे स्पष्टतया कहते हैं कि प्रबन्ध का सौन्दर्य इतिवृत्त पर आश्रित नहीं है अपितु कविकौशलाधीन है। अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं तथा सन्धि-सन्ध्यंगों की सुगठित योजना में जो कवि जितना सशक्त होगा—तद्जन्य काव्य उतना ही आकर्षक। कवि की इसी कारयित्री प्रतिभा के परिणामस्वरूप एक ही इतिवृत्त विभिन्न वक्रताओं का माध्यम बनता है—

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरःकवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥[1]

कवियों की वाणी केवल कथा पर ही आश्रित होकर नहीं रहती है अपितु निरन्तर रस का आस्वादन कराने वाले प्रसंगों के अतिशय से युक्त होकर जीवित रहती है। ठीक इसी तथ्य को आनन्दवर्धन ने अभिव्यक्त किया है। उन्होंने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि प्रिया के हाव-भाव के समान सुकवि की वाणी की न तो अवधि होती है और न उसमें कभी पुनरुक्ति ही आती है—

न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥[2]

क्योंकि कवि वाणी विषयों को सदैव नूतन रूप में उपस्थित करती है। एक ही अर्थ रसादि के आश्रय से अनन्तता को प्राप्त कर जाता है—'तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते।''[3]

आचार्य मम्मट की दृष्टि

परवर्ती काल में कर्तृपक्ष पर अन्य किसी आचार्य ने इतना बल नहीं दिया है। यद्यपि मम्मट ने मंगलाचरण में कहा है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥[4]

---

१. वक्रोक्तिजीवित, ४·४ की वृत्ति, पृ० ४१७.
२. ध्वन्यालोक, ४·७ की वृत्ति, पृ० ३५३.
३. वही, ४·३ की वृत्ति, पृ० ३४०.
४. काव्यप्रकाश, १·१.

इस कारिका में मम्मट ने काव्यस्वरूप एवं कवि व्यापार दोनों को ही इंगित किया है। यहाँ कवि की तुलना प्रजापति से करके व्यतिरेकालंकार के आश्रय से प्रजापति से कवि का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया है। क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि में तो मात्र षड् रस होते हैं जबकि कवि की सृष्टि से नवरस होते हैं। इसके साथ ही ब्रह्मा की सृष्टि कारण कार्य भाव पर आधृत होने से निश्चित नियमाबद्ध है जबकि कवि नियतिकृत नियमों को तोड़कर उससे परे भी काव्यसर्जना करने के लिये स्वतन्त्र है इसीलिये तो अभिनवगुप्त ने कहा है—'अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां'[1] अर्थात् कवि बिना कारण के भी अपूर्व वस्तु के सृजन में सक्षम होता है।

आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य के भेद के प्रसंग में, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि को द्योतित करते हुये उसके बारह भेदों का निर्देश इस प्रकार किया है—

१. स्वतः सम्भवी के चार भेद
२. कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध के चार भेद
३. कवि निबद्धवक्तृ प्रौढ़ौक्ति सिद्ध[2] के चार भेद।

स्वतः सम्भवी रूप भेद भी यद्यपि कवि द्वारा ही निरूपित होता है किन्तु स्वतः सम्भवी कहने का आशय यह कि इसमें निरूपित अर्थ केवल काव्य जगत् में ही उस रूप में नहीं पाया जाता, अपितु लोक में भी वह अर्थ उसी रूप में प्राप्त होता है।

काव्य और कवि की अनुभूति

एक तथ्य जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय परम्परा कवि व्यापार में कवि की व्यक्तिगत अनुभूति पर बल नहीं देती है। अपितु व्यक्तिगत अनुभव के कारण, कार्य, सहकारियों के अलौकिक विभावनादि व्यापार से व्यङ्ग्य अर्थ में विभावित होने को काव्य स्वीकार करती है। यदि व्यक्तिगत अनुभूति ही काव्य में यथावत् अभिव्यक्ति पा लेती तो वह काव्य–काव्य न होकर वार्त्ता होता तथा लोक और काव्य में कोई भेद न रह जाता। लोक के सुख-दुःख की अनुभूति काव्य में भी होने लगती। इसीलिये—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥'[3]

की व्याख्या में लोचनकार ने कहा है—'क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन—

१. लोचन; पृ० १.
२. काव्यप्रकाश, पृ० १५२.
३. ध्वन्यालोक, १·५.

साहचार्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृंङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव,...न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्।'[1] इसीप्रकार ध्वन्यालोक में वर्णित आनुवंश्य श्लोक—

'शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥'[2]

की व्याख्या में पुनः लोचनकार ने कहा है कि—शृङ्गारीति। शृङ्गारोक्तविभावानुभाव व्यभिचारिचर्वणारूपप्रतीतिमयो न तु स्त्रीव्यसनीति मन्तव्यम्। अतएव भरतमुनिः—'कवेरन्तर्गतं भावं', 'काव्यार्थान् भावयति' इत्यादिषु कविशब्दमेव मूर्धाभिषिक्ततया प्रयुङ्क्ते।[3]' अर्थात् शृंगारी से तात्पर्य स्त्री व्यसनी नहीं, बल्कि विभावादि की चर्वणा रूप प्रतीति से युक्त व्यक्ति से है। इसीलिये भरतमुनि ने कवि शब्द का मूर्धाभिषिक्त रूप में प्रयोग किया है।

आलोचनाशास्त्र में रस के प्रति संरम्भ होते हुये भी आनन्दवर्धन, अभिनव आदि ने कविकौशल को भी अस्फुट रूप में स्वीकार किया है तथा कुन्तक ने तो स्पष्टतया काव्य को कवि-कर्म ही घोषित कर दिया है।

किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो काव्यशास्त्र में वस्तुरूप के वर्णन के समक्ष कर्तृपक्ष दब गया है। काव्यात्मा रस के वर्णन के प्रसंग में भी भोक्तृ पक्ष को प्रधानता दी गयी है—उसके रचयिता कवि पक्ष को नहीं।

काव्य हेतु

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यहेतुओं पर प्रायः समस्त आलंकारिकों ने विचार किया है तथा प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का कारण माना है। इनमें भी 'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।'[4] 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'[5], 'अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्'[6], 'प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः' आदि वाक्यों के द्वारा प्रतिभा को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। क्योंकि प्रतिभा के द्वारा व्युत्पत्तिकृत दोष निगूहित हो सकता है किन्तु व्युत्पत्ति प्रतिभा के अभाव की पूरिका नहीं हो सकती—

---

१. लोचन, पृ० ८६–८८.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ३१२.
३. लोचन, पृ० ५३०.
४. काव्यालंकार, १.५
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.३.१६.
६. ध्वन्यालोक, १.६.

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥[1]

इसीलिये तो रुद्रट ने उत्पाद्या एवं सहजा रूप प्रतिभा के दो भेद करके सहजा के महत्त्व को ख्यापित किया है—

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥[2]

काव्य प्रयोजन

इसी प्रकार से काव्य प्रयोजनों का भी काव्यशास्त्र में विस्तृत निरूपण हुआ है। सहृदय की दृष्टि से तो आनन्द ही चरम लक्ष्य है। किन्तु कवि की दृष्टि से कीर्ति, प्रीति, अर्थप्राप्ति, अनर्थ निवारण एवं पुरुषार्थ चतुष्टय को मुख्य रूप से प्रयोजन स्वीकार किया गया है। इन सभी प्रयोजनों में कीर्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। काव्य भूलोक की स्थिति पर्यन्त यश प्रदान करने वाला है।[3] प्राचीन राजाओं का यशरूपी बिम्ब वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके, आज उन राजाओं का अस्तित्व न होने पर भी विनाश को नहीं प्राप्त हो रहा है।[4] विद्वान् लोगों ने कीर्ति को जबतक संसार है तबतक रहने वाली तथा स्वर्गरूप फल देने वाली कहा है।[5] अतः स्पष्ट है कि महाकवि युग के अन्त तक रहने वाले यश को काव्य के द्वारा ही अर्जित करता है।[6] यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने 'काव्यं यशसे' के द्वारा समस्त प्रयोजनों में सर्वप्रथम प्रयोजन यश को ही स्वीकार किया है।

यहाँ हमने काव्य हेतु और काव्य प्रयोजनों का वर्णन आनुषंगिक रूप से किया है, वस्तुतः हमारा लक्ष्य मात्र कवि व्यापार को दर्शित करना ही है। जैसाकि

---

१. वही, ३·६ की वृत्ति में परिकर श्लोक, पृ० १७६.

२. काव्यालंकार, १·१६.

३. अतोऽभिवाञ्छाता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥ काव्यालंकार, १·८.

४. आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥ काव्यादर्श, १·५.

५. (अ) प्रतिष्ठां काव्यबंधस्य यशसः सरणिं विदुः का.सू.वृ.१·१·५ की वृत्ति में श्लोक—१
(ब) कीर्तिस्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः । १·१·५ की वृत्ति में श्लोक—२

६. स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम् ।
कल्पान्तस्थायि यशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात् ॥ काव्यालंकार १·२१.

प्रारम्भ में ही हमने अभिनवगुप्त के मत के सन्दर्भ में निर्दिष्ट किया है कि कवि का भाव ही वह बीज है जो अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित होकर सहृदय के रसास्वाद में परिणत होता है। यह कविव्यापार का ही महात्म्य है कि अपूर्वता, सरसता तथा हृद्यता कविसहृदयाख्य सरस्वतीतत्त्व रूप 'काव्य' में एकान्ततः प्राप्त होता है—

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगंभासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥[1]

अतः स्पष्ट है कि पाषाणवत् नीरस जगत् में रसभार को भरने वाला कवि ही है।

सहृदय व्यापार की दृष्टि से किया गया विवेचन

काव्य के व्यापारमूलक वैशिष्टय के आधार पर वक्रोक्ति एवं भोजकत्व रूप दो भेद होते हैं। वक्रोक्ति का सम्बन्ध कवि व्यापार से है, जिसका निर्देश अभी हमने किया है तथा भोजकत्व का सीधा सम्बन्ध सहृदय से है। 'भोजकत्व' अपने आप में सापेक्ष है। भोग कौन करता है? यह जिज्ञासा बनी रहती है तथा इसकी विश्रान्ति सहृदय में ही होती है। विभावानुभावव्यभिचारी द्वारा भावित स्थायी भाव के साधारणीकृत स्वरूप का भोग सहृदय ही करता है।

सहृदय व्यापार के विवेचन के पूर्व सहृदय का लक्षण जान लेना समीचीन होगा। भरत ने सहृदय शब्द का प्रयोग न कर नाटच सन्दर्भ के कारण प्रेक्षक शब्द का प्रयोग किया है। प्रेक्षक की विशेषता निरूपित करते हुये वे कहते हैं—

यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाटचे प्रेक्षकः स्मृतः॥[2]

इसके अतिरिक्त रसभोग के प्रसंग में भी भरतमुनि ने 'सुमनस् प्रेक्षक' का उल्लेख किया है—

"यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाटचरसाः व्याख्याताः।"[3]

---

१. लोचन, मंगलाचरण का प्रथम श्लोक।
२. नाटचशास्त्र, २७·५५.
३. वही, पृ० २८४.

यहाँ पर भरत ने 'सुमनस्' विशेषण लगाकर यह और भी स्पष्ट कर दिया है कि रसास्वाद का अधिकारी मात्र सहृदय प्रेक्षक ही होता है। इसप्रकार भरत के अनुसार सहृदय और प्रेक्षक अभिन्न है।

अभिनवगुप्त ने सहृदयगत विशेषताओं को बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवसाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः'।[1]

अर्थात् काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनके विशुद्ध हुये मनोमुकुर में वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है, वे वर्णनीय वस्तु से एकीकरण को प्राप्त होने वाले सहृदय होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जो सर्जक के चित्त के साथ एकाकार हो जाये वही सहृदय है।

महाकवि कालिदास ने सहृदय को 'संत' शब्द से अभिहित किया है और उन्हें ही काव्यास्वाद का अधिकारी माना है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥[2]

अतः स्पष्ट है कि काव्यानुशीलन के साथ ही काव्य रचना से अभिन्न हो जाने की क्षमता सहृदय का सर्वाधिक प्रमुख गुण है। भाषा कवि और सहृदय के मध्य सम्प्रेषण का आधार है। यह तो कवि की विलक्षणता पर आधृत है कि अपने अभिप्रेत अर्थ को वह ऐसे शब्दों का साँचा प्रदान करे कि ठीक वही अनुभूति सहृदय में जग उठे। इसीलिये भट्टतौत का कथन है कि कवि, नायक और सामाजिक तीनों एक ही अनुभव से गुजरते हैं—

'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'[3]

काव्य का आस्वादयिता सहृदय

कवि द्वारा प्रयुक्त शब्द तथा सहृदय के द्वारा उन शब्दों का व्यञ्जित अभिप्रेत ही इस समानानुभव का आधार है। क्योंकि जैसाकि हमने कवि व्यापार के वर्णन के प्रसंग में निर्दिष्ट किया है कि भारतीय काव्य समीक्षा के अनुसार कवि की व्यक्तिगत अनुभूति अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकती है। अपितु कवि का साधारणीभूत संवित् ही काव्यरूप में अभिव्यक्त होता है। वही साधारणीभूत संवित् सामाजिक के अनुभव का विषय वनता है। यही कारण है कि भावकत्व एवं व्यञ्जना को व्यापार की

---

१. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ३९–४०.
२. रघुवंश, १'१०.
३. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ९२

संज्ञा दी गयी है। 'व्यापार' शब्द से साधन की भावना व्यंजित होती है। साध्य तो भोजकत्व या आस्वाद है जो कि रस है। यही कारण है कि भट्टनायक ने रसचर्वणा को प्राणभूत तत्त्व माना है—

'काव्ये रसायिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्'[1]

अभिनवगुप्त ने भी रस की अनुकार्यगत तथा नटगत स्थिति का निषेध कर सहृदयगत स्थिति को मान्यता दी है।

काव्य का प्रयोजन आनन्दावाप्ति

लोचनकार ने भामह के काव्यप्रयोजन को उल्लिखित कर आनन्द की ही प्रतिष्ठा की है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।इति।।

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्"[2]

यहाँ पर समस्त काव्य प्रयोजनों में प्रीति अर्थात् आनन्द की ही प्रधानता स्थापित की गयी है। यह आनन्द सहृदयनिष्ठ ही तो है क्योंकि पुनः वे आनन्दवर्धन के सहृदयों के हृदय में प्रतिष्ठित होने की बात को इंगित करते हैं—'तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थिति गच्छत्विति भावः।[3] आनन्दवर्धन ने ध्वनि का प्रयोजन 'सहृदयमनः प्रीति'[4] ही स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद पूर्णतः सहृदय दृष्टि को केन्द्र में रख कर निरूपित किया गया है। अभिनवगुप्त ने जो एकाधिक बार रस की अलौकिकता का कथन किया है उसमें भी सहृदयगत भावना ही प्रधान है। चूँकि रस अनुभूति का विषय है और अनुभूति को अनुभव किया जा सकता है, शब्दबद्ध करने पर तो वह ज्ञान हो जायेगा अनुभव नहीं। विश्वनाथ ने भी रस स्वरूप को निरूपित करते हुये जो यह कहा है—

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।

---

१. वही, पृ० ४०.
२. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ४१.
३. वही, पृ० ४१
४. तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ।। ध्वन्यालोक, १·१

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[1]

इससे भी रस को आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द चेतना कहा जा सकता है। 'काव्य प्रकाश' में मम्मट द्वारा उद्धृत अभिनवगुप्त का मत भी इसी तथ्य को व्यंजित करता है—'......सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियत-प्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशो-न्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधा-रण्येन, स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवा-लिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।'[2]

यहाँ पर रस को आस्वादमात्र स्वरूप कहकर पूर्णतः इसे सहृदयनिष्ठ मान लिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक मान लेने पर पूरा बल सहृदयता पर ही पड़ता है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त के आलोचकों का अभिनव के प्रति सबसे प्रबल आक्षेप यही है कि यदि काव्य के मूल्यांकन के सन्दर्भ में प्रमाता की सहृदयता को ही प्रमाण मान लिया जाये तो उचित मूल्यांकन हो ही नहीं सकता है।

मम्मट का 'सद्यः परनिर्वृत्ति' रूप काव्य प्रयोजन सहृदयगत भावना से अनु-प्राणित है। विश्वनाथ ने तो सहृदयानुभूति को प्रमाण रूप में उपस्थित कर दिया है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परमं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥[3]

अर्थात् करुणादि रसों की आनन्दात्मकता का प्रमाण सहृदयानुभूति ही है। इससे प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करने की कोई अपेक्षा ही नहीं है।

इस सन्दर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ का भी ठीक यही मत है—'शृङ्गारप्रधान-काव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।'[4]

---

१. साहित्यदर्पण, ३.२–३,
२. काव्यप्रकाश, पृ० १०८–१०९.
३. साहित्यदर्पण, ३.४.
४. रसगंगाधर, श्री मधुसूदनशास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या के प्रथम भाग से उद्धृत पृ० १३७–३८.

अर्थात् जिसप्रकार शृङ्गाररस प्रधान काव्यों से सुख का अनुभव होता है उसी-प्रकार करुण रस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही प्राप्त होता है। यह बात यदि सहृदयों के हृदयों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है, तब कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिये, इस नियम के अनुसार काव्य के लोकोत्तर व्यापार के अन्तर्गत ही आह्लादजनकता के समान दुःख प्रतिवन्धकता की कल्पना कर लेनी चाहिये। इसप्रकार काव्य के साथ सहृदय सापेक्षता जुड़ी हुई है। कवियों की अमरता का रहस्य यह सहृदय परम्परा ही तो है—

'उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः' ।।[1]

कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा के संस्पर्श से युक्त अर्थ से जब सहृदय का संवाद होता है तो पूर्वदृष्ट अर्थ भी सहृदय को नये से प्रतीत होते हैं। इसीलिये तो आनन्द-वर्धन ने कहा है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।।[2]

"इस 'नवता' की सम्पत्ति के लिये वर्ण्यवस्तु में 'विशेष' का आधान करना पड़ता है। इस 'विशेष' को उभारने के लिए कवि को 'शब्द' में कुछ अतिरिक्त क्षमता भरनी पड़ती है। शब्द की यही अतिरिक्त क्षमता अतिरिक्त अर्थ प्रदान करती है। यही अतिरिक्त अर्थ काव्य को व्यावहारिक और शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक उक्ति से भिन्न कर देता है। आलोककार ने इस अतिरिक्त अर्थ को 'प्रतीयमान' कहा और कहाकि 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' प्रतीयमान अर्थ 'कुछ और' ही अर्थ है। इसी 'कुछ और' को कहीं 'असाधारण' कहीं 'विशेष' और कहीं 'नव' से इंगित किया गया है।"[3]

आनन्दवर्धन, मम्मटादि ध्वनिवादी आचार्यों के अतिरिक्त भरतसूत्र के व्याख्या-कारों में भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने काव्य में सहृदयाव्यापार ही स्थिति को स्वीकार किया है।

भट्टनायक का भावकत्व एवं भोग व्यापार

भट्टनायक के अनुसार काव्य में व्यवहृत शब्द की शक्ति के तीन अंश होते हैं। वाच्यार्थ की दृष्टि से शब्द में अभिधायकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार होता है। रस की

१. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ४१.
२. ध्वन्यालोक, ४·४.
३. बच्चूलाल अवस्थी द्वारा लिखित 'भारतीय काव्य समीक्षा में 'ध्वनि सिद्धान्त' के राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा लिखित पातनिका भाग से उद्धृत, पृ० ८

दृष्टि से शब्द में भावकत्व अर्थात् भावना व्यापार होता है। सहृदय की दृष्टि से शब्द में भोगकृत्व अर्थात् भोगीकरण व्यापार होता है। 'किं त्वन्यशब्दवैलण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम् भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः।'[1]

भट्टनायक ने चूँकि अभिधा की शक्ति सीमित होती है अतः भावना नामक द्वितीय व्यापार की कल्पना की है। इनके अनुसार भावकत्व व्यापार रसों का भावन करता है तथा विभावादि का साधारणीकरण करता है। भावित रस का ही भोग होता है। यह भोग अनुभव, स्मरण आदि प्रतिपत्तियों से विलक्षण और द्रुति, विस्तार और विकास से युक्त रजोगुण और तमोगुण के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्त्वमय, निजचित्, निर्वृत्ति विश्रान्ति लक्षण, ब्रह्मास्वाद के सदृश होता है॥[2]

भट्टनायक के मत को उद्धृत करने में अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत ये कारिकायें भी बड़ी उपयोगी हैं—

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतरेव च।
अभिधाधामतां यातः शब्दार्थालङ्कृती, ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणोऽभवत्।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥[3]

अर्थात् अभिधा, भावना और भोगीकरण ये तीन व्यापार हैं। शब्दार्थ तथा अलंकार अभिधा व्यापार से अभिहित होते हैं। भावना व्यापार से भावित शृंगारादि रस भोग होने पर अधिकारी को व्याप्त कर लेते हैं।

भट्टनायक के सिद्धान्त को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत किया है—

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण

---

१. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १९३.

२. तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृत्तिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वाद सविधः॥ ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १९३.

३. अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ६४७.

भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः ।"[1]

अतः स्पष्ट है कि इनके मत में अभिधा से केवल काव्य का शब्दार्थ उपस्थित होता है । इसमें 'भावकत्व' व्यापार व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध का निराकरण करता है अर्थात् जो कथा रामादि विशेष से सम्बद्ध रहती है वे सामान्य रूप को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् निर्विशेष हो जाते हैं । जिससे सामाजिक उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है । इसी तादात्म्य की स्थिति को अलंकार शास्त्र में साधारणीकरण नाम से निर्दिष्ट किया गया है । इस साधारणीकरण के बिना रसास्वाद असम्भव है । क्योंकि यदि विभावादि की स्वगतत्वेन प्रतीति होगी तो वहाँ रस न होकर स्थायी भाव होगा तथा यदि परगतत्वेन प्रतीति होगी तो ताटस्थ्य भाव जाग्रत होगा । अतः सामाजिक की निर्वैयक्तिकता का भाव ही साधारणीकरण है । इस साधारणीकरण प्रक्रिया में मुख्य रूप से सात विघ्न हो सकते हैं जिनका निर्देश 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने किया है– १. सम्भावना का अभाव २. सामाजिक का निज सुख दुःखादि के वशीभूत होना ३. स्वगत परगतत्व आदि की प्रतिति ४. प्रतीति के समुचित उपायों का अभाव ५. प्रतीति का अस्फुट होना ६. विषय की अप्रधानता ७. संशय का योग । इन विघ्नों से रहित काव्य में ही सहृदय में साधारणीकरणात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती है ।[2]

यहाँ एक बात जान लेनी चाहिये कि साधारणीकरण और सामान्यीकरण दोनों दो प्रक्रियायें हैं । साधारणीकरण का सम्बन्ध विशुद्ध भावनात्मक है और सामान्यीकरण बौद्धिक । साधारणीकरण में व्यक्ति 'स्व' का 'पर' से तादात्म्य स्थापित करता है तथा सामान्यीकरण में व्यक्ति स्वयं निरपेक्ष रहकर भी किसी समूह में किसी समान तत्त्व का निर्देश कर सकता है । अतः इन दोनों शब्दों के अर्थों में भ्रान्ति कदापि नहीं होनी चाहिये । वस्तुतः "भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिबद्ध 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है; किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त भूमा की चेतना में परम सुख की

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० १०६–७.

२. तथा हि–लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्तासंवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादन भोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते । विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यताः, संभावनाविरहो नाम, स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशीभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यं, स्फुटत्वाभावो, अप्राधानता, संशययोगश्च ।
अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ६५८.

उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोकादि अप्रिय भाव भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति सम्बन्ध जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं।"[1]

भावकत्व व्यापार के द्वारा जब साधारणीकरण हो जाता है तब शब्द का 'भोजकत्व' नामक तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है। भावकत्व से भाव्यमान रस का भोजकत्वव्यापार से भोग रूप दोनों व्यापारों में वस्तुतः असंलक्ष्यक्रम ही रहता है। अर्थात् समझने, समझाने के लिये इन दो व्यापारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है, वस्तुतः यह प्रक्रिया झटिति सम्पन्न हो जाती है।

भोजकत्व व्यापार काल में यद्यपि सत्त्व का उद्रेक होने से सहृदय का चित्त चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है, फिर भी उसमें रजोगुण एवं तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रुति, विस्तार, विकास आदि की स्थिति रहती है। वस्तुतः यह आत्मसाक्षात्कार की अवस्था ब्रह्मास्वाद के समान है।

'तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातोऽद्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेध वैचित्र्य-बलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।'[2]

अतः स्पष्ट है कि रस का स्थान सहृदय का चित्त है। क्योंकि भट्टनायक के अनुसार स्थायीभाव ही भावित होकर रस बन जाता है, अतः स्थायी भाव की सत्ता व्यक्ति में ही हो सकती है शब्दार्थ में नहीं। काव्य में रस की स्थिति उपचार से ही सिद्ध हो सकती है। भावकत्व एवं भोजकत्व रूप व्यापार सहृदय में ही घटित हो सकते हैं।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरणात्मक व्यापार को तो स्वीकार किया है किन्तु उनका कहना है कि भट्टनायक ने जो रस की प्रतीति एवं अभिव्यक्ति दोनों का निषेध किया है वह युक्तियुक्त नहीं है। साथ ही भट्टनायक ने जो भावना और भोग रूप दो वृत्तियों को माना है वह भी व्यापाराधिक्य की कष्ट कल्पना के कारण उचित नहीं है—"वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वनन-व्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्।

---

१. डॉ० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ० १२३.
२. अभिनवभारती, प्रथम भाग, पृ० ६४३–६४५.

भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्यवक्ष्यते। किमेतदपूर्वम् ?'[1]

क्योंकि शब्द और अर्थ का अभिधा से भिन्न व्यञ्जनात्मक ध्वनन नामक व्यापार ही उपयोगी होता है। अतः लोचनकार का कथन है कि जिसे आप भोगीकरण कहते हैं, वह काव्य का रसविषयक ध्वनन व्यापार ही है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है। जिसे आप भावकत्व कहते हैं वह भी समुचित गुणालंकार योजना ही है। फिर इसमें नवीनता क्या है ? वस्तुतः शब्द एवं अर्थ दोनों ही रस के भावक हैं ऐसा तो हम पहले ही कह चुके हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[2]

इसीलिये व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलंकार के औचित्य आदि रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसों को भावित करता है। वस्तुतः भावना के तीन अंश होते हैं—साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता। साध्य है रस, साधन है विभावादि का साधारणीकरणात्मक ध्वनन व्यापार तथा इतिकर्तव्यता है समुचित गुणालंकार योजना।[3]

भोग रूप जिस द्वितीय व्यापार की भट्टनायक ने कल्पना की थी, उस भोग को सिद्ध करने में भी व्यञ्जना या ध्वनन व्यापार ही मुख्य है। अर्थात् मोहान्धतारूप संकट का निवारण कर अलौकिक रस का आस्वादन कराने वाला भोग व्यापार भी व्यञ्जना के कारण ही सम्भव होता है। रस को व्यञ्जनागम्य मानने पर भोगीकरण भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि आस्वादन से उत्पन्न होने वाले चमत्कार से भिन्न भोग नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु है ही नहीं।'[4] इस प्रकार भोग नामक अलग व्यापार मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

इसतरह अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना को ही सहृदय व्यापार के रूप में निरूपित

---

१. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १९९.
२ ध्वन्यालोक, १·१३.
३. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १९९–२००.
४. भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति।
ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २००.

किया है। अपने मत की स्थापना करते हुये वे कहते हैं कि इसप्रकार यह स्थिर हुआ कि रस अभिव्यक्त होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादित होते हैं। यह अभिव्यक्ति जहाँ प्रधान रूप से होती है वहाँ ध्वनि और अप्रधान रूप से होती है वहाँ रसादि अलंकार होते हैं—

'तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्येव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा। प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाद्यलङ्काराः।'[१]

व्यञ्जना की स्थापना

कोई भी सहृदय काव्य के गुणालंकार योजना के परीक्षण के लिये या संघटनात्मक वैशिष्ट्य को परखने के लिये काव्य नहीं पढ़ता अपितु स्वान्तः सुखाय—आनन्द की अवाप्ति हेतु पढ़ता है, यद्यपि उक्त तथ्य उसमें सहायक हो सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि सहृदय का लक्ष्य रस ही होता है। यह रस स्वशब्द वाच्य नहीं होता अर्थात् इसका परिज्ञान अभिधा से नहीं हो सकता है। स्वशब्द वाच्यता तो दोष कहा गया है।[२] ये रस सदैव व्यङ्ग्य होते हैं अर्थात् व्यञ्जनाव्यापारगम्य होते हैं। इसीलिये आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि—'न हि केवलं शृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः।······तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्यादभिन्न एवेति स्थितम्।'[३]

केवल ध्वनिकार ही नहीं अपितु मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य में व्यञ्जना की स्थिति को स्वीकार किया है। प्रो० हिरियन्ना ने कवि को कलाकार माना है तथा ध्वनि को कलाकार की कला का साधन। क्योंकि रस रूप साध्य ध्वनित होकर ही उपस्थित होना है।[४] व्यञ्जना व्यापार इस ध्वनि

---

१. वही, पृ० २००–२०१.

२. व्यभिचारि–रसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः॥
···रसे दोषाः स्युरीदृशाः॥
काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, सूत्र ८१

३. ध्वन्यालोक, पृ० १८.

४. That is, the artist is obliged, if he is to succeed in what is his foremost aim, to adopt on indirect method in dealing with his material. This methodis called dhvani; and secon-

सिद्धान्त का प्राणतत्त्व है। व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना परस्पर सापेक्ष हैं। यही कारण है कि ध्वनिवादियों ने विभिन्न मतमतान्तरों का खण्डन करते हुये व्यञ्जना की सिद्धि की है, क्योंकि व्यञ्जना की सिद्धि के साथ ही स्वयमेव व्यङ्ग्यार्थ सिद्ध हो जाता है। अभिधा से मात्र वाच्यार्थ का अधिगम होता है। लक्षणा से मुख्यार्थ-बाधादि के होने पर लक्ष्यार्थ। यह लक्ष्यार्थ भी रूढ़ि एवं प्रयोजन के भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें रूढ़ि लक्षणा को ही शुद्ध रूपेण लक्षणा के क्षेत्र में परि-गणित किया जा सकता है। प्रयोजनवती लक्षणा तो व्यङ्ग्यार्थाभिमुख ही होती है। व्यञ्जना मौलिक रूप से कवि प्रतिभा की उद्‌भूति ही है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का मन्तव्य है कि जहाँ अभिधा और लक्षणा अपना कार्य करके शान्त हो जाते हैं (क्योंकि यह नियम है कि शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः) किन्तु फिर भी अन्यार्थ की प्रतीति होती रहती है वहाँ व्यञ्जना वृत्ति ही होती है—

विरतास्वभिधाद्यास्तु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥[1]

वस्तुतः "प्रतिभाशाली वक्ता या कवि का जो पार्यन्तिक प्रयोजन होता है उसकी अवगति वह श्रोता को अभिधेय रूप से कभी नहीं कराना चाहता। प्रयोजन को अभिधेय बनाकर तो सारा चमत्कार या वैचित्र्य ही नष्ट हो जाता है। फलतः वह उस प्रयोजन प्रतीति को रमणीय रूप देने के लिये अनभिधेय ही रखता है। ऐसी अवस्था में उसके उस अनभिधेय अभिप्राय विशेष की रमणीय प्रत्यायता जिस शक्ति से होती है उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।"[2]

व्यञ्जना का विशद विवेचन आचार्य मम्मट ने उपस्थित किया है। उनके अनुसार व्यञ्जना के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—शाब्दी एवं आर्थी। यद्यपि अभिधा एवं लक्षणा के समान व्यञ्जना को भी शब्दशक्ति माना गया है किन्तु फिर भी 'आर्थी-व्यञ्जना' के भेद का कारण प्राधान्येन व्यपदेशत्व ही है। शब्द एवं अर्थ का तो अन्योन्य सम्बन्ध है। जिस काव्य में शब्द प्रमाण से संवेद्य कोई अर्थ पुनः

---

darily, the work of art also, which is characterised by it, is designated by the some term......This we may add, was the direct consequence of recognising rasa to be the aim par excellence of the artist. The method of art is thus as unique as its aim. Art Experience, Prof. M. Hiriyanna, P. 49.

१. साहित्यदर्पण, २·१२
२. सुरेश चन्द्र पाण्डे, ध्वनि सिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यतायें, पृ० ७१

अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करता है वहाँ अर्थव्यञ्जक होता है तथा शब्द केवल सहायक होता है; ऐसे स्थलों पर आर्थी व्यञ्जना ही मानी जाती है—

शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तद् शब्दस्य सहकारिता ।।[1]

जहाँ शब्द में ही व्यञ्जकत्व होता है वहाँ शाब्दी व्यञ्जना होती है । शाब्दी व्यञ्जना के दो भेद होते हैं—अभिधामूला तथा लक्षणामूला । अभिधामूला व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ अनेकार्थक शब्दों के संयोग विप्रयोग[2] आदि अभिधानियामकों के द्वारा वाच्यार्थ के एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने पर भी अनभिधेय अन्य अर्थ की प्रतीति होती रहे । मुख्यार्थबाधादि के अभाव में वहाँ लक्षणा मानी नहीं जा सकती । यहाँ यह शंका हो सकती है कि श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में क्या भेद है ? वस्तुतः शाब्दी व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ अनेकार्थक शब्द का प्रयोग तो होता है किन्तु प्रकरणादि से अभिधा एक अर्थ में ही नियंत्रित हो जाती है और वह नियंत्रित अर्थ ही प्रधान होता है । जिस अन्य अर्थ की अवगति होती है वह व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही होती है । श्लेष में इस प्रकार से बलाबल का निर्धारण नहीं हो पाता है । दोनों अर्थ समान रूप से अभिधेय ही रहते हैं ।

प्रयोजनवती लक्षणा को निरूपित करते हुये मम्मट ने कहा है कि 'गंगायां घोषः' में जिस शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति कराने के लिये लक्षणा का आश्रय लिया गया है उस लाक्षणिक शब्दमात्र गम्य प्रयोजन की प्रतीति कराने में व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार सक्षम नहीं है—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।

प्रयोजन प्रतिपिपादयिषया तत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।।'[3]

---

१. काव्यप्रकाश, ३·२३, सू० ३८.
२. संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः ।।
वाक्यपदीय, २·३१५–१६
३. काव्यप्रकाश, सू० २३,

क्योंकि गंगा पद का संकेत नदी विशेष में है न कि शैत्यपावनत्व में ।'[1] अतः अभिधा से इस प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती। लक्षणा के लिये मुख्यार्थ-बाध, मुख्यार्थयोग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन रूप हेतु त्रय का होना अनिवार्य है। अतः हेतुत्रय के अभाव के कारण लक्षणा भी शैत्यपावनत्व रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ नहीं है ।[2] वस्तुतः तट रूप लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है, न तो उसका बाध हो रहा है तथा न ही तट का शैत्यपावनत्वादि से सम्बन्ध है। यदि शैत्यपावनत्वादि को ही लक्ष्यार्थ मान लिया जाये तो फिर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। साथ ही 'गंगा' शब्द शैत्यपावनत्वादि रूप अर्थ प्रकट करने में असमर्थ भी नहीं है ।[3]

इसके अतिरिक्त विशिष्ट लक्षणा मानने वालों का मत है कि लक्षणा से केवल तट का ही बोध नहीं होता है अपितु यह शैत्यपावनत्वादि विशिष्ट तट का बोध कराती है। इस विषय में मम्मट का कथन है कि 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्'[4] ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल अलग-अलग होता है। प्रकृत स्थल में लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और फल शैत्यपावनत्वादि है। चूँकि विषय और फल में कार्यकारण भाव सम्बन्ध होता है अतः दोनों की समकालीन स्थिति नहीं मानी जा सकती। इसलिये 'विशिष्टे लक्षणा नैवं'--विशिष्ट में भी लक्षणा नहीं हो सकती—व्यञ्जना को मानना अपरिहार्य हो जाता है।

मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जना व्यापार को मानते हुये यह कहा है कि 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते'[5] प्रायः सारे अर्थों में व्यञ्जकत्व पाया जाता है। इस प्रकार मुख्य रूप से आर्थी व्यञ्जना के तीन भेद हुये—१. वाच्यसंभवा २. लक्ष्य संभवा तथा ३. व्यङ्ग्य संभवा।

व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये प्रकरण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। बिना प्रकरण ज्ञान के वक्तृ बोधव्यादि की सम्यक् प्रतीति नहीं हो सकती तथा बिना इस प्रतीति के अर्थान्तर की अवगति नहीं हो सकती। मम्मट ने अर्थव्यञ्जकता के अनेक साधनों का निर्देश किया है --

---

१. नाभिधा समयाभावात्। काव्यप्रकाश, सू० २४,

२. हेत्वाभावान्न लक्षणा। वही, सू० २५;

३. लक्ष्यं त मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ काव्यप्रकाश, सू० २६,

४. काव्यप्रकाश, सू० २९,

५. वही, सू० ८,

'वक्तृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्टचात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥'[1]

अर्थात् वक्ता, वोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-संनिधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्टच से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। 'आदिग्रहणाच्चेष्टादेः'—'आदि' पद से चेष्टादि का अर्थव्यञ्जकत्व अभीष्ट है। वस्तुतः यहाँ अवधेय है कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही होती है। इसीलिये ध्वन्यालोककार ने प्रतीयमानार्थ की अवगति हेतु 'तत्वज्ञ' की अपेक्षा प्रकट की है—'वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।'[2] क्योंकि तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि से व्यङ्ग्यार्थ शीघ्र ही अवभासित हो उठता है—'बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।'[3]

सहृदय का सम्बन्ध शाब्दी व्यञ्जना की अपेक्षा आर्थी व्यञ्जना से अधिक गहरा होता है। क्योंकि "शाब्दी' व्यञ्जना में वक्ता तथा श्रोता के व्युत्पत्ति पक्ष की प्रौढि अपेक्षित है। क्योंकि नानार्थक कोशों के ज्ञान के विना शाब्दी व्यञ्जना की अवगति असम्भव है। किन्तु आर्थी व्यञ्जना में शक्ति पक्ष की प्रधानता अपेक्षित है। सहृदय से जितना गहरा सम्बन्ध आर्थी व्यञ्जना का है उतना शाब्दी का नहीं। इन्हीं सब कारणों से आर्थी व्यञ्जना में जितना चमत्कार है उतना शाब्दी व्यञ्जना में नहीं, यह मानना पड़ता है"।[4]

व्यञ्जना व्यापार के द्वारा द्योत्य व्यङ्ग्य अर्थ की जहाँ प्राधान्येन स्थिति होती है वह ध्वनि काव्य कहलाता है। यह ध्वनि रस, अलंकार एवं वस्तु के भेद से तीन प्रकार की होती है। इसमें रसरूप ध्वनि सर्वथा वाच्यतासह होती है तथा वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के रूप में जो अर्थ व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत होता है, वह अर्थ अन्य दशा में वाच्य भी हो सकता है। रसादि रूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता है।[5] अतः यह सदैव व्यङ्ग्य ही होगा, इसलिये व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता स्वतः सिद्ध है।

मम्मट ने व्यञ्जना के मुख्यरूप से दो भेद माने हैं—१. लक्षणामूला व्यञ्जना

---

१. काव्यप्रकाश, ३·२१–२२. सू० ३७,
२. ध्वन्यालोक, १·७.
३. वही, १·१२.
४. सुरेशचन्द्र पाण्डे, ध्वनिसिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यतायें, पृ० ८८.
५. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः, काव्यप्रकाश, पृ० २१७.

२. अभिधामूला व्यञ्जना । इसमें लक्षणामूला को अविवक्षितवाच्य ध्वनि नाम से अभिहित किया है तथा इसके अर्थान्तरसंक्रमित एवं अत्यन्ततिरस्कृत रूप दो भेद माने हैं । अभिधामूला व्यञ्जना या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—१. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि जिसके अन्तर्गत रसभावादि आते हैं तथा २. संलक्ष्यक्रम ध्वनि जिसका मम्मट ने तीन भेद किया है—(अ) शब्दशक्त्युद्भव (ब) अर्थशक्त्युद्भव (स) उभयशक्त्युद्भव ।

प्रयोजनवती लक्षणा के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विना व्यञ्जना के प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती । इसीप्रकार असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मात्र व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीतिपथ पर अवतरित होता है । शाब्दीव्यञ्जना के प्रसंग में यह भी स्पष्ट हो गया है कि प्रकरणादिवश शब्द के एक अर्थ में नियंत्रित हो जाने पर अन्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होती है ।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में भी व्यञ्जना की स्थिति अपरिहार्य है ।[1] अभिहिता-न्वयवादियों के अनुसार अभिधा से मात्र पदार्थ उपस्थित होता है । पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्याख्या वृत्ति से होती है । तो फिर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का कहना ही क्या है ?

अन्विताभिधानवादी अन्वित पदार्थ में ही संकेत मानते हैं । वस्तुतः यह संकेतग्रह अवापोद्वाप की प्रक्रिया पर आधृत होने के कारण सामान्य पदार्थ में ही होता है, विशेष में अन्वितत्व नहीं होता है किन्तु 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार सामान्य से अवच्छादित होने पर भी वह संकेतग्रह विशेष रूप ही हो जाता है । यथा 'गां आनय', 'अश्वम् आनय' आदि में 'गां' और 'अश्वं' पद विशेष होते हुये भी अपने व्यक्तिरूप से नहीं अपितु कर्मत्व रूप सामान्य सम्बन्ध से ही अन्वित होते हैं । परन्तु 'गौ' और 'अश्व' आदि व्यक्तिविशेष जिसे ग्रन्थकार ने 'अतिविशेष'[2]

---

१. व्यञ्जना सिद्धि में प्रतिपादित किये गये विभिन्न मतों का विस्तृत विवेचन प्रथम अध्याय में हमने किया है, यहाँ प्रसंगवश संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है ।

२. यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्या-वच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वा-दित्यन्विताभिधानवादिनः ।
तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपःपदार्थः संकेतविषय इत्यातिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तर-भूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा । काव्यप्रकाश, पृ० २२५–२६.

शब्द से अभिहित किया है असंकेतित ही रह जाते हैं। क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानते पर आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष आ जायेगा। अतः जब यह अतिविशेषभूत अर्थ ही अभिधा के द्वारा अभिहित नहीं हो सकता तो फिर वाक्यार्थबोध के भी बाद उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध भला अभिधा से कैसे हो सकता है।

जो यह कहते हैं कि 'नैमित्तकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'[1]—नैमित्तक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है— यह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि निमित्त दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। शब्द अर्थ का प्रकाशक होता है अतः उसे कारक नहीं कह सकते। ज्ञापकत्व रूप निमित्त भी तभी बन सकता है जब शब्द का उस अर्थ के साथ संकेतग्रह पूर्वविदित हो। व्यङ्ग्यार्थ की अवगति संकेत ग्रहण से नहीं हो सकती है यह बात पिछले अनुच्छेदों में ही स्पष्ट हो गयी है।

भट्टलोल्लट का कथन है कि जिसप्रकार अच्छे बाण चलाने वाले के द्वारा छोड़ा गया बाण कवचभेदन, उरोविदारण एवं प्राणविमोचन रूप तीनों कार्य करता है उसीप्रकार एक ही अभिधा व्यापार से समस्त अर्थों की अवगति हो सकती है। क्योंकि 'यत्परः शब्दः सशब्दार्थः'—जिस अभिप्राय से शब्द बोला जाता है वही उसका अर्थ होता है।

इसके खण्डन में मम्मट का कथन है कि फिर तो लक्षणा को भी नहीं मानना चाहिये। लक्षणीय अर्थ में भी दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही कार्य कर लेना चाहिये इस युक्ति से तो मीमांसा दर्शन में मान्य पारदौर्बल्य का सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा—'किमित च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण–स्थानसमाख्यानां पूर्वं पूर्वं-बलीयस्त्वम् ?[2]

महिमभट्ट व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत करने के पक्षधर हैं। क्योंकि उनके अनुसार व्यञ्जना के द्वारा वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की तो प्रतीति होती नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव व्याप्ति के बिना अर्थान्तगम नहीं हो सकता है। इसलिये व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव की प्रतीति भी अनुमान रूप ही ठहरती है।

इसके खण्डन में मम्मट की युक्ति है कि अनुमान की प्रक्रिया में हेतु का शुद्ध होना अनिवार्य है। प्रत्येक शुद्ध हेतु में—१. पक्ष सत्त्व २. सपक्ष सत्त्व एवं ३. विपक्ष व्यावृतत्त्व–इन तीन रूपों का होना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हो तो हेतु हेत्वाभास हो जायेगा।

---

१. वही, पृ० २२९.

२. काव्यप्रकाश, पृ० २३७.

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्त सिंहेन॥'

इसमें महिमभट्ट ने अनुमान के द्वारा भ्रमण निषेध को इंगित किया है। इसे पञ्चावयव वाक्यों के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं (साध्य)
२. भयकारणसिंहोपलब्धेः (हेतु)
३. यद्-यद् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम् (व्यतिरेक व्याप्ति सहित उदाहरण)
४. न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः (उपनय)
५. तस्मात् भीरभ्रमणायोग्यम् (निगमन)

किन्तु इस सन्दर्भ में मम्मट का सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि जिस हेतु से आप अनुमान करने को प्रवृत्त हैं वह हेतु ही शुद्ध नहीं है। क्योंकि भीरु भी गुरु, प्रभु या प्रिया के अनुराग वश भय के कारण के रहने पर भी भ्रमण करता है। अतः इससे हेतु की अनैकान्तिकता सिद्ध है। कुत्ते से डरते हुये भी वीर होने के कारण सम्भवतः सिंह से न डरे अतः इससे हेतु का विरुद्धत्व सिद्ध होता है। गोदावरी तीर पर सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध नहीं है अपितु मात्र किसी स्त्री के वचन से यह परिज्ञान हो रहा है। आप्तवचन न होने के कारण यह वचन प्रामाणिक ही है ऐसा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। इन समस्त हेत्वाभासों के कारण अनुमान की प्रक्रिया ही घटित नहीं हो सकती फलतः भ्रमण निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता।[1] अतः उसके ज्ञान के लिये व्यञ्जना का आश्रय अवश्य ही लेना होगा।

इस प्रकार उक्त समस्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं खण्डन प्रक्रिया के द्वारा मम्मट ने व्यञ्जना की अपरिहार्यता सिद्ध कर दी है।

वस्तुतः काव्य को पढ़ते समय वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयता होने पर ही आनन्द की स्थिति आती है। जैसा कि लोचनकार ने कहा है—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥[2]

व्यञ्जना इस 'हृदय संवाद' की स्थिति तक पहुँचाने का परम साधन है।

———

१. काव्यप्रकाश, पृ० २६१
२. लोचन, पृ० ४०.

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

ध्वनिपूर्व अलंकार सम्प्रदायों की समीक्षा

अलंकारशास्त्र में जितने भी सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनमें ध्वनि को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। सहृदय की दृष्टि से यद्यपि काव्य का सर्वस्व रस ही है, किन्तु सृजन प्रक्रिया की दृष्टि से काव्य और कला का सर्वस्व ध्वनि ही है। ध्वनि की इस प्रतिष्ठा में ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों के योगदान का अपलाप नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः किसी लक्ष्य तक पहुँचने में प्रत्येक सोपान का महत्त्व होता है। ऐसा नहीं होता कि ऊपर की मंजिल पर पहुँचने के लिये जो आखिरी सीढ़ी होती है—वही सबसे महत्त्व की होती है, अपितु सबसे नीचे वाली सीढ़ी का भी उतना ही महत्त्व होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने कहा है—

> उर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं
> धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती
> फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां
> विवेक सोपानपरम्पराणाम् ॥[1]

अर्थात् विवेक रूपी सीढ़ियों का क्रम होने से ऊपर चढ़ने में सुविधा तो अवश्य ही होती है, यद्यपि श्रम भी मालूम होता है।

काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का लक्ष्य काव्यात्मा की गवेषणा है अर्थात् वह कौन सा तत्त्व है, जो काव्य में आह्लादकता का संचार करता है। ध्वनि का महत्त्व इस बात में है कि उसने काव्यात्म को सही ढंग से पहचाना भी और उसकी अवाप्ति की प्रक्रिया का निर्देश किया। इस अवाप्ति प्रक्रिया में इसने गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि सभी का समाहार कर लिया है, क्योंकि रस, अलंकार तथा वस्तु ध्वनि की व्यञ्जना इन्हीं के समाश्रय से होती है; इस प्रकार ध्वनि महाविषयत्व से युक्त है। किन्तु अलंकार, रीति, गुण आदि के पृथक् पृथक् महत्त्व की प्रतिष्ठा ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों में ही दृष्टिगत होती है। यहाँ यह अवधारणीय है कि ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकारशास्त्रियों से हमारा मुख्य अभिप्राय भामह, दण्डी, वामन, उद्भट एवं रुद्रट से है। भरत भी ध्वनिपूर्ववर्ती ही हैं, किन्तु वे तो आद्याचार्य हैं। रस, अलंकार, लक्षण, गुण, दोष आदि समस्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्गम भरत से ही हुआ है,

---

१. अभिनवभारती, पृ० ६५० (षष्ठ अध्याय)

अतः काव्यशास्त्र के इतिहास में जो प्रतिष्ठा भरत की है—वह किसी की नहीं हो सकती। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी एवं सात्त्विक भावों के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त, उनकी संख्या का निर्धारण जो भरत मुनि ने किया है, वह न केवल शास्त्रीय दृष्टि से अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उनकी अप्रतिम प्रतिभा का अपूर्व निदर्शन है। इसीलिये तो रस-भावादि की संख्या परिगणना के प्रसंग में पण्डितराज ने बिना किसी शंका के यह स्पष्ट उद्घोषणा की है कि 'भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्'[1] अर्थात् यह रस है और ये भाव हैं इस व्यवस्था के विषय में भरतादि मुनियों के वचन ही प्रमाण हैं। स्वतन्त्रता का उपयोग यहाँ नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं पण्डितराज का तो यहाँ तक कहना है कि यदि मुनि वचन को प्रमाण न माना जाये तो कोई भी शास्त्रीय सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सकता। सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र ही झगड़े में पड़ जायेगा। अतः मुनि द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों को मानना ही श्रेयस्कर है—'...इत्यखिलदर्शनं व्याकुली स्यात्। रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।'[2] भरतमुनि के द्वारा निरूपित विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से निष्पन्न होने वाला रस न केवल नाटचशास्त्र अपितु सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की भी आधारपीठिका है। इन समस्त तथ्यों को देखने से भरतमुनि का सिद्धान्त प्रारम्भिक विकास का सूचक नहीं प्रतीत होता है, अपितु यह विकास की चरम परिणति के रूप में प्रतिष्ठित दिखता है। भरतमुनि का संरम्भ चूँकि दृश्यकाव्य पर है और नाटक का प्राण चूँकि रस है, अतः इनके गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि सभी रसाश्रित होकर ही सम्मुख आये हैं—

> एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।
> प्रयोगमेषाञ्च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम्॥[3]

रस को नाटच के मानदण्ड का निर्धारक तो माना जा सकता है क्योंकि सहृदय का एकमात्र लक्ष्य रसास्वाद तो होता ही है साथ ही विभाव, अनुभाव एवं संचारी को अभिव्यक्ति प्राप्त करने के लिये पूर्ण अवकाश भी रहता है। ऐसा नहीं है कि काव्य का लक्ष्य रस नहीं है अपितु मुख्य बात यह है कि काव्य के प्रत्येक सन्दर्भ में विभावानुभावव्यभिचारी के प्रकट होने का अवकाश नहीं रहता है। प्रबन्ध काव्यों में तो यह प्रक्रिया घटित हो सकती है किन्तु मुक्तक में यह सम्भावना न्यून हो जाती है। मुक्तक में भी काव्यत्व को घटित करने के लिये रसातिरिक्त तत्त्व की

---

१. रसगंगाधर, व्याख्याकार श्री मधुसूदनशास्त्री, प्रथम भाग, पृ० २०२.
२. वही, पृ० २०३.
३. नाटचशास्त्र, १७'१०६

अपेक्षा महसूस हुई। इसी अपेक्षा का परिणाम रससंश्रित नाट्यशास्त्र से पृथक् काव्यशास्त्र है। तृतीय अध्याय में अलंकार स्वरूप के वर्णन के प्रसंग में हमने इस तथ्य को विस्तृत रूप से निरूपित किया है। काव्यशास्त्रियों ने 'चारुता' को रस से भी अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। भामह ने इस चारुता को वक्रोक्ति के रूप में देखा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥[1]

दण्डी ने इस चारुता का दर्शन 'अलंकार' में किया है। दण्डी के अनुसार अलंकार एक व्यापक तत्त्व है क्योंकि उसमें समस्त शोभाकर धर्मों का सन्निवेश हो जाता है—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।[2]

वामन ने इसे 'सौन्दर्य' के द्वारा निरूपित किया है—'सौन्दर्यमलंकारः' तथा इसी अलंकार के द्वारा काव्य ग्राह्य होता है—'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'।[3]

उद्भट ने मात्र ४१ अलंकारों का वर्णन करके उन्हें ही 'काव्यालंकारसार' रूप में निरूपित किया है। रुद्रट का विषय वर्णन क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक है, किन्तु इनका भी संरम्भ अलंकारों के प्रति ही है।

इसप्रकार ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि ये काव्य के एक पक्ष—उक्ति चारुता पर ही प्रकाश डालते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि अलंकार और रीति सिद्धान्त में यत्र-तत्र व्यापकतत्त्व निर्देशक संकेत वाक्य मिलते हैं, किन्तु उनको केन्द्रीय स्थिति नहीं प्राप्त हो सकी तथा ये सिद्धान्त एक पक्षीय ही रह गये। ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों की एकपक्षीयता ने ध्वनिकार की समग्र दृष्टि में बहुत बड़ा योगदान दिया है। ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्त अपनी एकांगिता के कारण ही महत्त्व को प्राप्त न कर सके। क्योंकि काव्यशास्त्र के किसी एक ही पक्ष पर बल होने से अन्य तत्त्व उपेक्षित हो जाते हैं, जो युक्तियुक्त नहीं। ध्वनिकार ने इस तथ्य को समझकर सम्पूर्ण तत्त्वों को उचित मूल्य देते हुये काव्य को अंगना का रूपक देकर, उसमें लावण्य को आत्मस्थानीय माना है तथा अन्य तत्त्वों को शरीरस्थानीय स्थिति प्रदान की है। वास्तविकता तो यह है कि आत्मा की स्पष्ट अभिव्यक्ति का आधार जिस प्रकार शरीर है, उसी प्रकार काव्य में रस-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति का आधार गुण, अलंकार, रीति आदि ही हैं। अतः ये

---

१. काव्यालंकार, २.८५.
२. काव्यादर्श, २.१
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.१.१,

साधन स्थानीय ठहरते हैं। किन्तु साध्य की सिद्धि में साधन का तिरस्कार कथमपि नहीं किया जा सकता है।

ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रायः अपने ग्रन्थ के नामकरण में 'अलंकार' शब्द को प्रमुखता प्रदान की है। यथा भामह ने 'काव्यालंकार', वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति', उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' तथा रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की है। अलंकारत्व के व्यपदेश का कारण इन आचार्यों के द्वारा अलंकार तत्त्व को प्रमुखता प्रदान करना है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों के लिये यह धारणा प्रचलित है कि इन्होंने अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। इन आचार्यों ने अलंकार को सर्वाधिक महत्त्व अवश्य प्रदान किया है, किन्तु इसके आत्मत्व का व्यपदेश कहीं नहीं किया है। इसीलिये रुय्यक ने प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुये कहा है—'अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्'।[1] काव्यशास्त्र में अन्य जो सम्प्रदाय प्रचलित हैं उनके मतावलम्बियों ने अपने अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा आत्मत्वेन की है, उसका औचित्य तो समझ में आता है यथा १. रस सम्प्रदाय के समर्थकों ने 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[2] कहकर रस की सर्वतोभावेन प्रधान रूप से प्रतिष्ठा की है। २. रीति सम्प्रदाय के समर्थक वामन ने तो स्पष्ट रूप से ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[3] कहकर रीति की आत्मत्वेन प्रतिष्ठा की है। ३. 'काव्यस्यात्माध्वनिः'[4] कहकर आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा निरूपित किया है। ४. 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की, इसीप्रकार ५. 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'[5] कहकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। परन्तु 'अलंकार' को काव्यात्मा रूप में निरूपित करने का क्या आधार है; यह दृष्टिगत नहीं होता। इस भ्रान्त धारणा के प्रचलन में यह समाधान ढूँढा जा सकता है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ के नामकरण में 'अलंकार' शब्द की प्रधानता तथा विषयवर्णन में भी अलंकारों के प्रति संरम्भ का दृष्टिगत होना है।

अलंकारों का बहुल प्रयोग दोष नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अलंकार अनुभूति की तीव्रता में सहायता करते हैं तथा रूप, गुण, क्रिया की प्रतीति में तीव्रता लाते हैं। काव्य में अतिशयतापूर्ण उक्ति की भामह, दण्डी से लेकर आनन्दवर्धन

---

१. अलंकारसर्वस्वम्, पृ० १९.
२. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० २२८.
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १.२.६.
४. ध्वन्यालोक, १.१.
५. औचित्यविचारचर्चा, कारिका ५

एवं मम्मट सभी ने सराहना की है। मम्मट ने तो स्पष्ट ही कहा है—'सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्।'[1] काव्य में इस अतिशयता का आधायक अलंकार ही होता है, अतः अलंकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। सामान्य रूप से अलंकारों को देखने पर उनमें सादृश्य, अभेद, अध्यवसाय, विरोध आदि लौकिक व्यवहार के सम्बन्ध दृष्टिगत होते हैं। किन्तु काव्यालंकार लोक से अतिशयित रूप में प्रयुक्त होते हैं। यदि ऐसा न होता तो 'गौरिव गवयः' में उपमा तथा 'स्थाणुर्वापुरुषो वा' ससंदेह का उदाहरण हो जाता, जबकि ऐसा होता नहीं है। 'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति है—'अलंक्रियतेऽनेन इत्यलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे वह अलंकार है। अलंकरण का काम शोभावर्धन होता है, शोभापसरण नहीं। इसीलिये आनन्दवर्धन ने भी अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलंकारों की स्थिति को स्वीकार किया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥[2]

यत्न साध्य अलंकारों में चूँकि कवि का पूरा ध्यान अलंकारों पर ही रहता है- रस उपेक्षित रह जाता है। अतः ऐसा काव्य सहृदय के लिये आह्लादक नहीं होता। इसीलिये आनन्दवर्धन ने अलंकारों का नियोजन रस के अंग रूप में निरूपित करने का उपदेश किया है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बंहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥[3]

इस दृष्टि का सम्यक् विकास ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में नहीं हो पाया था। क्योंकि उनके यहाँ अलंकारों की स्थिति ही मुख्य और रस की गौण थी।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारदलङ्कार्यतया स्थितः ॥[4]

रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति; भावसन्धि एवं भावशबलता आदि को ध्वनिवादियों ने उत्तम काव्य के रूप में स्वीकार किया है;

---

१. काव्यप्रकाश, सू० २०२ की वृत्ति,
२. ध्वन्यालोक, २.१६.
३. वही, २.१८–१९.
४. काव्यप्रकाश, ४·२६, सू० ४२,

वह ध्वनिपूर्ववर्तियों के यहाँ रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि एवं समाहित आदि अलंकार विशेष के रूप में ही निरूपित हुआ है। यद्यपि रसवदादि अलंकार ध्वनिवादियों को भी मान्य हैं किन्तु वे उसे वहीं मानते हैं, जहाँ रस, भाव आदि किसी के अंग रूप में निरूपित होता है तथा इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य के अन्तर्गत परिगणित करते हैं।

भामह को रस विरोधी आचार्य के रूप में निरूपित करने वाले डॉ० शंकरन्[1] आदि की मान्यता का खण्डन करते हुये, गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे का रसवदादि अलंकारों के सन्दर्भ में कथन है कि—"रसव्यवस्था तो पहले ही नाट्य शास्त्र में की गयी थी। उसी रस व्यवस्था को उन्होंने काव्यशास्त्र में ले लिया। काव्यशास्त्र में रस व्यवस्था लेने में इन प्राचीन आचार्यों ने उसका केवल अनुवाद मात्र किया। ऐसे निकट सम्बन्ध उस समय काव्य और नाट्य के थे कि इस तरह केवल अनुवाद मात्र करने से काम चल जाता था। प्राचीन ग्रंथों में सिद्धानुवाद की इस पद्धति पर ध्यान देने से, उसमें रस चर्चा क्यों नहीं आयी इस बात का कारण ध्यान में आता है और फिर उन्हें रस के विरोधी सिद्ध करने का प्रसंग आता नहीं। उन ग्रंथों में रस का अनुवाद किया है, इतना देखने मात्र से काम निकलता है।"[2]

यहाँ यह शंका होती है कि जब भामह को रस ही अभीष्ट था तो फिर वक्रोक्ति को उन्होंने इतना महत्त्व क्यों दिया? इसके उत्तर में डॉ० देशपाण्डे का कथन है कि—"नाट्य का अर्थ है रस। वह अभिनय से युक्त होता है। इसलिये भामह ने नाट्य को 'अभिनेयार्थकाव्य' कहा है। किन्तु सर्गबन्ध आदि काव्य में रस अभिनेय नहीं होता। वह शब्दार्थों के द्वारा प्रतीत होता है।...शब्दार्थों में रसाभिव्यक्ति का सामर्थ्य निर्माण करने के लिये उनपर वक्रोक्ति का संस्कार होना आवश्यक है। इसीकारण से भामह को काव्य में रस के साथ शब्दार्थ वैचित्र्य की भी अपेक्षा है"[3]।

भामह को रस का ज्ञान था इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है; क्योंकि एकाधिक बार उन्होंने रस का उल्लेख किया है। महाकाव्य के लक्षण प्रसंग में समस्त रसों के वर्णन पर उन्होंने बल दिया है—

---

1. The attitude of Bhamaha to Rasa theory is distinctly that of an exponent of a rival school of criticism; and this is clear from the scanty treatment that he accords to it. He who holds that Alamkaras exhaust the chief characteristics of poetry naturally brings Rasa also under an alamkara Rasavat (III.6). Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit, p.27.
२. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ६९.
३. वही, पृ० ७०.

'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।'[1]

इसके अतिरिक्त समस्त रसों के वर्णन को वे रसवद् अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट कर देते हैं—

'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसं यथा'[2]

अर्थात् जिसमें श्रृंगारादि रस स्पष्टता से दिखाये गये हों वह रसवद् अलंकार है। यहाँ पर समस्त रसों का अन्तर्भाव भामह ने श्रृंगारादि रसों में कर दिया है। श्रृंगार के अतिरिक्त उन्हें और कितने रस अभीष्ट हैं, उनके क्या नाम हैं, इन सबका कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'रसवत्' अलंकार के उदाहरण में जिस श्लोक के एक चरण को भामह ने उद्धृत किया है—

"देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता"[3]

अर्थात् धर्ममस्करिणी अतिरोहित (प्रकट) हो देवी के रूप में आयी। इससे उनका क्या अभिप्राय है यह कथमपि स्पष्ट नहीं है। यह पंक्ति किस सहृदय को आह्लादित कर सकती है? यदि यह माना जाये कि इसमें किसी नायिका के प्रकट होने का वर्णन है, तो क्या किसी नायिका के प्रकट हो जाने मात्र में श्रृंगार की उद्‌भूति हो जाती है? मुख्य बात तो यह है कि रस–विभावानुभावव्यभिचारी के द्वारा व्यङ्ग्य होता है, कभी भी वाच्य नहीं होता।[4]

इसीलिये पण्डितराज ने रस के संदर्भ में भिन्न-भिन्न ११ मतों का उल्लेख करके, इस बात का खण्डन किया है कि मात्र विभावादि के वर्णन से रस निष्पत्ति नहीं हो सकती। भामह का उक्त रसवद् अलंकार का उदाहरण मात्र विभाव वर्णन है। इसीलिये पण्डितराज ने कहा है—'तदेवं पर्यवसितस्त्रिसु मतेषु सूत्रविरोधः। विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरस व्यञ्जकतानुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्,'[5] अर्थात् जहाँ केवल विभावादि के वर्णन से रस निष्पत्ति की बात कही जाती है, वहाँ भरत सूत्र से विरोध होता है। यदि कहीं ऐसा वर्णन होता है तो वहाँ अनुभाव, व्यभिचारी आदि का आक्षेप कर लिया जाता है। किन्तु उक्त प्रसंग में आक्षेप का भी अवकाश नहीं है। इसलिये इसे श्रृंगार रस के उदाहरण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही स्वशब्दाभिधान मात्र से भी

१. काव्यालंकार, १·२१.
२. वही, ३·६
३. काव्यालंकार, ३·६,
४. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। काव्यप्रकाश, पृ० २१७.
५. रसगंगाधर, पृ० १५१–५२.

रस की प्रतीति नहीं होती है, यथा श्रृंगार, हास्य, करुण मात्र कह देने से तद्-तद् रसों की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। वक्रोक्ति के वर्णन प्रसंग में भामह इस तथ्य के प्रति सजग थे, इसीलिये इन्होंने वार्त्ता और वक्रोक्ति में भेद स्थापित किया है और स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ॥[1]

किन्तु रस के सन्दर्भ में वे इस तथ्य को एकदम विस्मृत कर गये हैं। भामह को इस बात का ज्ञान था कि रस के द्वारा किसी तथ्य में मनोहारिता बढ़ जाती है तथा कथ्य अपेक्षाकृत सुलभ ढंग से ग्राह्य हो जाता है, जिसे बाद में चलकर 'कान्ता सम्मित' उपदेश का नाम दिया गया है। क्योंकि वे स्वयं कहते हैं—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥[2]

अर्थात् जिस प्रकार मधु के साथ कड़वी दवा का भी व्यक्ति सेवन कर लेता है, उसी प्रकार शास्त्र के दुर्बोध सिद्धान्त भी रसपेशलतावश ग्राह्य हो जाते हैं।

किन्तु यह निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उस रस का क्या स्वरूप है, इसका भामहादि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों को ज्ञान नहीं था। इसका स्पष्ट निदर्शन रसवदादि अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण हैं। उद्भट ने यद्यपि रसवदलंकार का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है, किन्तु स्ववाचक शब्द में भी उन्होंने रस की सत्ता स्वीकार कर ली है[3] जो कथमपि सम्भव नहीं है। ध्वनिपूर्ववर्ती आलंकारिकों ने रस को रसवदादि अलंकारों में समाविष्ट करके—अलंकारों से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रस की अपूर्व आह्लादकता के कारण ही रसध्वनि को उत्तम काव्य के रूप में स्वीकार किया है तथा रस को अलंकार्य कोटि में परिगणित किया है।

रसवदलंकारों के सन्दर्भ में प्रो० हिरियन्ना की समालोचना अत्यन्त महत्त्व की है। उनका कथन है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने जो रसवदादि अलंकारों के उदाहरण दिये हैं, उससे तो यही प्रतीत होता है कि रस वाच्य है। किन्तु क्या ऐसा है? इस सन्दर्भ में इन्होंने शाकुन्तलम् के—

---

१. काव्यालंकार, १·३६.
२. वही, ५·३.
३. रसवद्दर्शितस्पष्ट-श्रृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ ४·३

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ॥
शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥[1]

इस श्लोक की चर्चा की है। इसमें मृगशावक के भय का वर्णन है, जिससे भयानक रस की उद्भूति हो रही है। किन्तु क्या ऐसा कोई भी शब्द इसमें वर्णित है जो 'भयानकता' को अभिहित कर रहा हो? परन्तु मृगशावक की चेष्टाओं को कवि ने इस रूप में वर्णित किया है, ऐसा जीवन्त चित्र सामने खींच दिया है कि स्पष्ट प्रतीति होने लगती है कि यह भयभीत है। यही रस की व्यङ्ग्यता है।

यदि रस वाच्य नहीं है तो वह अर्थापत्तिगम्य है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि अर्थापत्ति के द्वारा भी जिस तथ्य की अवगति होगी, वह वर्णनात्मक होगी, वस्तुगत होगी—अनुभवात्मक या भावगत नहीं। अतः रस को तो हर स्थिति में व्यङ्ग्य मानना ही होगा—

Hence we may conclude that, in neither case, can rasa be classed under alamkara. If the Rasavadalamkara is held to be vachya, it will not yield the intended experience but only present its objective accompaniments; if on the other hand, it is taken to be arthapattigamya, the experience to which it leads will be very far from what is meant by rasa.[2]

अतः स्पष्ट है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने रस को रसवद् अलंकार के अन्तर्गत रखकर उसके महत्त्व को ही नहीं घटाया है अपितु उनका वर्णन इस बात का परिचायक है कि रसगत अनुभूति किस रूप में अभिव्यक्ति पाती है—इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। ध्वनिवादियों की सबसे बड़ी उपलब्धि व्यञ्जना व्यापार ही तो है जिसके माध्यम से उन्होंने रसगत अनुभूति को अभिव्यक्ति पथ पर अवतरित करने का सफल प्रयास किया। वस्तुतः कवि जितना कहता है उतना ही उसका अभिप्रेत नहीं होता अपितु उसका मुख्य अभिप्रेत जो वह शब्दों से नहीं कह रहा है, किन्तु उन शब्दों से जो व्यङ्ग्य हो रहा है—उसमें होता है। जिसे ध्वनिकार ने 'प्रतीयमान' की संज्ञा दी है। इसीलिये मम्मट कहते हैं— 'न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपितु रसस्तैरित्यस्ति।'[3]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १'७.
२. **Art Experince, p. 67.**
३. काव्यप्रकाश, पृ० ९४.

इस प्रकार डॉ० देशपाण्डे का यह कथन तो युक्तियुक्त है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों को रस का ज्ञान था। किन्तु उनका यह कथन कि भरत के रस विवेचन को आधार मानकर, उसकी पुनरावृत्ति न कर, 'रसवद्' के द्वारा अध्याहार मान लेना—समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भामहादि की रसवदलंकार सम्बन्धी मान्यता तथा भरत की रस प्रक्रिया में नितान्त भेद है, जो उक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा।

ध्वनिवादी आचार्यों के यहाँ गुण की स्थिति भी रस के समान व्यङ्ग्य है। उनके अनुसार गुण रसाश्रित धर्म हैं। गुणों की शब्दार्थनिष्ठता की प्रतीति तो मात्र गौण-वृत्ति से होती है—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मताः'[1] साथ ही गुणों का संख्या निर्धारण भी इनके यहाँ सीमित है। ध्वनिवादी माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन ही गुण मानते हैं। इसमें माधुर्य कोमल मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, ओज उग्र एवं उद्धत मनोवृत्तियों का तथा प्रसाद से इन सभी में अर्थव्यञ्जकता का सामर्थ्य आता है।

किन्तु अधिकांशतः ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणों की संख्या दस मानी है। वामन ने तो शब्द एवं अर्थ के विभेद से इन गुणों की संख्या बीस निर्धारित की है। यह शब्द एवं अर्थगत विभाग ही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य गुणों को शब्दार्थनिष्ठ धर्म मानते हैं। गुण वर्णन के प्रसंग में वामन ने तो कहा भी है कि—'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः''[2] यद्यपि भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन ही गुण माने हैं, किन्तु भामह ने इन गुणों का निर्धारण अल्प एवं बहुल समास के आधार पर किया है। जबकि ध्वनिवादी आचार्यों के गुण—द्रुति, दीप्ति एवं विस्तार रूप चित्तवृत्तियों पर आधृत हैं। यदि रस को काव्य की आत्मा कहा जाये तो गुण रसनिष्ठ ही होंगे, उपचार से ही उनकी शब्दार्थनिष्ठता स्वीकार की जा सकती है। इसका प्रमाण वक्तृ, वाच्य एवं प्रबन्ध के भेद से रचना वर्णन का भेद है।

वामन ने रीति को काव्य की 'आत्मा' कहा है कि रीति विशिष्ट पद रचना रूप है। यद्यपि यह विशिष्टता गुणों के कारण है, किन्तु गुण भी तो अन्ततः शब्दार्थ निष्ठ धर्म ही ठहरते हैं। यह सत्य है कि कवि अपने मन्तव्य को भाषा के द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। इस अभिव्यक्ति में पदयोजना का सुन्दर चयन निश्चित रूप से सहायक होता है। किन्तु कवि का मन्तव्य क्या केवल सुन्दर पदयोजना को संगठित करना ही होता है? यदि ऐसा होता तो कोई भी कवि कोश की सहायता

---

१. वही, ८.७१, सू० ९४,

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·१·१ की वृत्ति,

से सुन्दर शब्दों को सजाकर काव्य रचना कर सकता था। किन्तु ऐसा होता नहीं है। 'रीति' भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है—साध्य नहीं। साध्य तो रस है। यदि रीति को ही साध्य मान लिया जाये तो काव्य को यत्न साध्य रचना मानना पड़ेगा। क्योंकि फिर यह बौद्धिक प्रक्रिया पर अवलम्बित हो जायेगा। किन्तु काव्य तो प्रतिभाशाली कवियों के हृदय से स्वतः स्फूर्त होने वाला तत्त्व है। ध्वनि-कार की–'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्'[१] इस कारिका की व्याख्या के प्रसंग में अभिनवगुप्त ने 'निष्यन्दमाना' पद को व्याख्यायित करते हुये कहा है कि 'दिव्यमानन्दरसं स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यर्थः'[२] अर्थात् कवि की सरस्वती स्वयं ही कविगत रसरूप दिव्य आनन्द को प्रवाहित करती है। इस सम्बन्ध में इन्होंने भट्टनायक का एक श्लोक उदधृत किया है—

> 'वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
> तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥
> तदावेशेन विनाप्याक्रान्त्या हि यो योगिभिर्दुह्यते॥'[3]

अर्थात् काव्य सर्जना की प्रक्रिया वत्स के स्नेह से द्रवित धेनु के दुग्ध निष्यन्दन के समान सहज स्फुरित होती है। इस सहज स्फुरण में यत्न साध्यता कहाँ है? अतः कवि की सर्जना प्रक्रिया की दृष्टि से भी रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता।

रीति को वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली,[४] आदि नामों से देशभेद के आधार पर जो अभिहित किया गया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि रीति का सम्बन्ध देश से नहीं अपितु कवि से है। इस तथ्य की ओर यद्यपि दण्डी ने संकेत किया है— 'तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः।'[५] किन्तु फिर भी मार्ग का नामक-रण देश के आधार पर इन्होंने भी किया है। इस दृष्टि से कविस्वभाव को आधार बनाकर कुन्तक द्वारा किया गया विवेचन अधिक तर्कसंगतप्रतीत होता है। प्रतिकविभेद के साथ कविस्वभाव भी अनन्त हो सकते हैं और होते हैं, किन्तु कुन्तक ने उन सबका समावेश सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग के अन्तर्गत कर लिया है।

ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की इस समीक्षा से यह नहीं समझना चाहिये कि इनमें

---

१. ध्वन्यालोक, १·६.
२. लोचन, पृ० ९२.
३. लोचन, पृ० ९३.
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१०.
५. काव्यादर्श १·१०१.

सब अपूर्णतायें ही हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में इनकी अपूर्व देन को भुलाया नहीं जा सकता है।

ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन

ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों को समस्त परवर्ती सम्प्रदायों के मूल उत्स के रूप में देखा जा सकता है।

१. रस सम्प्रदाय

भरतमुनि ने दृश्यकाव्य के सन्दर्भ में विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से रसनिष्पत्ति की चर्चा की थी। श्रव्यकाव्य में भी रस के सन्दर्भ में भरतमुनि के रस सूत्र को ही प्रमाण माना गया तथा दृश्य काव्य में जो कार्य अभिनय से होता था, उन विभावानुभावों आदि की योजना श्रव्य काव्य में शब्दों के माध्यम से की जाने लगी। भरतमुनि ने रस की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के निमित्त रस से रहित किसी भी अर्थ की प्रवृत्ति ही नहीं स्वीकार की है—'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'[1] परवर्ती काल में रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर ध्वनिवादियों ने इसी तथ्य को प्रतिष्ठित किया है। ध्वनि के तीन प्रकारों—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसध्वनि में——रस ध्वनि को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है—'तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।'[2]

यदि ध्वनि से रस को पृथक् कर दिया जाये तो ध्वनि काव्य की आत्मा नहीं बन सकती। रस भी ध्वनित हुये बिना केवल वाच्य होकर काव्य में नहीं रह सकता। इसप्रकार रस और ध्वनि एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिये अनेकानेक आलोचकों ने ध्वनि को रसमत का विकसित रूप सिद्ध किया है।

भामह एवं दण्डी ने सर्गबन्ध के लक्षण निरूपण के प्रसंग में रस को प्रतिष्ठित करके श्रव्य काव्य में भी रस की परम्परा को प्रचलित किया है।[3]

ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा किये गये गुण, दोष, अलंकारादि के वर्णन प्रसंग में रस का महत्त्व और स्पष्ट हो जाता है। यथा मम्मट ने गुण का लक्षण किया है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः'।।[4]

---

१. नाटयशास्त्र, पृ० २२८.

२. लोचन, पृ० ८६.

३. (अ) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। काव्यालंकार, १·२१.
(ब) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।। काव्यादर्श, १·१८.

४. काव्यप्रकाश, ८·६६, सूत्र ८६.

यहाँ पर गुण को अंगी रूप रस का धर्म स्वीकार किया गया है। इसीप्रकार अलंकार का सामान्य लक्षण करते हुये मम्मट ने कहा है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[1]

यहाँ मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रस के रहने पर ही अलंकारों का अलंकारत्व सिद्ध होता है। दोष निरूपण के प्रसंग में तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि मम्मट के अनुसार रसापघातक ही मुख्य रूप से दोष है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः।[2]

ध्वनिवादियों ने काव्य का वर्गीकरण उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटि के आधार पर किया है इसमें रसभावादि से युक्त काव्य की परिगणना उत्तम काव्य के अन्तर्गत की गयी है—

रसभावतदाभासभावशांत्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥[3]

इन समस्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि भरतमुनि ने जिस रस को काव्य के 'सार' रूप में निरूपित किया था, काव्यशास्त्र में उसका आद्यन्त निर्वाह हुआ है।

२. अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय में चूँकि रस को रसवदलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया गया है तथा विशेष संरम्भ अलंकार के प्रति ही प्रदर्शित किया गया है, इसलिये आधुनिक आलोचकों ने अलंकार सम्प्रदाय के महत्त्व को नगण्य कर दिया है। इस उपेक्षात्मक भावना में मम्मट के काव्य लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि'[4] ने भी विशेष सहारा दिया है। किन्तु क्या निरपेक्ष भाव से विचार करने पर यह सम्भव है कि काव्य अलंकारों से रहित हो? सामान्य भाषा से काव्य भाषा का व्यावर्तकत्व अन्ततः अलंकार ही है। इस तथ्य से हम भी सहमत हैं कि काव्य में रस की स्थिति को ही प्रधानता मिलनी चाहिये। किन्तु अन्ततः यह रस काव्य में आता कैसे है? रस की स्वशब्दवाच्यता को स्वयं ध्वनिवादियों ने नकारा है। विभावानुभावव्यभिचारी की योजना में क्या अलंकार सहायक नहीं होते? एक लौकिक उदाहरण ही लें। चित्रकार किसी चित्र का निर्माण करता है, वह

---

१. वही, ८·६७, सूत्र ८७,
२. वही, ७·४९, सूत्र ७१,
३. वही, ४·२६, सूत्र ४२;
४. काव्यप्रकाश, सूत्र,१

चित्र बहुत सुन्दर भी लगता है किन्तु क्या उस चित्र के निर्माण में रंगों के महत्त्व को नकारा जा सकता है। यद्यपि वह साधन ही है किन्तु कलाकार के चित्र की सुन्दर अभिव्यक्ति में उसका अपूर्व योगदान है।

शब्दालंकारों के प्रति उपेक्षात्मक भाव ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में भी दृष्टिगत होता है। दण्डी ने यमक के वर्णन के प्रसंग में[1] तथा रुद्रट ने अनुप्रास[2] के वर्णन के प्रसंग में इसका संकेत किया है। किन्तु अर्थालंकार व्यङ्ग्य के संस्पर्श से रहित नहीं माने जा सकते। स्वयं आनन्दवर्धन ने कादम्बरी में चन्द्रापीड द्वारा कादम्बरीदर्शन प्रसंग का उल्लेख करते हुये इस तथ्य को स्वीकार किया है कि जब कोई प्रतिभाशाली कवि रस समाहित चित्त से काव्य सर्जना में प्रवृत्त होता है, तब ये अलंकार प्रतिस्पर्धा करते हुये आ–आकर गिरते हैं। ऐसे स्थलों पर अलंकारों का बहिरंगत्व मानना उचित नहीं है। जहाँ शृंगारादि रसों में कवि यमक, श्लेष आदि क्लिष्ट अलंकारों की योजना करने लगता है या पाण्डित्य प्रदर्शन के लोभ में अलंकारों की झड़ी लगा देता है, जिससे कथा प्रवाह व्यवहित हो जाता है, वहाँ निश्चितरूपेण अलंकारों की बहिरंगता सिद्ध है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर कवि को अलंकारों के निष्पादन हेतु अपने अनुभूति प्रसूत सहज अभिव्यंजना व्यापार से पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। सहजाभिव्यक्ति का यह अतिक्रमण निश्चितरूपेण रस भंग का हेतु बनता है।

अलंकारों के बाह्यता की भ्रान्ति शरीर के दृष्टान्त के कारण है, जिसमें अलंकारों को कटक–कुण्डलवत् कहा गया है।[3] किन्तु मुख्य रूप से इस दृष्टान्त का प्रयोजन शोभावर्धकत्व को इंगित करना ही है। लोक में अलंकार तथा शरीर में संयोग सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है किन्तु काव्य में क्या काव्य रचनोपरान्त अलंकार को उसमें से निकालकर काव्य के काव्यत्व को सुरक्षित रखा जा सकता है? इसीलिये तो कुन्तक के कहा है—'तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति'[4]—काव्य अलंकृत ही निष्पन्न होता है, निष्पन्न हुये काव्य का अलंकरण नहीं किया जाता।

आचार्य मम्मट का अलंकारों के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण होते हुये भी वे पूर्णतः उसका तिरस्कार नहीं कर सके। अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, दीपक, आक्षेप,

---

१. काव्यादर्श, १·४४, १·६१.
२. काव्यालंकार, २·३२.
३. तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।। ध्वन्यालोक, २·६.
४. वक्रोक्तिजीवित, १·६ की वृत्ति,

विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, संकर आदि अलंकारों की गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्वयं आनन्दवर्धन ने स्वीकार की है। फिर मम्मट ने भी 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'[1] कहकर शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों को काव्य की 'अवर' कोटि प्रदान की है। 'अवर' ही सही, काव्यकोटि तो है ही। इसप्रकार वे भी नितान्त उपेक्षा न कर सके।

अलंकारों के महत्त्व निदर्शन में अधिक तर्क देने का कोई औचित्य नजर नहीं आता। अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या स्वयं इसका प्रमाण है। भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार ही अलंकारों का निरूपण किया था, किन्तु सम्प्रति अलंकारों की संख्या १२० तक पहुँच गयी है। इन १२० अलंकारों में ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने ८३ अलंकारों की उद्भावना की थी। अलंकारों की बढ़ती हुई यह संख्या इस बात का प्रमाण है कि काव्य सृष्टि की प्रक्रिया में अलंकारों के व्यावहारिक उपयोग की उपेक्षा कथमपि सम्भव नहीं है।

अलंकार सम्प्रदाय में ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने व्यापक तत्त्व निर्देशक संकेत वाक्यों का उल्लेख किया है। यथा दण्डी ने 'अलंकार' को समस्त काव्यशोभाकर तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वीकार किया है—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते'। इसीप्रकार वामन सौन्दर्य को ही अलंकार मानते हैं—'सौन्दर्यमलंकारः'। यहाँ 'अलंकार' शब्द उपमादि के संकीर्ण अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है, अपितु व्यापक सौन्दर्य भावना का प्रतिनिधित्व कर रहा है—जिसमें रस, गुण, अलंकारादि सभी अन्तर्भूत हो सकते हैं।

'अलंकार' शब्द में 'अलं' पर्याप्तता एवं पूर्णता का द्योतक है। इस दृष्टि से अलंकार को काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व मानने में कोई हानि नहीं है। क्योंकि 'अलं' के द्वारा द्योत्य जो तृप्तावस्था है, उसमें आस्वाद्यता, स्पृहणीयता आदि सभी का समाहार हो जाता है। यदि काव्य का परीक्षण प्रमाता की दृष्टि से नहीं अपितु प्रमेय की दृष्टि से किया जाये तो रस एवं गुण आदि भी इसी 'अलं' भाव की सीमा में परिवेष्टित हो जायेंगे।

३. रीति एवं गुण सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के पूर्व काव्यशास्त्र में काव्य के शरीर पक्ष—शब्दार्थ तक ही विचार सीमित था। रीतिवादियों ने सर्वप्रथम काव्यात्मा के महत्त्व की उद्घोषणा की। यद्यपि वे अपने इस लक्ष्य में सफल नहीं हुये, किन्तु इस दिशा में परवर्ती आलंकारिकों के पथ को प्रशस्त करने में सहयोग अवश्य ही दिया है। स्वयं आनन्दवर्धन ने रीतिवादियों के योगदान को स्वीकार किया है—

---

१. काव्यप्रकाश, सूत्र ४,

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥[1]

वामन ने गुणों को रीतिगत (आत्मगत) धर्म माना तथा अलंकारों को शब्दार्थगत धर्म स्वीकार किया । गुणों को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य कहकर—गुणों के सन्निवेश पर अधिक बल दिया । साथ ही वामन ने अलंकारों की चर्चा दो रूपों में की है—१. व्यापक सौन्दर्य के रूप में तथा २. उपमादि विशिष्ट अलंकारों के रूप में । वामन की सौन्दर्य धारणा को आनन्दवर्धन के प्रतीयमानार्थ की प्रेरणा का स्रोत माना जा सकता है ।

रीति का महत्त्व आधुनिक युग में और भी अधिक बढ़ गया है । शैली विज्ञान रीति का ही विकसित रूप है, जिसका अध्ययन स्वतन्त्र शाखाओं में हो रहा है । आधुनिक आलोचना पद्धति में भाषा के स्वरूपगत या शिल्पगत तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है, क्योंकि काव्य उसी के माध्यम से अभिव्यक्त होता है । सही अर्थ में काव्य की दृष्टि से काव्य का परीक्षण उसके स्वरूपगत आधार पर ही किया जा सकता है, इस दृष्टि से रीति का महत्त्व असंदिग्ध है । प्रतीयमानार्थ जिस व्यञ्जना के द्वारा व्यङ्ग्य होता है, वह भी विशिष्ट रीति, पद्धति या मार्ग ही है ।

गुणों को रीतियों के साथ सम्बद्ध करके ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने कोमल एवं परुष काव्य में किस प्रकार की वर्णयोजना होनी चाहिये, इसके प्रति संकेत किया है ।

४. औचित्य सम्प्रदाय

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'[2] कहकर जिस औचित्य की आत्मत्वेन प्रतिष्ठा की है तथा आनन्दवर्द्धन ने 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्'[3] कहकर औचित्य के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है, इस औचित्य का स्रोत ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकारशास्त्र में स्फुट किंवा अस्फुट रूप में प्राप्त होता है । उचितता की भावना ही औचित्य है । उपादेयता का स्वीकरण एवं अनुपादेयता का निराकरण औचित्य की विस्तारभूमि है ।

भामह ने कवि की तुलना मालाकार से करके औचित्य विवेक की सुन्दर व्यञ्जना की है—

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य ।

१. ध्वन्यालोक, ३·४७
२. औचित्यविचारचर्चा, कारिका ५,
३. ध्वन्यालोक, पृ० १९०

मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ।।[1]

अर्थात् कवि को काव्य रचना के समय इस बात का अवश्य ख्याल रखना चाहिये कि १. कौन शब्द का उपादेय है २. कौन अनुपादेय है ३. कौन सा शब्द प्रयोगोपरान्त मनोहारी प्रतीत होगा तथा ४. किस शब्द का कौन सा उचित स्थान है।

यह औचित्य की अवधारणा नहीं तो और क्या है ? इसीप्रकार दण्डी ने काव्य में ग्राम्यता का निवारण करके, काव्य में जिस शिष्टता के प्रतिपादन की बात कही है, वह प्रकारान्तर से औचित्य की ही प्रतिष्ठा है—

कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।।[2]

इतना ही नहीं, औचित्य की भावना दण्डी में इतनी प्रबल थी, जो उनके शास्त्र प्रयोजन के वर्णन के प्रसंग में स्फुटतया व्यक्त ही गयी है—

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।
किमन्धस्याधिकारोस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ।।[3]

उचितता एवं अनुचितता का ज्ञान ही तो औचित्य का निर्धारक है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर वामन ने कवियों की दो कोटियाँ मानी हैं—अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी अर्थात् विवेकी और अविवेकी।

अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ।[4]

जब दोनों कवि हैं तो फिर विवेकित्व एवं अविवेकित्व का आधार उचितानुचित के विवेक का भाव एवं अभाव ही माना जा सकता है। इतना ही नहीं सन्निवेश के वैशिष्ट्य से दोष भी गुण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, इसकी चर्चा भामह, दण्डी, रुद्रट ने बड़े ही मनोनिवेश के साथ की है।

५. वक्रोक्ति सम्प्रदाय

जनभाषा से काव्य भाषा का अन्तर उक्ति की विचित्रता ही है, जिसे वैदग्ध्य-भङ्गीभणिति की संज्ञा दी गयी है तथा इसे ही भामहादि ने वक्रोक्ति शब्द से अभिहित

---

१. काव्यालंकार, १·५९.
२. काव्यादर्श, १·६२.
३. काव्यादर्श, १·८.
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·२·१,

किया है। राजशेखर ने भी कर्पूरमञ्जरी में उक्ति विशेष में काव्यत्व स्वीकार किया है—

अर्थनिवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु ॥[1]

अर्थात् चमत्कारयुक्त वाक्य ही काव्य कहलाता है, चाहे भाषा कोई भी हो।

भामह ने अर्थ के विभावन में वक्रोक्ति को एकमात्र कारण स्वीकार किया है तथा उसमें कवियों की निष्णातता की दीक्षा दी है। भामह के वक्रोक्ति प्रसंग की विस्तृत चर्चा हमने तृतीय अध्याय में अलंकार स्वरूप के वर्णन के प्रसंग में और पञ्चम अध्याय में कवि व्यापार के वर्णन के प्रसंग में की है।

भामह ने वाणी के अलंकरण में वक्रोक्ति की सत्ता को अनिवार्य माना है—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः ।'[2]

भामह ने वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति में अभेद माना है, जिसका समर्थन दण्डी ने भी किया है तथा अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। इसके साथ ही दण्डी ने ग्राम्य अर्थ की निन्दा करके अग्राम्य या वैदग्धभङ्गी-भणिति की जो प्रशंसा की है, वह प्रकारान्तर से वक्रोक्ति की ही प्रशंसा है। इस उक्तिवैचित्र्य को वामन ने 'विशिष्टा पदरचनारीतिः' कहकर तो स्वीकार ही किया है, इसके अतिरिक्त 'उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्' कहकर गुण में इसका अन्तर्भाव कर दिया है। भामह ने प्रबन्धगुण भाविक की विशेषताओं का उल्लेख करते समय कहा है—

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वाभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥[3]

यहाँ जिस कथा के स्वाभिनीतता की बात भामह ने कही है, वह काव्य में वक्रोक्ति के माध्यम से ही घटित हो सकती है। इसीलिये तो भामह ने 'वाचां वक्रार्थ-शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते'[4] की स्पष्ट उद्घोषणा की है। अतः स्पष्ट है कि कुन्तक ने 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी'[5] के द्वारा जिस वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार किया है, उसका सूत्रपात ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में ही हो गया था।

---

१. कर्पूरमञ्जरी, १·७.
२. काव्यालंकार, १·३६.
३. वही, ३·५४
४. वही, ५·६६.
५. वक्रोक्तिजीवित, १·७.

६. ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन व्यञ्जना व्यापार की परिकल्पना है। व्यञ्जना व्यापार की स्थापना के फलस्वरूप काव्य में प्रतीयमानार्थ को स्पष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी। किन्तु ऐसा नहीं है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यों में प्रतीयमानार्थ का सौन्दर्य है ही नहीं। इतना अवश्य है कि वे उस सौन्दर्य को कोई स्पष्ट अभिधान नहीं प्रदान कर सके। स्वयं आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व के पूर्ववर्तित्व को स्वीकार किया है। 'समाम्नातपूर्व' के द्वारा ध्वनि के पूर्ववर्तित्व की ही सूचना दी है, जिसकी व्याख्या में लोचनकार ने और स्पष्ट कर दिया है कि—'पूर्वग्रहणेनेदंप्रथमता नात्र सम्भाव्यते'[1] इसके अतिरिक्त भी ध्वनिकार ने यह स्पष्ट कहा है कि पूर्ववर्ती आचार्यों में अमुख्य रूप में यह ध्वनि तत्त्व विद्यमान था—'यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि, न लक्षितः'।[2]

लक्षणकर्त्ताओं में यह ध्वनि अमुख्य रूप से भले ही व्यवहृत हुई हो किन्तु लक्ष्य ग्रंथों में असंदिग्ध रूप से इस ध्वनि का स्वरूप प्रकाशित हो रहा था—'तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तन-काव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनी लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते'।[3]

लोचनकार ने ध्वनि शब्द के अन्य पर्यायों की ओर संकेत करते हुये कहा है—'...चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जन्प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपि-तोऽभ्युपगन्तव्यः,।[4] अर्थात् यह ध्वनन-द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमनादि अन्य शब्दों से भी जाना जाता है। अतः यद्यपि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमनादि शब्दों के प्रयोग द्वारा अभिधा से व्यतिरिक्त अन्य शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। यथा भामह के द्वारा समासोक्ति अलंकार के प्रसंग में 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थः,[5] वक्रोक्ति लक्षण में

---

१. लोचन, पृ० ११.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ८-९.
३. वही; पृ० ९.
४. लोचन; पृ० ६०,
५. काव्यालंकार, २·७९.

'अनयार्थो विभाव्यते'[१], आक्षेप लक्षण में 'यो विशेषाभिधित्सया'[२] आदि पदावलियों का प्रयोग स्पष्टत: वाच्येतर अर्थ को द्योतित कर रहा है। प्रथम अध्याय में हमने इस तथ्य का विस्तृत निरूपण किया है, इसलिये यहाँ संक्षेप में दर्शित मात्र कर रहे हैं।

दण्डी के काव्यलक्षण 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' की व्याख्या के संदर्भ में रङ्गाचार्य रेड्डी का कथन है कि इष्टार्थ केवल वाच्य ही नहीं होता अपितु लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य भी होता है।

इसीतरह सभ्यजनव्यवहार्य एवं असभ्यजन व्यवहार्य भाषा के अन्तर को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में दण्डी ने उदाहरणों द्वारा विदग्धजन कथन प्रणाली की जो प्रशंसा की है तथा दोनों में जो भेद स्थापित किया है—वह काव्य में अभिधेयार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति को पुष्ट करता है।[3] उदारता गुण के लक्षण में 'उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते'[४] में प्रतीयते पद का प्रयोग वाच्यार्थ से भिन्न वृत्ति की सत्ता के स्वीकरण का द्योतक है।

वामन ने अर्थ के दो भेद माने हैं 'अर्थो व्यक्तःसूक्ष्मश्च'[५] पुनः सूक्ष्म के दो भेद किये हैं—'सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च'[६] जो अर्थ झटिति प्रत्यागमित हो वह भाव्य है तथा जो अर्थ ध्यान देने से समझ में आये वह वासनीय है। कामधेनु टीकाकार ने भाव्य को रस कोटि का तथा वासनीय को अविवक्षितवाच्य कोटि में परिगणित किया है। 'सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्तिः'[७] से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि इन्हें अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा का भी ज्ञान था।

उद्भट ने भी पर्यायोक्त अलंकार के वर्णन के प्रसंग में अवगमन व्यापार का उल्लेख किया है—

> पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
> वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥[८]

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अलंकारों के वर्णन के प्रसंग में वाच्येतर अर्थ की सूचना मिलती है।

---

१. वही, २·८५.
२. वही, २·६८.
३. काव्यादर्श, १·६३–६४
४. वही, १·७६.
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३·२.९.
६. वही, ३.२·१०.
७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४·३·८.
८. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·६.

रुद्रट के अनेकानेक अलंकार लक्षणों का मम्मट के अलंकार लक्षण पर प्रभाव देखा जा सकता है। इन अर्थालंकारों के द्वारा जो व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है, वह तो होता ही है, किन्तु शब्दालंकार वक्रोक्ति के १. श्लेष वक्रोक्ति एवं २. काकु वक्रोक्ति रूप भेद करके इन्होंने व्यङ्ग्यार्थ के सत्ता की स्पष्ट सूचना दी है। श्लेष वक्रोक्ति में तो श्लिष्ट पद की सहायता से दूसरा अर्थ निकलता है किन्तु काकु वक्रोक्ति में कण्ठ ध्वनि भेद से ही प्राकरणिक अर्थ से भिन्न दूसरे अर्थ की प्रतीति हो पाती है। जिसे परवर्ती आचार्यों ने काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य की संज्ञा प्रदान की है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ध्वन्यभाववादी आचार्यों में ध्वनि का बीज रूप में उल्लेख हुआ है, जिसका संवर्द्धन ध्वनिकार ने सम्यक् रूप से किया है। ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों की देन की समीक्षा से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्र की आधारशिला के रूप में ये प्रतिष्ठित हैं। भव्यभवन के निर्माण में जिस प्रकार नींव के महत्त्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार विकसित काव्यशास्त्रीय परम्पराओं के सन्दर्भ में ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्तों के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता है।

३. ध्वनि सम्प्रदाय में ध्वनिपूर्व सम्प्रदायों की परम्परा

काव्यशास्त्रीय समस्त सम्प्रदायों में ध्वनि ही सबसे अधिक प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। ध्वनिकार समन्वयवादी आचार्य हैं। यद्यपि ध्वनि को इन्होंने आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है, किन्तु साथ ही आत्मा की सुगम अभिव्यक्ति हेतु गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, औचित्य आदि समस्त तत्त्वों को शरीर स्थानीय माना है। प्रतीयमानार्थ के रूप में अंगना के जिस लावण्य की परिकल्पना आनन्दवर्धन ने की है, वह लावण्य यद्यपि किसी विशिष्ट अंगाश्रित नहीं है, फिर भी विकलांग अंगना में भी तो उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। इस दृष्टि से अंगों का महत्त्व भी कम नहीं है। रस और ध्वनि रूप काव्यात्मा—शब्दार्थ के कलेवर का परित्याग नहीं कर सकते, उनकी स्फुट अभिव्यक्ति इन्हीं के अधीन है। ध्वनिवादियों की विशिष्ट उपलब्धि व्यञ्जना व्यापार की प्राप्ति है। इसी के कारण यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र में मूर्धाभिषिक्त हुआ। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ध्वनि सिद्धान्त ने अन्य समस्त सिद्धान्तों का तिरस्कार कर दिया। ध्वनिपूर्ववर्ती अनेक सिद्धान्त परवर्ती युग में किञ्चित् परिवर्तन के साथ लक्षित होते हैं।

भामह के काव्यालंकार के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के पूर्व कुछ लोग काव्य चमत्कारजनन में केवल शब्दालंकार के महत्त्व को ही प्रतिष्ठित

करते थे।[1] कुछ लोग अर्थालंकारजन्य चमत्कार को ही सर्वोपरि मानते थे।[2] किन्तु भामह में इन दोनों का समन्वय दृष्टिगत होता है। उनके अनुसार दोनों ही काव्य चमत्कार के जनक हैं—

"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः।"[3]

इसलिये इन्हें दोनों ही इष्ट हैं। भामह की इस मान्यता को ध्वनिवादियों ने निर्विरोध रूप से स्वीकार कर लिया अर्थात् परवर्ती सभी आचार्यों ने अलंकार के शब्दालंकार एवं अर्थालंकार रूप भेद माने हैं। इतना ही नहीं, कुछ इससे भी आगे उभयालंकार की सत्ता स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन ने जो—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।"[4]

यह कहा है, इसकी पूर्व सूचना भामह में स्पष्टतया व्यक्त है। भामह ने वार्त्ता के उदाहरण में—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते।।"[5]

आदि कहा है यह कथन व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा शुद्ध है, किन्तु इसमें अर्थ का विभावन नहीं हो रहा है। लोक के कारण ही काव्य के 'विभाव' हैं। ये कारण जब विभावादिकृत रूप में वर्णित होते हैं, तभी ग्राह्य होते हैं अन्यथा कारण रूप में वर्णित होने पर इनकी चमत्कारजनकता विलुप्त हो जाती है। इसीलिये वक्रोक्ति के लिये भामह ने कहा है—'अनयाऽर्थो विभाव्यते'। 'काव्यशब्दशुद्धि' के प्रसंग में षष्ठ परिच्छेद में भामह ने कहा है—

"वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते।।"[6]

ठीक इसीवात को आनन्दवर्धन ने इन शब्दों में कहा है—

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।"[7]

---

१. काव्यालंकार, १·१४.
२. वही, १·१३.
३. वही, १·१५.
४. ध्वन्यालोक, १·७.
५. काव्यालंकार, २·८७.
६. वही, ६·२३.
७. ध्वन्यालोक, १·८.

प्रयोगार्ह शब्दों का निर्देश करते हुये भामह ने अनेकानेक उदाहरण दिये हैं। एक ही शब्द वृद्धि और वृद्धयभाव के संस्पर्श से ग्राह्य तथा अग्राह्य हो उठता है।[१] भामह ने उदाहरण द्वारा इसे समझाया है। यथा 'मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्पबिन्दवः'—यही प्रयोग 'मृजन्त्यधररागं ते' के रूप में भी हो सकता है। किन्तु काव्यात्मकता की दृष्टि से 'मार्जन्ति' में जो कोमलता है, वह 'मृजन्ति' में नहीं, यद्यपि दोनों अर्थ की दृष्टि से समान हैं। इसीप्रकार कहीं-कहीं सन्धियों के द्वारा भी श्रुतिकटुत्वादि दोष आ जाते हैं। यथा 'यथैतच्छ्यामाभाति वनंवनज लोचने'[२] में एतत् + श्याम इन दो पदों की सन्धि से 'एतच्छ्याम' पद निष्पन्न हुआ है, यद्यपि यह पद व्याकरण की दृष्टि से दुष्ट नहीं है, किन्तु इससे श्रुतिकटुत्व रूप दोष आ गया है। अतः कवि को ऐसे प्रयोगों के प्रति सचेष्ट रहना चाहिये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शब्दों की प्रयोगार्हता पर जितना बल आनन्दवर्धन, कुन्तक एवं मम्मट आदि ने दिया है, उसका बीज भामहादि आचार्यों में उप्त हो गया था। कुन्तक ने अनेक पर्यायों में से किसी एक के चुनने की जो बात कही है—

'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥'[३]

यही तथ्य तो भामह के उक्त कथन से भी ध्वनित हो रहा है। भामह ने ऐसे अनेकानेक उदाहरण छठें अध्याय में दिये हैं। अन्त में वे कहते हैं कि यह तो संक्षेप में हमने दर्शित कर दिया है इसका विस्तृत विवेचन कर सकना असम्भव है—

शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं
भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ॥[४]

आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों को परम आचार्य मानकर—'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वाच्च सर्वविद्यानाम्'[५]—के रूप में जो उद्घोषणा की है, यह उद्घोषणा भामह शताब्दियों पूर्व कर चुके थे। भामह ने व्याकरण को न केवल काव्यशास्त्र के लिये अपितु समस्त शास्त्रों के प्रतिपादन में मौलिक आधार स्वीकार किया है—

---

१. वृद्धिपक्षं प्रयुञ्जीत सङ्क्रमेऽपि मृजेर्यथा।
मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो वाष्पबिन्दवः॥ ६.३१.
२. काव्यालंकार, ६.६०.
३. वक्रोक्तिजीवित, १.९.
४. काव्यालंकार, ६.६२.
५. ध्वन्यालोक, पृ० ५३.

विद्यानां सततमपाश्रयोऽपरासां
तासूक्तान्न च विरुणद्धि कांश्चिदर्थान् ।
श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयं
माध्यस्थ्याद्भवति न कस्यचित्प्रमाणम् ॥[1]

इसलिये प्रत्येक कवि के लिये व्याकरण का ज्ञान होना अनिवार्य है । क्योंकि जिसके शब्द दूसरे के प्रामाण्य पर निर्भर हों, वैसी वाणी, दूसरे के द्वारा धारण कर उतार दी गयी सरस पुष्पमाला के समान विद्वानों को प्रसन्न नहीं कर सकती ।[2] जिसे व्याकरण का ज्ञान होता है, वही सिद्ध सारस्वत होता है ।

भामह ने आरम्भ से ही 'साधुकाव्यनिबन्धन'[3] के प्रति बल दिया है । भामह के अनुसार सत्कवित्व के बिना वाग्विदग्धता वैसी ही अनाकर्षक लगती है जैसे विनय से रहित सम्पत्ति और चन्द्रमा से रहित रजनी । काव्य का स्फुरण सबको नहीं होता । मन्द बुद्धि भी गुरु के उपदेश से शास्त्राध्ययन कर सकता है, किन्तु काव्य तो किसी-किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति में स्फुरित होता है—

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ।[4]

इसी तथ्य को ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने शक्ति की महत्ता दिखलाते हुये कहा है—'अस्मिन् अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ।'[5]

यह सत्य है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों को व्यञ्जना का स्पष्ट ज्ञान नहीं था, फिर भी वे अभिधेतर शक्ति से परिचित थे, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । किन्तु इसके साथ ही भामहादि आचार्यों ने प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से काव्य की विलक्षणता अनेकानेक युक्तियों के द्वारा सिद्ध की है । भामह का कथन है कि शास्त्र और काव्य में प्रमुख भेद यह है कि काव्य लोकाश्रित होता है तथा आगम तत्त्वदर्शी । काव्य का लक्ष्य होता है सांसारिक वस्तुओं को आधार बनाकर चमत्कार जनन, जबकि शास्त्र का लक्ष्य सत्य–असत्य, नित्य-अनित्य आदि का

---

१. काव्यालंकार, ६·६३.
२. नान्यप्रत्ययशब्दा वागाविभाति मुदे सताम् ।
परेण धृतमुक्तेव सरसा कुसुमावली ॥ ६·५
३. काव्यालंकार, १·२.
४. काव्यालंकार, १·५.
५. ध्वन्यालोक, १·६ की वृत्ति;

अन्वेषण कर त्रिविध दुःखों से मुक्ति दिलवाना है। यही कारण है कि काव्योपयोगी प्रतिज्ञा आदि का पृथक् निरूपण अपेक्षित है।[1] यथा—

असिसंकाशमाकाशं शब्दो दूरानुपात्ययम्।
तदेव वापीसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः ॥[2]

इस उदाहरण में आकाश को नीलवर्ण का कहा गया है पर वास्तविकता यह है कि आकाश का कोई वर्ण नहीं होता है। उसीप्रकार शब्द की गति बतायी गयी है, परन्तु शब्द में क्रियाकारिता नहीं होती तथा नदियों में 'वही' जल कहा गया है, जबकि प्रवहमान होने से जल वही हो ही नहीं सकता। कहने का आशय यह है कि रूप क्रियादि की स्थिति आश्रय, द्रव्य के अनुसार होती है किन्तु काव्य में उससे भिन्न वर्णन पाया जाता है। इसीप्रकार अनुमान के प्रसंग में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन आदि पञ्चावयव वाक्यों का होना आवश्यक है। काव्य में हेतु के शुद्ध न होने के कारण अर्थात् हेत्वाभास के कारण यह अनुमान अनुपपन्न हो जाता है। इसके साथ ही शास्त्रतः शुद्ध अनुमान भी लोकानुभव से अनुमोदित न हो, तो वह काव्य की दृष्टि से दुष्ट होता है। यथा—'काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात्'[3] कुसुम के सौरभ से काश का मन का हरण करना शास्त्रतः दुष्ट नहीं है, किन्तु काश के फूल होते ही नहीं—यह कवि को विस्मृत हो गया। इसलिये यह कवि की दृष्टि से दुष्ट प्रयोग समझा जायेगा।

इस प्रकार काव्य की शास्त्रादि से व्यावर्तकता सिद्ध करने हेतु भामह ने जो यत्न किया है, उसका स्पष्ट प्रभाव मम्मट पर व्यञ्जनावृत्ति सिद्धि के प्रसंग में देखा जा सकता है। मम्मट ने भी व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता को सिद्ध करने के लिये विभिन्न प्रतिवादियों के मतों का खण्डन किया है। मम्मट का यह खण्डन मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा, तात्पर्याख्या शब्द वृत्ति में अन्तर्भाव निषेध का है तथा प्रमाणों में अनुमान प्रमाण का निषेध किया है, जैसाकि भामह ने भी किया है। भामहादि में शब्दवृत्तियों का स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं था, किन्तु काव्य की प्रमाणों से इतरता को तो भामह ने भी स्पष्ट कहा है।

---

१. लक्ष्म प्रयोगदोषाणां भेदेनानेन वर्त्मना।
सन्धादिसाधनासिद्धयै शास्त्रेषूदितमन्यथा ॥५·३२.
तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत्प्रादुष्कृतमन्यथा।
तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ५·३३ ॥

२. काव्यालंकार, ५·३४.

३. काव्यालंकार, ५·५३.

भामह ने वैदर्भ एवं गौड के नाममात्र से मार्ग की उत्तमता का निषेध किया है—यही भाव कुन्तक में आकर फलित हुआ है। कुन्तक भी कविस्वभाव के आधार पर काव्य को मधुर, परुष एवं मध्यम स्वाभाव वाला निरूपित करते हैं तथा वैदर्भ एवं गौड रूप भेद का निषेध करते हैं। क्योंकि काव्य सदैव उत्तम ही होना चाहिये, अगतिकगतिन्याय काव्य के साथ उचित नहीं।

भामह की 'सैषा सर्वैव वक्रोक्ति...' इस कारिका का आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त दोनों ने ही अपने मत के उपस्थापन में उपयोग किया है। यथा आनन्दवर्धन ने तृतीय उद्योत में कहा है—'कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥इति'[1]

इसीप्रकार अभिनवगुप्त ने भी इस कारिका को उद्धृत किया है—'भट्टनायकेनापि तानेव शिक्षित्वा अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्।...व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेदिति। भामहेनापि—'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। इत्यादि'[2]

दण्डी ने यद्यपि समस्त धर्मों को काव्यशोभाकारक अलंकार रूप तो माना है; किन्तु इन अलंकारों में भी उपमादि को वे साधारण अलंकार कहते हैं तथा मार्ग विशेष के धर्म—गुणों को असाधारण अलंकार मानते हैं।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥[3]

इस प्रकार गुणालंकार के विभाग का स्फुटदर्शन दण्डी में प्राप्त होता है।

दण्डी की समाधिगुण की संकल्पना गौणीवृत्ति पर आधृत है, जिसमें इन्होंने अन्य के धर्म का अन्य पर आरोप लक्षित किया है।[4] इससे उदाहरण में दण्डी ने—'कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च,[5] कहा है। यहाँ नेत्र के निमीलन और उन्मीलन रूप धर्म का कुमुद और कमल पर आरोप किया गया है।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० २९१.
२. अभिनवभारती, षोडशोऽध्यायः, पृ० १२५९-६०
३. काव्यादर्श, २.३.
४. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥ १.९३
५. काव्यादर्श, १.९४.

इसीप्रकार—

'पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ।।'[१]

इस श्लोक में 'वमन्ति' शब्द का प्रयोग दण्डी ने किया है। अपने मुख्यार्थ में 'वमन्ति' ग्राम्य होने से त्याज्य है, किन्तु यहाँ लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त होकर मनोहारी हो उठा है।

इसप्रकार दण्डी की गौणवृत्ति की यह स्फुट कल्पना, ध्वनि संकल्पना का अस्फुट स्पर्श कर रही है। सम्भवतः इन्हीं तत्त्वों को देखकर आनन्दवर्धन ने कहा है—'यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथाप्यमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तं 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति, ।[२]

परवर्ती काव्यशास्त्र पर वामन का अत्यधिक प्रभाव है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर वामन ने काव्य के मूल तत्त्व के प्रति उन्मुखता दृष्टिगत की, 'ध्वनि' उसी का परिणाम है। सम्भवतः वामन के 'सौन्दर्यमलंकारः' की ही व्याख्या ध्वन्यालोककार ने इसप्रकार की है—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तयोक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्'[३]। मम्मट ने काव्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुये—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे, ।।'[४]

जो यह कहा है, यह पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के कथन का सार मात्र है। इसमें भी प्रतिभा पर विशेष बल देते हुये इन्होंने 'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः । यां विना काव्यं न प्रसरेद्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्'[५] यह कहा है, इसपर स्पष्टतः वामन के इस कथन का प्रभाव दृष्टिगत होता है—'कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम् । जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते । निष्पन्नं वा हास्याऽयतनं स्यात् ।'[६]

---

१. काव्यादर्श, १.९६.
२. ध्वन्यालोक, पृ० ८–९,
३. वही, पृ० ६.
४. काव्यप्रकाश, १·३.
५. काव्यप्रकाश, पृ० १६.
६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·३ १६ की वृत्ति,

जिस प्रकार शक्ति की व्याख्या वामन से प्रभावित है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति की व्याख्या में भी मम्मट ने प्रायः वामन को ही आधार बनाया है। वामन ने 'लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि'[१] का निर्देश करके इसकी व्याख्या इसप्रकार की है—'लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावरजङ्गमात्मा।[२] शब्दस्मृत्यभिधानकोशाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।[3] लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्,।[४]

आचार्य मम्मट ने भी प्रायः इन्हीं तत्त्वों को निपुणता एवं अभ्यास हेतु दूसरे शब्दों में उपस्थित किया है—

'लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखङ्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकवि सम्बन्धिनाम्; आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः।'[५]

इतना ही नहीं मम्मट का काव्यलक्षण तो स्पष्टतः वामन से प्रभावित है। वामन ने 'काव्यंग्राह्यलंकारात्' की उद्घोषणा करके, काव्य की ग्राह्यता गुणालंकार के उपादान तथा दोष हान के द्वारा स्वीकृत की है—

"स च दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्।"[६]

मम्मट का 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि'[७] अन्ततः इसी का तो परिष्कृत रूप है जिसमें मम्मट 'अनलंकृतीपुनः क्वापि'—कहकर भी अलंकारों के मोह त्याग का संवरण नहीं कर सके हैं।—'क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारो क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।'[८]

आधुनिक आलोचनाशास्त्र में नाटच एवं काव्य रूप दो शास्त्र पृथक्-पृथक् नहीं माने जाते, अपितु नाटच को भी काव्य की एक विधा स्वीकार कर लिया गया है। इस दृष्टि का मूल वामन में देखा जा सकता है। वामन ने सर्गबन्धादि समस्त काव्यभेदों को दशरूपक का ही विलास स्वीकार किया है—'ततो दशरूपकादन्येषां

---

१. वही, १·३·१.
२. वही, १·३·२.
३. वही, १·३·३.
४. वही, १·३·११.
५. काव्यप्रकाश, १·३ की वृत्ति.
६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·१·३.
७. काव्यप्रकाश, सू० १,
८. वही, पृ० १९,

भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति ।'[१] यह दृष्टि नाट्य और काव्य के अभेदोन्मुखता को ही इंगित करती है । 'सौन्दर्यमलंकारः' के द्वारा वामन ने काव्य के जिस व्यापक तत्त्व का निर्देश किया है, उसे ही मम्मट ने प्रकारान्तर से इसप्रकार कहा है—'किञ्च वैचित्र्यमलंकारः' इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः ।'[२]

अलंकारशास्त्र में वामन का गुणालंकार विवेक अपूर्व देन है । वामन की गुण विवेचना का सबसे बड़ा दोष गुणों का रीति से अभेद स्थापन है तथा परम्परया गुणों को शब्दार्थ निष्ठ धर्म स्वीकार करना है । वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है और गुण का उससे अभेद स्थापित किया । परवर्ती काल में इसमें थोड़ा परिष्कार हुआ । गुण तो आत्मनिष्ठ धर्म ही रहा, लेकिन आत्मा का स्थान रस ने ले लिया ।[३] रीति गुणों के आश्रित मानी जाने लगी । गुणालंकार विवेक तो पूर्णतः वामन का स्वीकार कर लिया गया ।[४] वामन के योगदान को आनन्दवर्धन ने भी 'अस्फुटस्फुरितं'[५] कहकर स्वीकार किया है । अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वामन के काव्य सिद्धान्त को अलंकारशास्त्र में मूर्धाभिषिक्त रूप प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु वे अन्तिक चरण को तो स्पर्श कर ही रहे थे ।

उद्भट का एक ही ग्रंथ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' उपलब्ध है, जिसमें इन्होंने ४१ अलंकारों का वर्णन किया है । इसमें कुछ अलंकारों को छोड़कर अधिकांश अलंकार भामह सम्मत ही हैं तथा पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यहेतु तथा काव्य दृष्टान्त इनके स्व भावित अलंकार हैं । किन्तु इस अलंकार वर्णन प्रसंग में ही उद्भट ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर इंगित किया है, जिनका प्रभाव परवर्ती आलंकारिकों पर पड़ा है ।

मम्मट का श्लेष अलंकारवर्णन उद्भट से अत्यधिक प्रभावित है । उद्भट ने सर्वप्रथम इस तथ्य की स्थापना की कि श्लेष में एक ही शब्द के दो अर्थ नहीं होते, अपितु दोनों शब्दों के समरूप होने के कारण उनमें एकरूपता का भ्रम होता है—

एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बंधः श्लिष्टमिहोच्यते ।।

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १·३·३२ की वृत्ति.
२. काव्यप्रकाश, पृ० ४३२.
३. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।। काव्यप्रकाश; ८·६६.
४. गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ति माधुर्यादीन व्यनक्ति सा । रसान् । ध्वन्यालोक, पृ० १६९.
५. ध्वन्यालोक, ३·४७.

अलंकारान्तर्गतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम् ॥[1]

ठीक इसी बात को मम्मट ने कहा है—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ॥
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ।[2]

उद्भट की मान्यता है कि जहाँ श्लेष अलंकार की सत्ता होगी, वहाँ अन्य अलंकार अवश्य होगा, अतः श्लेष और अलंकारान्तर की सहस्थिति में श्लेष को ही प्रधानता दी जानी चाहिये । क्योंकि अन्य अलंकारों की श्लेषभिन्न स्थलों में भी स्थिति होती है, जबकि श्लेष की कहीं स्वतन्त्र स्थिति नहीं है ।

इसका मम्मट ने खण्डन किया है तथा श्लेष की स्वतन्त्र सत्ता वाले स्थलों को प्रदर्शित किया है । साथ ही मम्मट का कहना है कि विरोध, व्यतिरेक आदि अलंकारों में जहाँ श्लेष हो, वहाँ वस्तुतः श्लेष ही अंग रहता है; अन्य अलंकार अंगी । अलंकारों की प्रधानता अप्रधानता का निर्धारक इन्होंने कवि प्रतिभा संरम्भ पर छोड़ दिया है । इसका विस्तृत विवेचन काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में प्राप्त होता है ।

गुणालंकार भेद के सन्दर्भ में उद्भट का मत काव्यप्रकाश में उदधृत प्राप्त होता है, जिसमें उद्भट ने काव्य में गुण तथा अलंकार दोनों की समवायवृत्त्या स्थिति स्वीकार की है ।[3] क्योंकि काव्य में लोक की भाँति अलंकारों को जब चाहे निकाला नहीं जा सकता । इसका यद्यपि मम्मट ने खण्डन किया है, किन्तु कुन्तक ने 'तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग इति'[4] के द्वारा इसको स्वीकृति प्रदान की है ।

उद्भट ने रस के 'स्वशब्दनिवेदितत्व'[5] की बात कही है, वह आनन्दवर्धन, मम्मट आदि सभी की आलोचना का विषय बना ।[6] किन्तु काव्यशास्त्र में ९ रसों की स्पष्ट सत्ता को उद्भट ने ही सर्वप्रथम स्वीकार किया है । 'निर्वेद' के सम्बन्ध में उनका मानना है कि 'निर्वेद' में भी चूँकि रसनीयता है, अतः वह भी रस माना

---

१. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·९–१०.
२. काव्यप्रकाश, ९.८४, सू० ११८,
३. वही, पृ० ३८४.
४. वक्रोक्तिजीवित, पृ० १६.
५. काव्यालंकारसारसंग्रह, ४·३,
६. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः । काव्यप्रकाश, पृ० २१७.

जाना चाहिये।[1] इन्होंने रस की स्थिति को नाट्य में स्वीकार किया है। जिसका निर्देश परवर्ती काल में मम्मट ने भी लगभग इसी प्रकार किया है—'निर्वेद स्थायी-भावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः, ।[2] इतना ही नहीं रसाभास एवं भावाभास आदि की प्रेरणा भी ध्वनिवादियों को उद्भट से प्राप्त हुई है। उद्भट ने रस एवं भाव की अनौचित्य प्रवृत्ति को 'उर्जस्वि' के नाम से अभिहित किया है,[3] जो परवर्ती काल में रसाभास एवं भावाभास के नाम से जाना जाने लगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उद्भट का परवर्ती काव्यशास्त्र पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

ध्वनिपूर्ववर्ती आलंकारिकों में रुद्रट का परवर्ती अलंकारशास्त्रियों पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। रुद्रट ने काव्यप्रयोजनों के वर्णन में कीर्ति, प्रीति तथा व्युत्पत्ति के साथ अर्थ प्राप्ति तथा अनर्थोपशम की भी बात कही है जो कि तत्काल मम्मट के 'काव्यं यशसेऽर्थकृते'[4] का स्मरण कराता है। यह दूसरी बात है कि इन प्रयोजनों का निर्देश रुद्रट ने एक ही कारिका में न कर विस्तृत रूप से सात-आठ कारिकाओं में किया है।[5]

मम्मट ने जिस शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के समुदित रूप से ग्रहण की बात कही है,[6] उसका स्पष्ट संकेत रुद्रट में है। रुद्रट ने भी—'त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः'[7] के द्वारा तीनों को समुदित रूप से काव्य हेतु माना है।

रुद्रट के रीति वर्णन का भी परवर्ती आलंकारिकों पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। रुद्रट ने वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटीया इन चार रीतियों की सत्ता स्वीकार की है—

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।[8]

---

१. रसनाद्रसत्वमेषांमधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकाममस्तीति तेपि रसाः ॥पृ० ३५५.

२. काव्यप्रकाश, सू० ४७,

३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बंध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ ४·५,

४. काव्यप्रकाश, १·२.

५. काव्यालंकार, १·४ से १२.

६. तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः। पृ० १७

७. काव्यालंकार, १·१४.

८. वही, २·४.

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ।।[1]

ठीक इन्हीं रीतियों को आचार्य विश्वनाथ ने स्वीकार किया है—

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।।[2]

रुद्रट ने इन रीतियों का निर्धारण समास के आधार पर किया है। वैदर्भी असमासवती रीति है तथा पाञ्चाली, लाटीया और गौडी—

लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ।।[3]

क्रमशः स्वल्प, मध्यम तथा प्रचुर समासयुक्त होती हैं।

आनन्दवर्धन ने भी रीतियों का निर्धारण समास के आधार पर किया है—

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।[4]

ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने रीति का सम्बन्ध रस से स्थापित किया है।[5] आनन्दवर्धन ने भी संघटना को रसाभिव्यञ्जिका माना है—

"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा
रसान्, ।[6]

इन रीतियों के अतिरिक्त रुद्रट ने पाँच अनुप्रास वृत्तियों–मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता, भद्रा–का निर्देश किया है। इन वृत्तियों के सन्दर्भ में रुद्रट का कथन है कि अर्थगत औचित्य को ध्यान में रखकर इनका निरूपण करना चाहिये, किसी एक ही वृत्ति का आद्यन्त निर्वाह नहीं करना चाहिये; अपितु पुनः पुनः ग्रहण एवं त्याग अधिक चमत्कारावह होता है—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ।।[7]

ठीक इसी बात को आनन्दवर्धन ने अलंकारों के संदर्भ में दोहराया है—

---

१. वही, २·६.
२. साहित्यदर्पण, ९·१.
३. काव्यालंकार, २·४.
४. ध्वन्यालोक, ३.५.
५. काव्यालंकार, १५·२०.
६. ध्वन्यालोक, ६३ पृ० १६९.
७. काव्यालंकार, २·३२.

काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्बहंणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥[1]

ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट पहले आचार्य हैं, जिन्होंने रस के महत्त्व को विस्तृत रूप में स्थापित किया है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे
लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥[2]

क्योंकि सहृदय नीरस काव्य में प्रवृत्त नहीं होता है। रसपेशल काव्य किसी सन्देश को झटिति मानसपटल पर अंकित कर देता है। इसके अभाव में शास्त्रों के समान, काव्यों से भी उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। यही मम्मट का 'कान्तासम्मित' उपदेश है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने रस भावादि का विवेचन रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत—अलंकार प्रकरण में ही किया है। किन्तु रुद्रट ने रस को 'श्रोतृणां फलं'[3] के रूप में अलग अध्याय में निरूपित किया है। इस सन्दर्भ में टीकाकार नमिसाधु का कहना है—'अथालंकारमध्य एव रसा अपि किं नोक्ताः। उच्यते—काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः।'[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि रुद्रट ने रस को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया है। किन्तु फिर भी रुद्रट अलंकारवादी आचार्य ही माने जाते हैं क्योंकि रस सौन्दर्य का सन्निवेश भी अलंकारविधा में करते हैं—'सारं समाहितमनाः परमाददानः'[5] 'सार' की व्याख्या में नमिसाधु ने कहा है—'परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्।'[6] इसके अतिरिक्त अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' रखकर, अलंकारों का विस्तृत एवं वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष रूप वर्गीकरण प्रस्तुत करके—अलंकारों के प्रति ही अपना संरम्भ व्यक्त किया है।

१. ध्वन्यालोक, २.१८–१९.
२. काव्यालंकार, १२.१-२.
३. काव्यालंकर, पृ० ३७२.
४. काव्यालंकार, नमिसाधु टीका, पृ० ३७३.
५. वही, ११.३६.
६. काव्यालंकार, नमिसाधु टीका, पृ० ३७०.

रुद्रट औचित्य के प्रति अत्यधिक सजग हैं। यमक का विस्तृत निरूपण करके भी, उसके उचित सन्निवेश की वे बात कहते हैं।[1]

भामह ने सन्निवेश के वैशिष्टच से दोषों के भी गुणों में परिवर्तित हो जाने की बात कही है, जैसे कि नायिका के आँखों में लगा अञ्जन—

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।[2]
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥[3]

भामह के इसी दोष के गुण रूप में परिवर्तन को भोज ने 'वैशेषिक गुण' के नाम से अभिहित किया है—

"वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।"[4]

इसी बात को रुद्रट ने भी कहा है—

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥[5]

अर्थात् ग्राम्य होने पर भी कोई पद कहीं-कहीं विशिष्ट अर्थ के कारण अथवा विभक्ति के कारण अनौचित्य को त्याग देता है। यथा पुनरुक्ति तो दोष है किन्तु वह भी कभी-कभी गुणरूप में बदल जाती है—

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निंदन्।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय॥[6]

वस्तुतः रुद्रट के अनुसार दोषों के दोषत्व का कारण अनौचित्य ही है। इसीलिये ग्राम्यत्व दोष के प्रसंग में वे कहते हैं—

"ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देषकुलजातिविद्यावित्तवयः स्थानपात्रेषु ॥[7]

रुद्रट के इस औचित्य तत्त्व का स्पष्ट विकास आनन्दवर्धन की इस कारिका में देखा जा सकता है—

---

१. काव्यालंकार, ३·५९.
२. वही, १·५४.
३. वही, १·५५.
४. सरस्वतीकण्ठाभरण, १·६१.
५. काव्यालंकार, ६·२३.
६. वही, ६·२९.
७. वही, ११·९.

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[१]

विरस दोष के वर्णन के प्रसंग में रुद्रट ने यह इंगित किया है कि एक रस के वर्णन के प्रसंग में दूसरे रस का आविर्भाव या विस्तार 'विरसता' उत्पन्न करता है—

अन्यस्य यः प्रसंगे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः ।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥[२]

प्रबन्ध व्यञ्जकता के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने भी ठीक यही बात कही है—

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥[३]

मम्मट ने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में दोषों का विस्तृत विवेचन किया है। मम्मट के वर्णन में क्रमिकता एवं सुसम्बद्धता का दर्शन किया जा सकता है, किन्तु उसे नितान्त मौलिक नहीं कहा जा सकता है । ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने अनेकानेक उन दोषों की ओर इंगित किया है, जिनका वर्णन ध्वनिवादी आचार्यों में मिलता है । यथा भामह के—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढ़शब्दाभिधान[४], श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट,[५], ससंशय, यतिभ्रष्ट, विसन्धि, अपक्रम, लोक विरोधी[६] आदि दोष मम्मट में दृष्टिगत होते हैं ।

दण्डी के अधिकांश दोष भामह से प्रभावित हैं । इन्होंने भी ससंशय; शब्दहीन; यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधि, देश-काल-कला लोकागमादि विरोध रूप दोषों की चर्चा की है, जिनका परवर्ती आलंकारिकों पर प्रभाव पड़ा है । शिष्ट प्रयोग पर दण्डी ने अत्यधिक बल दिया है, क्योंकि उनके अनुसार काव्य में विरसता ग्राम्यत्व के कारण ही आती है ।[७]

वामन की दोष विषयक अवधारणा का मम्मट पर अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है । वामन ने द्वितीय अधिकरण में श्रुतिकटु, ग्राम्य, अप्रतीत तथा अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढ़ार्थ, अश्लीलार्थ एवं क्लिष्टार्थ रूप पदार्थ दोषों का वर्णन किया है । अश्लील भी

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० १९०.
२. काव्यालंकार, ११·१२,
३. ध्वन्यालोक, ३·१३.
४. काव्यालंकार (भामह), १·३७
५. वही, १·४७.
६. वही, ४.२४-३६.
७. काव्यादर्श, १·६२.

व्रीडा, जुगुप्सा, अमंगलातंकादि के भेद से तीन प्रकार का होता है। वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने दोषों का विभाग पद दोष, वाक्य दोषादि के आधार पर किया है, जिनका स्पष्ट प्रभाव मम्मट पर लक्षित होता है। वाक्य दोषों में वामन ने भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट, विसन्धि, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, लोक विरुद्ध, विद्या विरुद्ध आदि का निर्देश किया है—जो मम्मटादि में दृष्टिगत होते हैं।

रुद्रट दोष वर्णन के प्रसंग में वामन से एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इन्होंने पद एवं वाक्य दोषों का विवेचन तो किया ही है, इसके अतिरिक्त इनके शब्दगत एवं अर्थगत भेद भी निरूपित किये हैं—जिसका निर्देश परवर्ती काल में हुआ है। रुद्रट ने छठे अध्याय में शब्द दोषों का तथा ११ वें अध्याय में अर्थ दोषों का निरूपण किया है। अप्रतीत, ग्राम्य, पुनरुक्त, असंगति, निरागम, वैषम्य आदि दोषों के अतिरिक्त रुद्रट का महत्त्वपूर्ण विवेचन 'विरस' दोष है। रस दोषों का विस्तृत विवेचन न कर उस दिशा की ओर प्रवृत्ति तो दर्शित ही कर दी।

उपर्युक्त दोषों की परम्परा मम्मट में देखी जा सकती है—

'दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहितार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव॥[1]

इसके अतिरिक्त विसंधि, हतवृत्तता, अक्रमता, न्यूनपदता,[2] अपुष्ट, पुनरुक्त, ग्राम्य, संदिग्ध, प्रसिद्धि विरुद्ध,[3] विद्या विरुद्ध, अश्लील आदि प्रमुख दोष हैं[4]—जिनकी परम्परा पूर्ववर्ती काल से चली आ रही है।

अलंकारवर्णन के प्रसंग में हमने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से दर्शित किया है कि ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकार किसप्रकार यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ ध्वनिवादियों के द्वारा स्वीकार कर लिये गये। अनेकानेक अलंकारों के लक्षण में अत्यन्त समानता है। भामह के आक्षेप, विभावना और भाविक के लक्षण का काव्यप्रकाशकार के लक्षण पर स्पष्ट प्रभाव है जिसको तुलनात्मक ढंग से प्रथम अध्याय में हमने दिखाया है। इसी प्रकार स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, अर्थान्तरन्यास, अति-

---

१. काव्यप्रकाश, ७·५०-५१.
२. वही, ७·५३.
३. वही, ७·५४.
४. वही, ७·५५–५६.

शयोक्ति, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, पर्यायोक्त, उदात्त, अपह्नुति, विरोध, चित्र आदि अनेकानेक दण्डी के अलंकार लक्षणों की छाप काव्यप्रकाश में देखी जा सकती है। रुद्रट के अलंकार वर्णन का तो काव्यप्रकाशकार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। मम्मट ने रुद्रट के २४ अलंकारों को स्वीकार कर लिया है। अनेकानेक उदाहरणों में भी साम्य है। शब्दश्लेष तो हूबहू मम्मट का रुद्रट जैसा ही है जिसका वर्णन अलंकारों के स्वरूप विकास में किया गया है। मम्मट ने रुद्रट के वक्रोक्ति, श्लेष, समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, मीलित, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, स्मरण, विशेष, तद्गुण, व्याघात, अधिक आदि अलंकारों को यथावत् यत्किञ्चित् शब्द परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है।

अलंकारों के विभाजन के आधार की पृष्ठभूमि भी ध्वनिपूर्ववर्ती काल में ही विकसित हुई। भामह ने अतिशयोक्ति को सर्वालंकारमूला माना, वामन ने उपमा को तथा रुद्रट ने इसे और वैज्ञानिक स्वरूप देकर समस्त अलंकारों को चार वर्ग—वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष में विभक्त किया। वामन ने उपमा के लौकिक और कल्पित रूप दो भेदों को दिखाकर अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उपमा तो सभी कल्पित ही होती है, किन्तु वही प्रचलन में आकर लोकभाषा में घुलमिल जाती है तो लौकिक उपमा कहलाती है तथा जब उपमान का प्रयोग सहृदय को विस्मित करने के लिये किया जाता है तो वह कल्पित उपमा कहलाती है। कवि को अधिकतर लोक प्रचलित उपमानों का ही प्रयोग करना चाहिये, जिससे उसका काव्य कष्ट कल्पना का शिकार नहीं बन पाता। इसप्रकार परवर्तीकाल में समस्त अलंकारों को अलग-अलग वर्गों में रखने की परम्परा का स्रोत—ध्वनिपूर्ववर्ती काल ही है।

'ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन' तथा 'ध्वनिसम्प्रदाय में ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों की परम्परा' के अनुशीलन से यह तथ्य तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ध्वनिपूर्ववर्ती सिद्धान्त नगण्य नहीं हैं। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र इन्हीं पर आधारित है। इसीलिये 'ध्वनि पूर्ववर्ती' काल को ऐतिहासिक दृष्टि से 'रचना काल' कहा जाता है। इस काल में शब्दार्थ, अलंकार, गुण, रस आदि समस्त तत्त्वों का विवेचन हो चुका था। इनमें प्राधान्याप्राधान्य का निर्णय न हो सका था, जिसकी पूर्ति ध्वनिकार ने की। इसी से ९ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक का समय 'निर्णय काल' माना जाता है, जिसमें अलंकार्य-अलंकार भाव का निर्धारण हुआ। अतः स्पष्ट है कि इस 'निर्णय' के लिये 'रचना' का होना आवश्यक था। इस दृष्टि से ध्वनिपूर्ववर्ती सम्प्रदायों का महत्त्व असंदिग्ध है। इसीलिये तो अभिनवगुप्त का कथन है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि
मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु
मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ।।[1]

अतः स्पष्ट है कि परम्परा और प्रगति तथा प्राचीनता और नवीनता के समन्वय से ही काव्यशास्त्र का सुष्ठु स्वरूप सम्मुख आया ।

———

१. अभिनवभारती, पृ० ६५१

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थ

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास, व्याख्याकार–श्री नवलकिशोरशास्त्री एवं श्री रामतेज पाण्डेय, चौखम्वा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२

अलंकारसर्वस्वम् : राजानक रुय्यक मङ्खक, हिन्दी भाष्यानुवादक डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९७९.

उत्तररामचरितम् : भवभूति, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५.

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र, सम्पादक डॉ० मनोहर लाल गौड़, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़.

ऋग्वेद : प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, सम्पादक श्री रामशर्मा : आचार्य, संस्कृति संस्थान, वरेली, तृतीय संस्करण, १९६५.

कठोपनिषद् : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८२.

कर्पूरमंजरी : राजशेखर, सम्पादक श्री रामकुमार आचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७०.

काव्यप्रकाशः : मम्मट, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, संवत् २०३१ वि०

काव्यप्रकाशः : मम्मट, व्याख्याकार वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकार, सम्पादक रघुनाथ दामोदर करमरकर, भण्डारकर औरियण्टल रिसर्च इन्सटीटयूट, पूना, १९६५.

काव्यमीमांसा : राजशेखर, सम्पादक—श्री सी०डी०दलाल एवं पण्डित आर०ए०शास्त्री, ओरियन्टल इन्स्टीटयूट, वड़ौदा, तृतीय संस्करण, १९३४.

काव्यमीमांसा : राजशेखर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७

काव्यादर्शः : दण्डी, व्याख्याकार पण्डित रंगाचार्य रेड्डी शास्त्री भण्डारकरओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, १९७०.

काव्यादर्शः : दण्डी, व्याख्याकार धर्मेन्द्र कुमार, मेहरचन्द्र लछमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३.

काव्यादर्शः : दण्डी, व्याख्याकार श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७२.

काव्यालंकार : भामह, सम्पादक, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६२.

काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्याकार—श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६.

काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्याकार डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६५.

काव्यालंकारकारिका : डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७७.

काव्यालंकारसारसंग्रह : उद्भट, व्याख्याकार डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६६.

काव्यालंकारसूत्र : वामन, व्याख्याकार डॉ० बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७६.

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५४.

कुमारसम्भवम् : कालिदास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७.

कुवलयानन्द : अप्पय दीक्षित, व्याख्याकार डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७६.

चन्द्रालोकः : जयदेव, अनुवादक सुबोध चन्द्र पन्त, मोतीलाल बनारसीदास, तृतीय संस्करण, १९७५.

चन्द्रालोकः : जयदेव, संस्कृत व्याख्याकार विद्यानाथ, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९२३.

चित्रमीमांसा : अप्पय दीक्षित, व्याख्याकार श्री जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९७१.

दशरूपकम् : धनञ्जय, सम्पादक डॉ० श्रीनिवास शास्त्री; : साहित्य भण्डार, मेरठ, तृतीय संस्करण, १९७६.

ध्वन्यालोकः : आनन्दवर्धन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर,

ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् २०२८ वि०

ध्वन्यालोकः : आनन्दवर्धन, व्याख्याकार चण्डिका प्रसाद शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९८०.

ध्वन्यालोकः (लोचन) : हिन्दी व्याख्याकार–आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७९.

नाट्यशास्त्र : प्रथम भाग, व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज् आफिस, वाराणसी, १९७२.

द्वितीय भाग, व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९७८.

नाट्यशास्त्र : भरत, सम्पादक पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९८०,

नाट्यशास्त्र (अभिनव–भारतीसहित) प्रभम भाग, व्याख्याकार श्री मधुसूदन शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७१.

द्वितीय भाग, व्याख्याकार श्री मधुसूदन शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७५.

निरुक्त : यास्क, संस्कृत व्याख्याकार–श्री छज्जूराम शास्त्री तथा पं० देवशर्मशास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३.

प्रतापरुद्रीयम् : विद्यानाथ, कुमारस्वामी की व्याख्यासहित, दी श्री बालमनोरमा प्रेस, मैलापुर, मद्रास, १९५०.

पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी : सम्पादक महामहोपाध्याय पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित; वाराणसी, संवत् २०१७.

वाल्मीकि रामायण : प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६०

मेघदूतम् : कालिदास, व्याख्याकार श्री शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७६.

रघुवंशम् : कालिदास, व्याख्याकार श्री हरगोविन्द मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६१

रसगंधाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, प्रथम भाग, व्याख्याकार

श्री मधुसूदन शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि० सं० २०२०.

: द्वितीय भाग, व्याख्याकार श्री मधुसूदन शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि० सं० २०२६.

रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, प्रथमानन, संस्कृत व्याख्याकार श्री बदरीनाथ झा, हिन्दी व्याख्याकार श्री मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८

: द्वितीयमाननम्, व्याख्याकार श्री मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९

: द्वितीयमाननम् (अतिशयोक्त्यलङ्कारादि समाप्ति-पर्यन्तो भागः), व्याख्याकार श्री मदन मोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८.

वक्रोक्तिजीवितम् : राजानक कुन्तक, व्याख्याकार श्री राधेश्याम मिश्र चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं० २०३७.

व्याकरणमहाभाष्य : पतञ्जलि, प्रथम खण्ड, मोतीलाल बनारसीदास; प्रथम संस्करण, १९६७.

वाक्यपदीयम् : भर्तृहरि, काण्ड, १, सम्पादक के० ए० सुब्रमनियम अय्यर, डेकेन कॉलेज; पूना, १९६६.

वाक्यपदीयम् : भर्तृहरि, सम्पादक प्रो० के० वी० अभयंकर,
: आचार्य वी० पी० लिम्मये, युनिवर्सिटी ऑफ पूना वाल्यूम २, पूना, १९६५.

विष्णुपुराण : कल्याण, नारदविष्णु पुराण अंक, गीताप्रेस; गोरखपुर, १९५४.

व्यक्तिविवेक: : महिमभट्ट, सम्पादक रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९६४.

शुक्रनीति : शुक्राचार्य, व्याख्याकार श्री पं० ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६८.

सरस्वतीकण्ठाभरणम् : भोजदेव, व्याख्याकार डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७६,

साहित्यदर्पणः : विश्वनाथ कविराज, सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिंह; १९७९.

सुभाषितावली : कश्मीरी कवि श्री वल्लभदेव द्वारा संकलित, अनुवादक रामचन्द्र मालवीय, आनन्दबन्धु, वाराणसी; सन् १९७४.

हर्षचरित : बाणभट्ट, व्याख्याकार पं० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९७८.

हिन्दी ग्रन्थ

अभिनव का रस विवेचन : नगीनदास पारेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७४.

अलंकार मीमांसा : डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६५.

अलंकारों का ऐतिहासिक विकास : डॉ० राजवंश सहाय 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, १९७४.

अलंकारशास्त्र का इतिहास : डॉ० कृष्णकुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ, प्रथम संस्करण, ११७५.

अलंकारों का क्रमिक विकास : श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६७.

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति : सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७३;

अलंकारों का स्वरूप विकास : डॉ० ओमप्रकाश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३.

आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन : डॉ० जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन; इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७३.

आचार्य भरत : डॉ० शिवशरण शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९७१.

आनन्दवर्धन : डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९७२.

काव्यांगप्रक्रिया : डॉ० शंकरदेव अवतरे, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७७,

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन : डॉ० शोभाकान्त मिश्र; बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, १९७२

काव्य दोषों का उद्भव और विकास : डॉ० वमशम्भुदत्त झा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण, १९७६.

काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्व : शिव बालक राय, वसुमती, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण, १९६८.

काव्यात्म मीमांसा : डॉ० जयमन्त मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४.

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : डॉ० भोलाशंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा; काशी, प्रथम संस्करण, सं० २०१३.

ध्वनि सम्प्रदाय का विकास : डॉ० शिवनाथ पाण्डेय, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१.

ध्वनि सिद्धान्त : सम्पादक डॉ० राममूर्ति शर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८०.

ध्वनि सिद्धान्त और व्यञ्जना वृत्ति विवेचन : डॉ० गया प्रसाद उपाध्याय, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण, १९७०.

ध्वनि सिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यतायें : डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७२

प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन : सिद्धेश्वर वर्मा, हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, १९७३.

भरत और भारतीय नाटचकला : सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७०.

भारतीय अर्थ विज्ञान : हरिसिंह सेंगर, दि मेकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८

भारतीय काव्यशास्त्र : डॉ० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४.

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तीसरा संस्करण, १९७६.

भारतीय काव्यशास्त्र नई व्याख्या : राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९७४.

भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त : डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, दि मेकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, १९८०,

भारतीय काव्य समीक्षा में : बच्चूलाल अवस्थी, 'ज्ञान', दि मेकमिलन कम्पनी

ध्वनि सिद्धान्त — ऑफ इण्डिया लिमिटेड; दिल्ली, १९७८,

भारतीय साहित्यशास्त्र : गणेश त्र्यम्वक देशपाण्डे, पापुलर बुक डिपो, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९६०.

भारतीय साहित्यशास्त्र — पं० बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, १९६३.

भारतीय साहित्यशास्त्र : पं० बलदेव उपाध्याय, दूसरा भाग, प्रसाद परिषद् : काशी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०१२

भारतीस साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, भाग १ : भोलाशंकर व्यास, चौखम्वा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५.

रसप्रक्रिया : डॉ० शंकर देव अवतरे, दी मेकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम सं० १९७५

रससिद्धान्त : डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९८०.

रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र : निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७७.

रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष : ब्रजमोहन चतुर्वेदी, अजन्ता पब्लिकेशन्स (इंडिया) दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८.

रससिद्धान्त की प्रमुख समस्यायें : डॉ० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३.

रीति विज्ञान, सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम : विद्यानिवास मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७३.

वैदिक साहित्य और संस्कृति : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान, वाराणसी, १९८०.

शैली विज्ञान : डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९८०.

शैली विज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका : रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, १९७२.

शैली विज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र : डॉ० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८०

स्फोट दर्शन : पण्डित रंगनाथ पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, संवत् २०००

समीक्षाशास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।

समीक्षाशास्त्र : कृष्णलाल हंस, ग्रन्थम्, कानपुर, प्रथम संस्करण १९७५.

संस्कृत आलोचना : पं० बलदेव उपाध्याय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण, १९६३

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास: भाग १ एवं २ डॉ० सुशील कुमार डे, अनुवादक मायाराम शर्मा, प्रथम संस्करण, १९७३.

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : म०म०पी०वी०काणे,अनु० इन्द्रचन्द्र जोशी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६

संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव: डॉ० अमरजीत कौर, भारतीय विद्या प्रकाशन; दिल्ली, १९७९.

संस्कृत व्याकरण दर्शन : डॉ० राम सुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२.

संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास : ब्रह्मानन्द शर्मा, अजमेर, १९६४.

संस्कृत साहित्य और सौन्दर्य चेतना : सम्पादक डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८०.

साहित्यशास्त्र : डॉ० मुंशी राम शर्मा, श्री भारतभारती प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, संवत् २०१९.

अंग्रेजी ग्रन्थ

A. Sankaran : The Theories of Rasa and Dhvani, University of Madras, Madras, Second Edition, 1973.

D. K. Gupta : A Critical Study of Dandin and his Works, Meharchand Lachmandas, Delhi, First Edition, 1970.

G. Vijayvardhana : Outlines of Sanskrit Poetics, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, First Edition, 1970.

Kalipada Giri : Concept of Poetry an Indian Approach;

Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, First Edition, 1975.

K. Krishnamoorthy : Essays in Sanskrit Criticism, Karantak University, Dharwar, 1964.

K. Kunjunni Raja : Indian Theories of Meaning, The Adyar Library and Research Centre, 1963.

M. Hiriyanna : Art Experience, Kavyalaya Publishers Mysore, 1978.

P. C. Lahiri Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi, 1974.

Ramaranjan Mukherji, : Literary Criticism in Ancient India, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, First Edition, 1966.

R. C. Dwivedi (ed.) : Principles of Literary Criticism in Sanskrit, Motilal Banarasidass, Varanasi, 1969.

R. Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, Second Edition, 1968.

Satyadev Choudhary : Essays on Indian Poetics, Vasudev Prakashan Delhi, First Edition, 1965.

Sivaprasad Bhattacharyya : Studies in Indian Poetics, Indian Studies, Past and Present, Calcutta, First edition, 1964.

S. K. De : History of Sanskrit Poetics, Vol. I and II, Firma KLM Private Limited, Calcutta, 1976.

S. K. De : Some Problems of Sanskrit Poetics, Firma KLM Private Limited, Calcutta, First edition, 1959.

S. Kuppuswami Sastri : Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit, The Kuppuswami Sastri Research Institute, Madras, 1945.

V. Raghvan, and Nagendra (ed.) : An Introduction to Indian Poetics, Macmillan and Company Limited, Madras, 1970.

V. Raghavan : Bhoja's SRNgara Prakasa, Punarvasu, Sri Krishnapuram Street, Madras, 1963.

V. Raghavan : Studies on Some Concepts of the Alamkara Sastra, The Adyar Library and Research Centre, Madras, 1978.

JOURNALS

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
Journal of the Ganganath Jha Institute.
Journal of Oriental Research Madras.
Journal of the Royal Asiatic Society.
Journal of Oriental Institute, Baroda.

अनुक्रमणिका

शुद्धिपत्र

अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	पंक्ति	पृष्ठ
तथा	तया	११	९
संख्या	परिगणना	५	११
वागनिष्ठरा	वागनिष्ठुरा	१३	२५
प्रयः	प्रेयः	१६	३९
घ्वनिसञ्ज्ञितः	घ्वनिसंज्ञित	२०	४४
प्रत्यया	प्रत्ययो	१७	४८
अनुबद्धामवज्ञानं	अनुबिद्धमिवज्ञानं	१७	४८
सवं	सर्वं	१८	४८
व्यञ्ज रुव	व्यञ्जकत्व	१४	५०
घ्वनि	ध्वनि	१७	६०
की	को	१३	६३
अरिरिक्त	अतिरिक्त	२५	७१
वक्रक्ति	वक्रोक्ति	२०	९०
पृर्वे	पूर्वे	७	११४
जाना	जाता	१७	१३९
शव्दोपापत्त	शब्दोपात्त	३	१४०
रूय्यक	रुय्यक	१९	१४३
अलंकारियों	अलंकारिकों	२३	१५९
अलंकार एवं गुण सम्प्रदाय	रीति एवं गुण सम्प्रदाय	शीर्षक	२०३
"	"	,,	२०५
प्रक्त्ति	प्रकृति	१४	२०६
अलंकर एवं गुण सम्प्रदाय	रीति एवं गुण सम्प्रदाय	शीर्षक	२०९, २११, २१३, २१५, २१७, २२१, २२३.
वात	बात	२४	२०९
विशेषर्यंत्	विशेषैयंत्	१२	२१७
संयुतः	संयुतैः	१२	२१७
कीत्यते	कीर्त्यंते	१३	२१७

युक्य	युक्त	७	२२४
प्रधानना	प्रधानता	१६	२४७
कोर्ति	कीर्ति	११	२५४
कौन शब्द का उपादेय	कौन सा शब्द उपादेय	४	२८३
अथनिवेशास्त	अर्थनिवेशास्त	३	२८९
आचार्यी	आचार्यों	३	२९०

लेखिका-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखिका डॉ (श्रीमती) दुबे की शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई है। इन्होंने एडमिशन से एम. ए. तक सभी परीक्षायें विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की हैं। इस अवधि में इन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योग्यता छात्रवृत्ति, यू. जी. सी. स्कालरशिप (एम. ए. में अध्ययन हेतु), काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्वर्णपदक, श्री. के. एन. पाण्डेय स्वर्ण पदक, काशीराज पदक प्राप्त हुए। शोध की अवधि में ये यू. जी. सी. रिसर्च फेलो तथा रिसर्च एसोशियेट थीं। अध्यापन काल में यू. जी. सी. ने उच्चस्तरीय शोध हेतु इनको कैरियर एवार्ड प्रदान किया था। इनके बीसों शोध निबन्ध देश की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके काव्यसमीक्षात्मक अन्य दो ग्रन्थ प्रकाशनार्थ तैयार हैं।

Opinion

The book is well planned and well written. Scholars are aware that the field of research in poetics before Ãnand vardhan is quite virgin. As such the results of investigation are indeed important and useful. Smt. Dubey will do well to get her work published in near future. I am convinced that the book will be a worthy contribution to the literature of Sanskrit poetics.

Gaurinath Sast
Vice-chancell
Sampurnànand Sanskrit Universi
Varanasi 12.9.8

यह एक प्रौढ़ रचना है जिसे लेखिका ने व्युत्पन्न ज्ञानचक्षु से काव्य की आ को परखकर निष्पन्न किया है। विभा रानी ने ध्वनि की पूर्ववर्ती सा साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का मंथन किया है। उस मंथन से निकला नवनीत प्रबन्ध की आत्मा बनकर सामने आया है। मैं विभा रानी को बधाई देता हूँ। विभा रानी का प्रबन्ध आर्द्र (Fresh) है, भावपूर्ण है, आन्तरिक तत्त्व से सराबोर है।

प्रो. डॉ. सूर्यकान्त शास्त्री
19-5-82

भारतीय विद्या प्रकाशन
1 यू. बी. जवाहर नगर बैंग्लो रोड दिल्ली-110007
फोन-2521570
पो. बा. न. 1108 कचौड़ी गली वाराणसी-221001
फोन-3223766